श्री सहजानन्द शास्त्रमाला के संरक्षक महानुभाव—

(१) श्रीमान् ला० महावीर प्रसाद जी जैन, बैंकर्स, सदर मेरठ, संरक्षक, अध्यक्ष एवं प्रधान ट्रस्टी

(२) श्रीमती सौ० फूलमाला देवी, धर्मपत्नी श्री ला० महावीर प्रसाद जी जैन बैंकर्स, सदर मेरठ, संरक्षिका

श्री सहजानन्द शास्त्रमाला के प्रवर्तक महानुभाव—

१	,,	श्रीमान् लाला लालचन्द जी जैन सर्राफ	सहारनपुर
२	,,	सेठ भवरीलाल जी जैन पाण्डया	झूमरीतिलैया
३	,,	कृष्णचन्द जी रईस	देहरादून
४	,,	सेठ जगन्नाथ जी जैन पाण्डया	झूमरीतिलैया
५	,,	श्रीमती सोवती देवी जैन	गिरीडीह
६	,,	मित्रसैन नाहरसिंह जी जैन	मुजफ्फरनगर
७	,,	प्रेमचन्द ओमप्रकाश जी जैन प्रेमपुरी	मेरठ
८	,,	सलेकचन्द लालचन्द जी जैन	मुजफ्फरनगर
९	,,	दीपचन्द जी जैन रईस	देहरादून
१०	,,	बारूमल प्रेमचन्द जी जैन	मसूरी
११	,,	बाबूराम मुरारीलाल जी जैन	ज्वालापुर
१२	,,	केवलराम उग्रसैन जी जैन	जगाधरी
१३	,,	गेंदामल दगडू शाह जी जैन	मनावद
१४	,,	मुकुन्दलाल गुलशनराय जी जैन नई मण्डी	मुजफ्फरनगर
१५	,,	श्रीमती धर्मपत्नी बा० कैलाशचन्द जी जैन	देहरादून
१६	,,	जयकुमार वीरसैन जी जैन सर्राफ	सदर मेरठ
१७	,,	मन्त्री दिगम्बर जैन समाज	खण्डवा
१८	,,	बाबूराम अकलङ्कप्रसाद जी जैन	तिस्सा
१९	,,	विशालचन्द जी जैन रईस	सहारनपुर
२०	,,	हरीचन्द-ज्योति-प्रसाद-जी जैन ओवरसियर	इटावा
२१	,,	सौ० प्रेम देवीशाह सु० बा० फतहलाल जी जैन सघी	जयपुर
२२	,,	मन्त्राणी दिगम्बर जैन महिला समाज	खण्डवा
२३	,,	सागरमल जी जैन पाण्डया	गिरीडीह
२४	,,	गिरधारीलाल चिरञ्जीलाल जी जैन	गिरीडीह
२५	,,	राधेलाल कालूराम जी जैन मोदी	गिरीडीह
२६	,,	फूलचन्द बैजनाथ जी जैन नई मण्डी	मुजफ्फरनगर
२७	,,	सुखबीरसिंह हेमचन्द जी जैन सर्राफ	बडौत
२८	,,	गोकुलचन्द हरकचन्द जी जैन गोधा	लालगोला
२९	,,	दीपचन्द जी जैन सुपरिन्टेन्डेण्ट इञ्जीनियर	कानपुर
३०	,,	मन्त्री दि० जैन समाज नाई की मण्डी	आगरा

३१	श्रीमान	लाल सवालिका दि० जैन महिला मण्डल नमककी मण्डी	आगरा
३२	,,	नेमिचन्द जी जैन रुडकी प्रेस	रुडकी
३३	,,	झव्वनलाल शिवप्रशाद जी जैन चिलकाना वाले	सहारनपुर
३४	,,	रोशनलाल के० सी० जैन	सहारनपुर
३५	,,	मोल्हडमल श्रीपाल जी जैन जैन वेस्ट	सहारनपुर
३६	,,	शीतलप्रशाद जी जैन	सदर मेरठ
३७	,,	बनवारीलाल निरञ्जनलाल जी जैन	शिमला
	,,	* जीतमलइद्रकुमार जी जन छावडा	झूमरीतिलैया
३८	,,	* इन्द्रजीत जी जैन वकील स्वरूप नगर	कानपुर
४०	,,	* मोहनलाल ताराचन्द जी जैन वडजात्या	जयपुर
४१	,,	* दयाराम जी जैन आर ए डी ओ.	सदर मेरठ
४२	,,	* मुन्नालाल यादवराम जी जैन	सदर मेरठ
४३	,,	+ जिनेश्वरप्रसाद अभिनन्दनकुमार जी जैन	सदर मेरठ
४४	,,	+ जिनेश्वरलाल श्रीपाल जी जैन	शिमला

नोट—जिन नामोके पहिले *ऐसा चिन्ह लगा है उन महानुभावोकी स्वीकृत सदस्यताके कुछ रुपये आये हैं, शेष आने है। तथा जिनके पहिले +ऐसा चिन्ह लगा है उनकी स्वीकृत सदस्यताका रुपया अभी तक कुछ नही आया सभी बाकी है।

आमुख

तत्त्वार्थसूत्र (मोक्षशास्त्र) की गन्धहस्तिमहाभाष्य नामक टीका करनेके प्रारम्भमे मोक्षमार्गके नेता आप्तको वदन करनेके प्रसङ्गकी व्याख्यामे सर्वप्रथम श्री तार्किकशिरोमणि समन्तभद्राचार्यने ये आप्त सर्वज्ञ ही क्यो वदन करनेके योग्य है, इस पर मीमांसा (सयुक्तिकविचारणा) की। किसीके पास देव आते हैं, कोई आकाशमे चलते हैं, किसीपर चमर ढुलते है, इन कारणोसे वे आप्त नही हैं, पूज्य नही हैं। ये वातें तो मायावी पुरुषोमे भी सभव हो सकती हैं। ससारी देवोमे सभव होनेसे दिव्य शरीर भी पूज्यत्वका हेतु नहीं है। तीर्थप्रवृत्ति भी अनेकोने की है, उनमे परस्पर विरोध भी है अत तीर्थप्रवचन सवकी आप्तताका हेतु नही वन सकता, किन्तु जिसके परस्पर विरुद्ध वचन नही हो, युक्तिशास्त्रसे अविरुद्ध वचन हो, प्रमाणसे प्रसिद्ध व अवाधित वचन हो वही निर्दोष हो सकता है। इस चर्चापर वस्तुस्वरूपके अभिमतपर पाण्डित्यपूर्ण सयुक्तिक विचार किया गया है। जैसे किन्ही दार्शनिकोंका सिद्धान्त है कि तत्त्व एकान्तत भावस्वरूप है किसी भी प्रकार अभावस्वरूप नहीं है। इस सम्वन्धमे सक्षिप्तरूपमे यह जानकारी दी है कि यदि कोई पदार्थ सर्वथा भावरूप है तो कोई भी पदार्थ सर्व पदार्थोंके सद्भावरूप हो जायगा तब द्रव्य क्षेत्र कालभावकी कुछ भी व्यवस्था नहीं हो सकती। भावैकान्तको अनेक विधियोसे अनेक दोष दूषित दर्शाया है। किन्ही दार्शनिकोका अभिमत है, किन्ही दार्शनिकोका मन्तव्य है कि तत्त्व अभावरूप ही है इस

विषयमे बताया गया है कि पदार्थ यदि अभावैकान्तमय है तो ज्ञान, वाक्य प्रमाण आदि कुछ भी न रहा फिर सिद्ध ही क्या किया जा सकेगा ? यों पदार्थ न केवल भाव स्वरूप ही है और न केवल अभावस्वरूप ही है किन्तु प्रत्येक पदार्थ स्व द्रव्य क्षेत्रकाल भाव भावस्वरूप है और पर द्रव्य क्षेत्रकाल भावमे अभावस्वरूप है। तथा दोनो स्वरूपोको एक साथ कहा जाना अशक्य होनेसे अवक्तव्यस्वरूप है। यो तीन स्वतन्त्र धर्म सिद्ध होनेपर इनके द्विसयोगी तीन भङ्ग और त्रिसयोगी एक भङ्ग और सिद्ध होता है। यो सप्तभङ्गोमे भावस्वरूप व अभावस्वरूपका वर्णन करके सम्यक प्रकाश दिया है।

पूर्वोक्त स्याद्वाद विधिसे निम्नाङ्कित इन नव विषयोंके सम्बन्धमे भी यथार्थ प्रकाश दिया गया है (१) पदार्थ एक है या अनेक हैं, (२) वस्तु अद्वैतरूप है या द्वैत रूप अर्थात् एकान्त सभी ज्ञेय सर्वथा पृथक पृथक हैं, (३) वस्तु नित्य है या अनित्य, (४) वस्तु वक्तव्य है या अवक्तव्य, (५) कार्य कारणमे, गुण गुणीमे, सामान्य सामान्यवान्मे भिन्नता है या अभिन्नता है, (६) धर्म धर्मीकी सिद्धि आपेक्षिक है या अनापेक्षिक है, (७) क्या हेतुसे ही सब कुछ सिद्ध होता है या आगमसे ही सब कुछ सिद्ध होता है (८) क्या प्रतिभासमात्र अन्तरङ्ग अर्थ ही है या बहिरङ्ग प्रमेय पदार्थ ही हैं, (९) क्या भाग्यसे ही अर्थसिद्धि है या पुरुषार्थसे ही अर्थसिद्धि है (१०) क्या अन्य प्राणियोमे दु खके उत्पादसे पाप बँधता है, (११) क्या अन्य प्राणियोमे सुखका उत्पाद होनेसे पुण्य बधता है, (१२) क्या स्वयके क्लेशसे पुण्य बँधता है ? (१३) क्या स्वयके सुखसे पाप बँधता है, (१४) क्या अज्ञानमे याने ज्ञानकी कमीमे बन्ध ही होता है, (१५) क्या अल्प ज्ञानसे मोक्ष होता है ? उक्त सभी विषयोकी सयुक्तिक मीमासा करके स्याद्वाद विधिसे सभी विषयोका यथार्थ परिचय कराया गया है, जिसका अति संक्षेपमे वर्णन किया जाय तो वह भी बहुत अधिक विवरण हो जाता है। इन सबका पाठकगण स्वय इन प्रवचनोका अध्ययन करके परिज्ञान करें। अन्तमे वस्तुस्वरूपको सिद्ध करने वाले तत्त्वज्ञानकी प्रमाणरूपता व स्याद्वाद नयसस्कृता व तत्त्वज्ञानका फल, स्याद्वादका विवरण, केवल प्रत्यक्ष परोक्षके अन्तमे स्याद्वादकी केवल ज्ञानवत् सर्वतत्त्वप्रकाशकताका वर्णन करके वीतराग सर्वज्ञ हितोपदेष्टाको ही आप्त होना सिद्ध किया है तथा आत्मकल्याणार्थी पुरुषोको सम्यक उपदेश और मिथ्योपदेशकी विशेष जानकारी हो एतदर्थ इस आप्तमीमासाको रचनेका आशय तार्किक चूडामणि श्री समन्तभद्राचार्यने बताया है।

इस महान ग्रन्थके गूढतम महत्त्वको सरलतासे सर्वसाधारणोपयोगी प्रवचन द्वारा प्रकट करना अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ, पूज्य श्री १०५ क्षुल्लक मनोहर जी वर्णीजी महाराजके प्रकाण्ड पाण्डित्यका सुमधुर फल है जिसे जैन मीमासकोकी उच्चतम कोटिमे विराजमान करनेका महाराजश्रीने प्रयास किया है। आशा है जैन समाज ही नही, विश्व समाज इस प्रयाससे लाभान्वित होगा।

साहित्य प्रेस, तत्त्वज्ञान-प्रभावित
सहारनपुर व्याकरणरत्न काशीराम शर्मा 'प्रफुल्लित'

आप्तमीमांसा प्रवचन

[भाग ११, १२ [



प्रवक्ता

अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री १०५ क्षुल्लक

श्री मनोहर जी वर्णी 'सहजानन्द जी' महाराज



दैवादेवार्थ सिद्धिश्चेद्दैव पौरुषत कथम् ।
दैवतश्चेदनिर्मोक्ष' पौरुष निष्फल भवेत् ॥ ८८ ॥

का क तत्त्वमे सम्बन्धित अर्थ सिद्धि विषयक साधनोमे दार्शनिकोके अभिमत—आप्तमीमासामे यह ८ वाँ परिच्छेद प्रारम्भ हो रहा है इससे पहिले ज्ञापक तत्त्वोका वर्णन किया। उपायभूत तत्त्व दो प्रकारके होते हैं एक ज्ञापक और दूसरा कारक। ज्ञापकका अर्थ है जो ज्ञान कराये अर्थका प्रकाश कराये। सो ज्ञापक तत्त्व प्रमाण और नयमे वर्णित किया गया था। किस प्रकारसे वस्तु स्वरूप जाना जाता है और उसमे अनेक दार्शनिक किस किस प्रकारमे विवाद उत्पन्न करते हैं यह सव वर्णन हो चुका। अव कारक तत्त्वकी वात कह रहे हैं। कारक उपायतत्त्व याने कुछ भी कार्यकी सिद्धि करनी हो, अपने प्रयोजनकी सिद्धि किस उपायसे होती है उस उपाय तत्त्वका नाम है कारकतत्त्व। तो उपायतत्त्वमे अब कारक उपायतत्त्वका वर्णन किया जा रहा है। प्रयोजनकी सिद्धिमे कुछ लोग मानते हैं कि समस्त कार्योंकी सिद्धि दैवसे होती है, चाहे वह कार्य दृष्ट हो अथवा अदृष्ट हो, सभी कार्योका साधक भाग्य ही है। ऐसा मीमासकोका अभिमत है कि कुछ कार्य तो अदृष्ट होते है,—युक्ति-गम्य हैं। और कुछ कार्य दृष्ट होते हैं जो देखे जाते हैं, प्रयोगमे आते हैं। ऐसे समस्त कार्योंका साधन दैव ही है। और, कुछ दार्शनिक कहते है कि समस्त कार्य पुरुषार्थसे ही सिद्ध होते है। क्षणिकवादमे कर्म सिद्धान्त पुण्य पापका सिद्धान्त नही बन सकता है, क्योकि सर्व क्षणिक तत्त्व है। तो उसमे प्रयोजन किस तरह सिद्ध हो। तो उनका अभिमत है कि सारे प्रयोजन पुरुषार्थसे सिद्ध होते हैं। तव कुछ लोग मानते है कि कुछ कार्य ऐसे हैं जो भाग्यसे ही वनते हैं और कुछ कार्य ऐसे हैं जो कि पुरुषार्थसे ही वनते

हैं। यह दार्शनिक भी मीमांसक दर्शन मानने वालोंमें ही कोई एक प्रकार है अथवा वैशेषिक आदिक उनका सिद्धान्त है कि जीव स्वर्ग जाता है। उसमें कारण जो भाव है, पुण्यकर्म है, धर्म है और ऐसी बगैरह जो की जाती है, जो उत्पादन किया जाता है वह पुरुषार्थसे सिद्ध होता है। तो यों कोई दार्शनिक कहते हैं कि प्रयोजनकी सिद्धि कुछ तो भाग्यसे होती है और कुछ पुरुषार्थसे ही होती है। तो कुछ दार्शनिक ऐसा मानते हैं कि पदार्थकी सिद्धि कैसे होती है? दोनों साधनोंसे एक साथ होती है इस कारण वह अवक्तव्य है। यों दैव और पुरुषार्थको लेकर चार विकल्पोंमें दार्शनिकोंके अभिमत प्रकट होते हैं। किसीने माना दैवसे सिद्धि है, किसीने माना पुरुषार्थसे सिद्धि है, किसी ने माना कि कुछ दैवसे और कुछ पुरुषार्थसे सिद्धि है तो किसीने माना कि वह सब अवक्तव्य है। उसमें न दैवकी बात कही जा सकती है न पुरुषार्थकी बात कही जा सकती है।

दैवसे अर्थ सिद्धि होनेका एकान्त माननेमें आपत्तिका दिग्दर्शन—उक्त चार प्रकारोंके अभिमतोंके सम्बन्धमें अब क्रमशः वर्णन करते हैं। देखिये! यदि यह कहा जाय कि दैवसे ही समस्त प्रयोजनोंकी सिद्धि होती है तब यह बतलाओ कि दैव जो स्वयं बना है, भाग्यका निर्माण वह पुरुषके व्यापारसे फिर कैसे सिद्ध होगा? जीव पुण्य पापरूप आचरण करता है तो उसके खोटे और अच्छे भावरूप पुरुषार्थ होनेसे पुण्य पापरूप दैवका बंध होता है। तो यदि यह ही एकान्त कर लिया जाय कि समस्त कार्य सिद्धि दैवसे ही होती है तब यह बात नहीं बन सकती कि दैवकी पुरुषार्थसे सिद्धि होती है। किन्तु यह बात माननी पड़ेगी और मानते भी हैं, अनेक लोग समझते भी हैं कि भाग्यका निर्माण पुरुषार्थसे होता है खोटे भाव करनेसे पापका बंध होता है, शुभभाव करनेसे पुण्यका बंध होता है। तो अच्छे बुरे भावोंके रूप पुरुषार्थसे दैवका निर्माण हुआ करता है। तो अब यह बात सिद्ध न की जा सकेगी क्योंकि दैवसे ही अर्थकी सिद्धि होती है ऐसा एकान्त मान लिया गया है। और यदि मानते हो ऐसा कि भाग्यकी पुरुषार्थसे सिद्धि हो जायगी तब आपका एकान्त तो न रहा। जो यह संकल्प आग्रह लेकर चले थे कि समस्त अर्थोंकी सिद्धि दैवसे ही होती है, तो अब यहाँ उस विचारको परिवर्तित कर दिया कि यहाँ दैवकी पुरुषार्थसे सिद्धि होना मान लेंगे। यों दैवसे ही अर्थकी सिद्धि है यह बात घटित नहीं होती।

दैवान्तरसे दैवकी सिद्धि माननेपर मोक्षके अभावका व धर्माचरणकी निष्फलताका प्रसङ्ग—यदि दैवैकान्तवादी यह कहे कि दैवकी भी सिद्ध अन्य दैवसे हो जाती है पुरुषार्थसे नहीं होती याने जिस दैवसे आज प्रयोजनकी सिद्धि हो रही है वह दैव पुरुषार्थसे न बना था किन्तु अन्य भाग्यसे बना था और यों माननेपर इस अभिमतका विघात नहीं होता कि समस्त अर्थोंकी सिद्धि दैवसे ही होती है। समाधान

मे कहते है कि यदि ऐसा माना जाय तो फिर मोक्ष कभी नही हो सकता है, क्योंकि भाग्यमे भाग्य बनते आ रहे है तो भाग्यसे भाग्य बनते ही चले जायेंगे, मोक्ष क्या रहा ? जब मोक्ष कुछ न रहा तो मोक्षके लिए जो कुछ पुरुषार्थका उपदेश किया गया है वह निष्फल हो जायगा। यदि मोक्षके लिए उपदेश किया जाने वाला पुरुषार्थ निष्फल हो जाय, ऐसा मान लिया जाय तब तो धर्मप्रवृत्ति पद्धति कुछ भी न रहेगी। किस लिए इतना तपश्चरण करना, ज्ञानार्जन करना, त्याग करना, तत्त्वचिन्तन करना सत्त्व भी फिर क्या रहा ? तो मोक्षका अभाव मान लेनेपर समस्त तीर्थ प्रवृत्ति मिथ्या हो जायगी। फिर कुछ करनेकी बात ही नही रही, हित ही नही रहा। उपादेयको ग्रहण करें, हेयको छोडे यह भेद भी कुछ नही रहा, क्योंकि किस लिए करना, कुछ श्रेय है ही नहीं। तो मोक्षका अभाव तो नहीं माना जा सकता, लेकिन ऐसा एकान्त करनेपर भी समस्त कार्योंकी सिद्धि दैवसे होती है और यहां तक कि उस दैवकी सिद्धि भी पूर्व दैवमे होती है तो दैवमे दैवकी सिद्धि मान लिया जानेपर फिर तो कर्म मोक्ष ही न हो सकेगा। और जब मोक्षका अभाव हो गया तो मोक्षके लिए पुरुषार्थ ही क्या करना ? पुरुषार्थ समस्त निष्फल हो जायेंगे।

मोक्षकी सिद्धि परम्परया पुरुषार्थमे माननेपर दैवैकान्त प्रतिज्ञाका विघात—यदि यह कहे दैवैकान्तवादी कि कार्योंकी सिद्धि दैवमे होती है मगर मोक्ष की सिद्धि दैवके क्षयसे हुआ करती है और दैवका क्षय पुरुषार्थसे होता है तो पुरुषार्थमे दैवका क्षय होना माननेपर मोक्षकी प्रसिद्धि बराबर हो जायगी, इस कारण पुरुषार्थ निष्फल न कहलायेगा पुरुषार्थ करनेका कोई प्रयोजन है, क्या है कि पुरुषार्थसे तो दैव का क्षय होगा और दैवका क्षय होनेसे मोक्षकी प्रसिद्धि होगी। इसके समाधानमे कहते है कि यह मान लेनेपर कि पुरुषार्थ निष्फल नहीं, पुरुषार्थसे भाग्यका क्षय होता है, और भाग्यके क्षय होनेसे मोक्षकी प्रसिद्धि होती है, तो दैवैकान्तकी प्रतिज्ञाका विघात हो जाता है। बात तो सही है कि पुरुषार्थसे कर्मोंका क्षय होता है। ज्ञानस्वभाव आत्मतत्त्वके दर्शन करनेरूप महापुरुषार्थसे ही इस ज्ञानस्वभावमे रमणरूप महान पुरुषार्थसे ही दैवका क्षय होता है और मोक्षकी प्राप्ति होती है। अतः पुरुषार्थ निष्फल नही होता, बात सही है और यह मान लेना चाहिए। फिर दैवैकान्तका आग्रह क्यों किया जा रहा है कि समस्त प्रयोजनोंकी सिद्धि दैवसे ही हुआ करती है। लो यहाँ तो इतना महान मोक्षलाभकी बात पुरुषार्थसे सिद्ध हो गई।

मोक्षकी सिद्धि परम्परया दैवसे माननेपर मोक्षकी साक्षात् सिद्धि पुरुषार्थसे सिद्ध होजानेसे दैवकान्ताग्रहका विघात—शङ्काकार कहता है कि भाई ! मोक्षका कारणभूत जो पुरुषार्थ है वह भी तो दैवकृत है। तो दैवकृत पुरुषार्थ से मोक्षका कारण बना, फिर मोक्षका कारण होनेसे मोक्षकी सिद्धि हुई तो परम्परासे

देखिये ! मोक्ष भी तो दैवकृत बन गया । इसमें प्रतिज्ञाकी हानि नहीं है ? प्रतिज्ञा यह है कि समस्त अर्थोंकी सिद्धि दैवसे ही होती है उसमें बाधा न दी गई है कि मोक्ष की सिद्धि तो दैवसे नहीं होती, उसकी सिद्धि तो पुरुषार्थसे है । तो यह पुरुषार्थ भी तो दैवकृत हुआ । उस तरहका गौरव यदि करें तो यों पुरुषार्थ भी हो जायगा । जब अच्छे कर्मोंके उदय आये तो यहाँ यह ज्ञान भी सूझे जिस आत्मा मोक्षका कारण बनता है । तो यों मोक्ष भी परम्परासे दैवकृत ही हुआ, इसमें दैवैकान्तका विघात नहीं होता । इसके समाधानमें कहते हैं कि तब फिर तो उस प्रकारका दैव पुरुषार्थसे बना, ऐसा मान लीजिये और यही सिद्ध हो बैठता है फिर दैवैकान्त कहाँ रहा ? जैसे बता रहे हो कि मोक्षका उपाय बने ऐसे भावोंकी प्राप्ति दैवसे होती है, तो फिर भावसे मोक्षका कारण बनना, मोक्षकी प्राप्ति होनी ये सब दैवसे ही बने । तो यहाँ मान लिया उस पौरुषको दैवसे और आगे चलकर यह तो मानना ही पड़ा ना कि मोक्षका साक्षात् तो पुरुषार्थ हुआ । परम्परासे ही तो कारण माना कि मोक्षका परम्परासे कारण भाग्य ही रहा । सो देखिये ! मोक्षका परम्परया कारण भाग्य भी रहा तो यह बतायें कि साक्षात् कारण क्या रहा ? स्पष्ट है—मोक्षका साक्षात् कारण पुरुषार्थ है । तो पुरुषार्थसे मोक्ष भी हुआ और मोक्षमें लगाया ऐसे पुरुषार्थका कारण जो दैव माना तो उस प्रकारके दैवको पुरुषार्थसे ही क्यों नहीं मान लेते ? मोक्ष जैसी बड़ी बात पुरुषार्थसे मान रहे हो तो मोक्षमें लगा सके योग्य दैवनिर्माणकी बात पुरुषार्थसे क्यों नहीं मान ली जाती ? मानना ही होगा और यों दैवको पुरुषार्थसे मान लेनेपर दैवकान्त फिर न रहा । सो इस प्रसङ्गमें जो चार अभिमत बताये गए थे कि कोई मानता है कि दैवसे ही समस्त अर्थोंकी सिद्धि होती है कोई मानता है कि पुरुषार्थसे ही समस्त अर्थोंकी सिद्धि होती है, कोई मानता है कि दैव और पुरुषार्थ दोनोंसे ही अर्थोंकी सिद्धि होती है तो चौथेका यह कहना था कि वह सब अवक्तव्य बात है । क्योंकि अर्थकी सिद्धि दोनों साधनोंसे एक साथ होती है तब वहाँ कुछ भी नहीं कहा जा सकता कि दैवसे अर्थसिद्धि है या पुरुषार्थसे ? इन चारों अभिमतोंमें प्रथम अभिमतकी समीक्षा चल रही है और उसमें यह सिद्ध हुआ कि दैवसे ही समस्त अर्थोंकी सिद्धि होती है, यह एकान्त आग्रह है । अतः दैवसे ही अर्थसिद्धि होती है, यह पक्ष सिद्ध नहीं होता ।

दैवैकान्तके आग्रहमें अर्थ सिद्धिका अभाव—उस प्रकारका दैव जो कि मोक्षका कारण बना है जब पुरुषार्थसे ही सिद्ध हो गया तो इस सिद्धिसे यह एकान्त भी निराकृत हो जाता है जो लोग मानते हैं कि पुण्यसे ही स्वर्ग मोक्षकी सिद्धि हुआ करती है । और दूसरी बात यह है कि यदि पुण्यसे ही स्वर्ग मोक्षकी सिद्धि हो तब फिर दैवैकान्तवादियोंके मन्तव्यमें महेश्वरको सृष्टि करनेकी जो इच्छा होती है वह अनर्थक ही रहेगी । जैसे कहा गया है कि यह अज्ञानी प्राणी स्वयं अपने सुख दुःखमें

असमर्थ है, ईश्वरके द्वारा प्रेरा होकर ही वह स्वर्ग अथवा नरकको जाता है। तो इस प्रकारसे जो महेश्वरकी सृष्टि करनेकी इच्छा कल्पित किया है वह निष्फल बन जायगी क्योंकि अब तो मान लिया कि सृष्टिकी उत्पत्ति दैवके आधीन है तब महेश्वर सृष्टिका कारण तो न घटित हुआ। तब फिर सृष्टि करनेकी इच्छा निष्फल ही रही। तो दैव से ही अर्थकी सिद्धि होती है ऐसा माननेपर इस एकान्तका निर्वाह नही किया जा सकता है। फिर तो कोई भी दैव पुरुषार्थसे सिद्ध न होगा, और पुरुषार्थ बिल्कुल न माननेपर दैवमे ही दैव माननेपर मोक्षका अभाव हो जायगा। पुरुषार्थ फिर धर्मके लिए करना निष्फल होगा और फिर जिन लोगोने यह माना है कि इस सृष्टिका करने वाला महेश्वर है उसकी इच्छा अनुसार सृष्टि होती है, वह कथन भी निराकृत हो जायगा। तो यह एकान्त करना ठीक नही कि समस्त प्रयोजनोकी सिद्धि दैवसे ही होती है।

स ी ि न अर्थ ि द्धि स व र—अब यहाँ दैवैकान्तवादी पूछता है कि फिर इष्ट प्रयोजनकी सिद्धि किस तरह होती है सो बताओ ? तो सुनो, इष्ट पदार्थकी सिद्धि किस तरह होती है। इष्ट सिद्धिमे दो साधन चाहिये-अदृष्ट और दृष्ट। अदृष्ट कारण तो भवितव्यता और पूर्वकृत कर्म इन दोनोका ही उभय अदृष्ट समझ लीजिए। और दृष्ट कारण है पुरुषार्थ। जो यहाँ चेष्टा की जाती है वह पुरुषार्थ कहलाता है दृष्ट। तो यो दृष्ट और अदृष्ट कारणोसे प्रयोजनकी सिद्धि बनती है। उनमेसे किसी एक कारणका लोप करनेपर अर्थ सिद्धि घटित नही होती। केवल पुरुषार्थमात्र माना जाय तो पुरुषार्थमात्रमे भी प्रयोजनसिद्धि नही देखा जाता अथवा दैवमात्र माना जाय कि समस्त अर्थोकी सिद्धि भाग्यसे होती है तब तो फिर इच्छा करनेकी व्यर्थकता हो जायगी। जो मानते है कि ईश्वर इच्छा करता है, ईशकी इच्छासे सृष्टि बनती है ऐसा कहना अनर्थक हो जायगा। अथवा सही रूपमे यो देखिये। कि न तो यह बात सिद्ध होती है कि स्वयं कुछ प्रयत्न भी न करे और केवल अदृष्ट मात्रसे ही सारा इष्ट अनिष्ट हो जाय और साथ ही यह भी नही बनता कि कोई खूब पुरुषार्थ करे, प्रयत्न करे और उस प्रयत्नसे सारे इष्ट अनिष्ट काम बन जाये यह भी नही होता क्योकि यह बात तो स्पष्ट विदीत होती है कि खेती आदिकके कामोमे सभी लोग बराबरीका प्रयत्न कर रहे है फिर भी किसीको अर्थकी प्राप्ति होती है और अनिष्टका विनाश होता है और उन्हीकी तरह खेती आदिकका प्रयत्न करने वाले अनेक पुरुष ऐसे देखे जाते है कि उनको अर्थकी प्राप्ति नही होती बल्कि अनिष्ट हो जाता है। तो इससे सिद्ध है कि भले ही कृषि आदिकमे सब प्रयत्न कर रहे हैं किन्तु इष्ट प्राप्ति और अनिष्ट परिहार या अनिष्ट प्राप्तिमे पुण्य पाप कारण पडता है। प्रयत्न सबका एक साथ है पर जिनके पुण्यका उदय है उनके बाधायें नही आती और प्रयोजनकी सिद्धि हो जाती है। पास वाले खेतमे ओले पड जाये और दूसरे खेतमे न पडे अथवा किसी खेतकी फसलमे

कीडा लग जाय दूसरेके खेतमे न लगे आदि अनेक ऐसे प्रसग हैं जिन प्रसगोंमे यह बात घटित होती है कि सभी लोग प्रयत्न समानरूपसे कर रहे हैं लेकिन किसीको अर्थ प्राप्ति है और किसीको अनर्थप्राप्ति है। तो यह कहना भी ठीक न रहेगा कि सब काम प्रयत्नसे ही बन जाते हैं। ससारके कार्य दैव प्रधान हैं, उसके अनुसार ही कुछ बुद्धि भी चलती है। तो प्रयत्न भी हो इतनेपर भी निमित्त हुआ दैव, जिसके कारण प्रयत्न न करने पर भी अर्थ प्राप्ति होती है और कुछ भी अनर्थ नही होता।

अदृष्ट और दृष्ट दोनो साधनोमे अर्थ सिद्धि—अब इस ओर भी देखिये कोई यह माने कि सब काम दैवसे ही होता है, स्वय कुछ भी प्रयत्न न करे और मान भी लो थोडा बहुत कि उसको अर्थ प्राप्ति या अनर्थका विनाश हो गया। कभी उल्टा भी हुआ तो भी इतनी बात तो सुनिश्चित है कि प्रयत्न जरा भी न माना जाय तो प्रयत्नके अभावमे इष्ट अनिष्ट अथवा सुख दु ख का भागी न बन सकेगा। क्योंकि सुख दुखके अनुभवमे कारण पुरुषार्थ होता ही है। जैसे कि लोग स्पष्ट बताते हैं कि थाली मे भोजन रखा हो, भाग्यने सब समागम जुटा दिया, किन्तु कौर उठाये बिना, मुखमे कौरको चबाये बिना आहार तो नही बन पाता, यो ही प्रत्येक काममे समझ लीजिए कि दैव अनुकूल चल रहा है, लौकिककार्यमे पुण्य पाप इस प्रकार ही चल रहे हैं पर कुछ पौरुष भी साथमे होता है। केवल दैवसे अर्थ सिद्धि हो यह बात भी नही बन सकती। सभी जगह सासारिक कार्योंमे दृष्ट और अदृष्ट निमित्त होते हैं, यहाँ दृष्टके मायने है पौरुष। जैसे कि कोई तन, मन, वचनका पुरुषार्थ करता है, लोगोको विदित होता है इसने इस कार्यके लिए खूब श्रम किया सो वह तो है पुरुषार्थ और उसके साथ जो यह बात लगी हुई है कि पौरुष करनेपर भी कही सिद्धि है, कहीं सिद्धि नही है तो उसमे कारण हुआ अदृष्ट, यो दृष्ट और अदृष्टमे निमित्तपनेकी सिद्धि होती है। उनमेसे यदि एकका भी लोप कर दिया जाय तो दूसरा भी नहीं बन सकता है। अब मोक्षकी बात अगर देखते हो तो वहाँ भी देख लीजिए। परम पुण्यातिशय हो और चारित्र विशेष हो तभी तो मोक्ष सम्भव है। यहाँ परमपुण्यातिशयके मायने यह है कि पापीसे पापी जीव भी यदि उस भवसे मोक्ष पहुचता है तो थोडा सुधार होकर उसमे जब अन्तिमरूप यह आ जाता है कि उसका पाप गल गया तो वहाँ पुण्यातिशय प्रकट होता है सिद्धान्तोके अनुसार भी यह सिद्ध होता है कि जैसे वह मुक्तिके निकट पहुचता है, गुण स्थानोंमे बढता है तो पाप कर्म पहिले दूर होता है, पुण्य कर्म रह जाता है तो फिर, परम पुण्यातिशय हो तब और चरित्र विशेष हो तब मोक्ष सम्भव है। तो पुरुषार्थ भी वहाँ आ ही गया। इस कारण केवल यही पक्ष करना कि दैवसे ही अर्थ सिद्धि होती है सो ठीक नहीं, और कोई यदि यह सिद्ध करे कि केवल पौरुषसे ही सिद्धि होती है तो यह भी ठीक नही। पुरुषार्थके साथ मोक्ष जाने वाले पुरुषके पुण्यातिशय आता ही है। अब दैव एकान्तका निराकरण करके अथवादैवएकान्तमे दोष पत्ति देकर अब

पौरुष एकान्तमें दोषापत्ति देनेके लिए कारिका कह रहे हैं।

पौरुषादेव सिद्धिश्चेत् पौरुषं दैवतः कथम् ।
पौरुषाच्चेदमोघं स्यात् सर्वप्राणिषु पौरुषम् ॥ ८९ ॥

पौरुष एकान्तवादमें आपत्ति—यदि पुरुषार्थसे ही अर्थकी सिद्धि मानी जाती है तो फिर यह बतावें वे पौरुष एकान्तवादी कि फिर पुरुषार्थ दैवसे कैसे बन सकेगा? और, यदि उस पौरुषका पूर्व दैवकारण मानते हो तो अभी किये गये आग्रहकी प्रतिज्ञा का घात हो जायगा। पुरुषार्थ पुण्य-पाप सामग्रीके बिना नहीं होता। जैसे कि प्रसिद्ध है कि उस प्रकारकी बुद्धि होती है जीवोंके और उस प्रकारका व्यवसाय बनता है जीवोंके और वैसे ही लोग सहाय होते हैं जीवोंके—जैसा कि होनहार हो। यह बात बहुत प्रसिद्ध है। तो उससे यह सिद्ध हुआ कि पौरुषसे सिद्धि नहीं है। यहाँ केवल पुरुषार्थसे सिद्ध मानने वाले लोग चार्वाक हैं जो पुण्य-पाप, लोक-परलोक, स्वर्ग-मोक्ष आदि कुछ नहीं मानते, उनका यह प्रकट सिद्धान्त है कि यहीं मेहनत करे और उस प्रकारके प्रयोजनकी सिद्धि कर ले। तो जो लोग ऐसा मान रहे हैं कि पौरुषसे प्रयोजनकी सिद्धि होती है तो प्रथम तो बात यह है आँखों देखी कि पुरुषार्थ बराबरीका कर रहे हैं कोई लोग, उनमें किसीके प्रयोजनकी सिद्धि होती है किसीके नहीं अथवा कोई पुरुषार्थ तो कर रहा है फिर भी उसे कुछ प्राप्ति नहीं होती जैसे यहाँ घसियारे लकड़हारे या मजदूर वर्ग पूरे दिन बड़ा श्रम करते हैं इतनेपर भी उन्हें अर्थसिद्धि नहीं है और कुछ लोग अपने स्थान दूकान आदिकपर बैठे हैं, अर्थसिद्धि करते हैं। तो जब वहाँ यह कहेंगे कि सिद्धि तो पुरुषार्थसे हुई और पुरुषार्थ उस प्रकारसे बना जिनका जैसा होनहार है, तब तो यह बात आ गई कि पुरुषार्थ दैवके अनुसार बना। तो पुरुषार्थसे ही प्रयोजनकी सिद्धि होती है, यह बात तो न रही। यदि वहाँ यह कहा जाय कि पौरुष पुरुषार्थसे बनता है पुण्य पापसे नहीं बनता तब तो पौरुष पौरुष ही रह गया, सो सभी प्राणियोंमें फिर पौरुष सफल हो, पर ऐसा होता कहाँ है? भले ही कोई अपनी कल्पनामें मानले कि बुद्धि, व्यवसाय, श्रम सभी बातें पौरुष कह लाती हैं और पौरुष पौरुषसे ही उत्पन्न होता है। तो कह लो कल्पनामें, पर जगतमें निगाह पसारकर देखो तो सही, सभी प्राणी अपने पूर्ण सुखके लिए प्रयत्न कर रहे हैं पर उनका पौरुष कहाँ सिद्ध हो रहा है? अथवा सब प्राणियोंमें वहाँ पौरुष बन बैठे क्योंकि पौरुष तो पौरुषसे बन गया। अब वहाँ भाग्यकी या पुण्य-पापकी आवश्यकता नहीं रही। तो यह भी बात सिद्ध नहीं होती कि पौरुषसे ही प्रयोजनकी सिद्धि है।

पौरुष एकान्तवादमें दोषापत्तिका निर्णय—पुरुषार्थका एकान्त माननेपर अर्थात् पुरुषार्थसे ही समस्त प्रयोजनकी सिद्धि होती है इस लोकमें ऐसा स्वीकार करने पर यह दोष देखा जा रहा है कि सभी पुरुषार्थ करते हैं पर सिद्धि किसीको होती है

किसीको नहीं होती है, एक तो इस आपत्तिका समागम, दूसरी बात यह पूछी जा रही कि जो वर्तमान पुरुषार्थ कर रहा है कोई प्राणी तो वह भाग्यको अनुकूल कर रहा है या उस पुरुषार्थकी, सिद्धि हुई है? क्योंकि पुरुषार्थ कर रहा है उसका कोई कारण होगा। होना चाहिए पुण्य पाप। जैसा भवि ता है तैसी उसकी बुद्धि चलेगी, किन्तु यहाँ भी उसका उत्तर पौरुष माना है। यानि उत्तर पौरुषकी सिद्धि भी पौरुषसे होती है ऐसा माननेपर सभी जीवोंका पुरुषार्थ सफल होना चाहिए, किन्तु ऐसा देखा नहीं जा रहा। यदि कहो कि सभी जीवोंका पुरुषार्थ सफल ही है तो ऐसा कौन श्रद्धान करेगा? जब इस सम्बन्धमें व्यभिचार देखा जा रहा है अर्थात् पौरुष करनेपर भी उसके फलकी प्राप्ति अविनाभाविता नहीं देखी जा रही है तो इसका कौन श्रद्धान कर सकता है कि पुरुषार्थसे अर्थकी सिद्धि अवश्य होती है।

सम्यग्बोधपूर्वक पुरुषार्थमें प्रयोजन सिद्धि होनेसे पौरुषसे ही अर्थसिद्धिकी सम्भवताकी शंका—अब यहाँ शंकाकार शंका करता है कि पुरुषार्थ दो प्रकारका माना गया है एक सम्यग्ज्ञान पूर्वक दूसरा मिथ्याज्ञान पूर्वक। शङ्काकार यहाँ चार्वाक है। जो केवल आँखो देखी बातको ही सत्य समझते हैं उनका सम्यग्ज्ञान है यहाँकी चीजोंको ही निरखना आत्मा या सूक्ष्म दृष्टि सम्बन्ध नहीं है सम्यग्ज्ञानका। जो लोक व्यवहारमें घट पट आदिक पदार्थ कहे जाते हैं, जैसा जो कुछ व्यवहार है उसीको ही सत्य समझना यह उनका सम्यग्ज्ञान है, और उन कारणोंका, चीजोंका ज्ञान न होना, भूल हो जाना यह है शंकाकारका मिथ्याज्ञान। तो शङ्काकारका मिथ्या ज्ञान। तो शङ्काकारका यह कहना है कि पौरुष दो प्रकारके होते हैं एक सम्यग्ज्ञान पूर्वक और दूसरा मिथ्याज्ञान पूर्वक। उनमेंसे मिथ्याज्ञान पूर्वक जो पौरुष है उसमें व्यभिचार देखा जा रहा है कि जब कारण कलापका ज्ञान ही नहीं है खेतीमें क्या चीज बोई जाती है, कैसे खाद पडती है, कैसे जोता जाता है, कब उसमें पानी देना चाहिए, इन बातोंका बोध नहीं है, बल्कि मिथ्यारूपसे जाना जा रहा है, कहो पहिले पानी न दे, फसल बिगड जाय, सूख जाय तब पानी दे, यों मिथ्याज्ञान पूर्वक पौरुष करे तो उसमें व्यभिचार देखा जाता है, किन्तु सच्चे ज्ञान सहित जो पौरुष होगा ऐसा परिश्रम जिसमें कारण सम्यग्ज्ञान है समयपर सही कारणोंसे सब काम करता है यों सम्यग्ज्ञान पूर्वक पौरुष ही होगा तो उसमें दोष नहीं आता, और पौरुष ही सम्यग्ज्ञान पूर्वक पौरुषको पौरुष कहेंगे तब तो पौरुष सफल ही कहलायगा, उसमें व्यभिचार न आयगा।

दृष्ट कारणकलापके सम्यग्बोध पूर्वक पौरुषसे भी अर्थसिद्धिका अनियम एवं प्राणीको अदृष्ट कलापके बोधकी असम्भवता होनेसे पौरुषकान्तवाद में दोष आते हुए उक्त शंकाका समाधान—उक्त शंकाके समाधानमें कह रहे हैं

कि शंकाकारका उक्त कथन असत्य है, क्योंकि सम्यग्ज्ञान पूर्वक जो पौरुषको जो सफल कहा जा रहा है तो सम्यग्ज्ञान होगा कारण कलापोंका और कारण सामग्री है दो प्रकारकी, दृष्ट और अदृष्ट कारण सामग्री। कोई कारण सामग्री तो आँखों दिखनेमें आती है व्यवहार प्रयोगमें आ रही है, एक तो ऐसी सामग्री होती है जो दृष्य है, दूसरी कारण सामग्री है अदृष्ट, जो आँखों नहीं दिख सकती, अदृष्टताको प्राप्त है और है कारण अवश्य। तो इसमेंसे कौनसी कारण सामग्रीके सम्यग्ज्ञानसे हुए पुरुषार्थको सही मान रहे हो ? यदि कहो कि अदृष्ट कारण सामग्रीके सम्यग्ज्ञानके कारण जो पौरुष हुआ है उसको हम पौरुष कह रहे हैं तो उसमें भी व्यभिचार देखा जाता है। जैसे खेती दूकान व्यापार आदिक कामोंमें ऐसे बुद्धिमान लोग कार्यकर्ता हैं कि जिन्हें दृष्ट कारण सामग्रीका सही सही बोध है और उस प्रकार चल भी रहे हैं, पुरुषार्थ भी उनका उस प्रकार हो रहा है। जैसे खेती सम्बन्धी साधन— खेत समयपर जोतना, बीज समयपर बोना आदिक बातोंका सही बोध है और इस प्रकारका पौरुष भी करते हैं, इतनेपर भी किसीको तो इष्ट प्राप्ति होती है और किसीको नहीं होती। ये सब बातें तो आँखों देखी जा रही हैं। इस कारण दृष्ट कारण सामग्रीके ज्ञानपूर्वक होने वाले बोधसे अर्थसिद्धि होती है यह भी एकान्त नहीं किया जा सकता है। अब यदि यह कहो कि जो अदृष्ट कारण सामग्री है उसका सम्यग्ज्ञान हो तो उससे पौरुष सफल होगा तो देखो अदृष्ट कारण सामग्रीका ज्ञान तो जो असर्वज्ञ हैं, अल्पज्ञ हैं, यहाँके सब जो लौकिकजन हैं उनको तो असम्भव है और चार्वाक जो सर्वज्ञ मानते नहीं और सर्वज्ञका ज्ञान हो तो उनका तो यहाँ पौरुष चल नहीं रहा। पुरुषार्थ करने वाले तो यहाँ वहाँके ग्रामवासी लौकिक जन हैं और वे हैं असर्वज्ञ उनको अदृष्ट कारण सामग्रीका ज्ञान हो नहीं सकता, तो अदृष्ट कारण सामग्रीके सम्यग्ज्ञान पूर्वक पौरुषका होना यह सम्भव नहीं है। अतः यह दूसरा पक्ष भी निराकृत है कि अदृष्ट कारण सामग्रीके सम्यग्ज्ञान सहित होने वाले पुरुषार्थसे अर्थसिद्धि होती है।

प्रमाणान्तरसे अदृष्ट कारण सामग्रीका बोध मानकर तत्पूर्वक पौरुषसे अर्थसिद्धिका नियम माननेमें दोष—यदि शङ्काकार यहाँ कहे कि अदृष्ट कारण सामग्रीका प्रमाणान्तरसे ज्ञान हो जायगा, अनुमानसे ज्ञान हो जायगा, तो प्रथम तो बात यह है कि चार्वाक भी अनुमान प्रमाण नहीं मानते। अथवा मान लो दूसरेके द्वारा माने गए अनुमान प्रमाणसे अदृष्ट कारण सामग्रीका ज्ञान हो गया और यों अदृष्ट कारण सामग्रीके ज्ञानपूर्वक होने वाले पुरुषार्थसे अर्थसिद्धिकी सफलता मानते हो तो सुनो ! वह अदृष्ट कारण समूह बतावो क्या कहलाता है ? क्या कारण शक्ति विशेषणका नाम अदृष्ट कारण सामग्री है ? या पुण्यपाप विशेषणका नाम अदृष्ट कारण सामग्री है ? या पुण्यपाप विशेषका नाम अदृष्ट कारण सामग्री है ? यहाँ दो विकल्प पूछे जा रहे हैं कि अदृष्ट कारण क्या है जिसका कि ज्ञान करके

पौरुप किया जाता हो ? क्या कारणमे रहने वाली शक्तिका नाम अदृष्ट कारण है ? अथवा पुण्य पाप दैवका नाम अदृष्ट कारण सामग्री है ? यदि कहो कि कारणशक्ति विशेषका नाम अदृष्ट कारण है तो अदृष्ट कारणका सम्यक बोध होनेपर भी किए गए पुरुपार्थमे व्यभिचार देखा जाता है। जैसे किसोकी आयु क्षीण होने वाली है ऐसे पुरुपको औपधि शक्तिका सम्यग्ज्ञानी वैद्य औपधिका पान आदिक करानेका पुरुपार्थ भी करता है लेकिन उपयोग नहीं वनता, उस औपधिमे कोई फायदा नहीं पहुचता। जिस पुरुपकी आयु क्षीण हो रही है उसको कैसी भी औपधि दी जाय, चाहे कैसा ही होशियार वैद्य हो पर उसका इलाज व्यर्थ जाता है, उस मरने वाले पुरुपको बचा नही पाता है। उसका मरण हो ही जाता है। तो देखिये ! वैद्यको व रोगीको भी अदृश्य कारणका ज्ञान है, उस वैद्यने उस प्रकारका पुरुपार्थ भी किया और उस रोगी पुरुपने उसका सेवन भी किया लेकिन वहाँ जीवन तो नही रह सकता। तो यह भी नही कह सकते कि कारण शक्तिरूप अदृष्ट कारणका ज्ञान होनेपर फिर किए गए पुरुपार्थमे व्यभिचार नहीं देखा जाता। अत पुरुपार्थमे कार्यसिद्धि होती है, यह एकान्त नहीं वनता। अब यदि दूसरा पक्ष लेते हो, पुण्य पापका नाम है अदृष्ट कारण सामग्री तो इससे तो यह बात सिद्ध हो गयी कि भाग्यकी सहायतासे ही पौरुपका फल सिद्ध हो सकता है।

दैवके सत्यबोध पूवक पौरुषसे अर्थ सिद्धि माननेपर पौरुष वादका विघात एव अन्य दोष—यदि कहो कि भाग्यका ही सत्य बोध हो, उसके कारण होने वाले पौरुपसे इष्ट पदार्थोंकी प्राप्ति बन जायगी। तो यहाँ एक बात और भी देखिये ! ऐसा पुण्य पापरूप कारण सामग्रीका ज्ञान भी न हो तब भी तो ऐसे पौरुपमे फलकी सिद्धि हो जाती है। यहाँ द्वितीय पक्षमें शकाकार स्वीकार करता है कि पुण्य पापका नाम है अदृष्ट कारण सामग्री और उसके बोधके कारण होने वाले पौरुपसे इष्ट प्रयोजनकी सिद्धि होती है तो सुनो। प्रथम बात तो यह मिली कि पौरुप एकान्त न रहा लो अब भाग्यका सहारा लेकर होने वाले पौरुपमे ही अर्थ सिद्धिकी बात कही गई और फिर दूसरी बात यह है कि ऐसे दैवका परिज्ञान नहीं भी होता और अनुकूल पुण्यका उदय है तो पौरुपसे फलकी प्राप्ति हो जाती है, इस कारण यह मूल बात कहना कि सम्यग्ज्ञान पूर्वक होने वाले पौरुषसे अर्थ सिद्धि होती है, यह एकान्त आग्रह भी सही नही वनता। इस कारण जैसे दैव एकान्तका आग्रह सिद्ध न हो सका उससे अर्थ सिद्धि की बात निर्णीत नही की जा सकी इसीप्रकार पौरुष एकान्तसे भी अर्थ सिद्धिकी बात सिद्ध नही हो सकती है।

विरोधान्नोभयैकात्म्यं स्याद्वादन्यायविद्विषाम् ।
अवाच्यतैकान्तेऽप्युक्ति नोवाच्यमिति युज्यते ॥ ९० ॥

शकाकार द्वारा उभयकान्तका पक्ष—यहाँ मीमासक अपना पक्ष रख रहे हैं कि यदि दैव एकान्त माननेपर आपत्ति आती है याने सिर्फ दैवसे ही अर्थ सिद्धि माननेपर कुछ घटनाओमे विवाद हो जाता है और केवल पौरषसे ही सिद्धि माननेपर कुछ घटनाओमे विवाद आता है तो इन दोनोको ही मान लिया जाय और इस तरह मान लिया जाय कि कोई कार्य तो दैवसे ही सद्ध होता है और कोई कार्य पौरुषसे ही सिद्ध होता है। जैसे जिसका हमे कुछ पता नही ऐसा काम सिद्ध होता है तो वह दैव से ही होता है और जिसको हम देखकर परिश्रम करके कार्य बनाते है वह पुरुषार्थसे सिद्ध होती है अथवा जिन विषयोके साधन भी जुट जाते, यहाँ दैव सिद्ध हो गया उन विषयोको भोगना यह पुरुषार्थसे बनेगा। जैसे भोजन सामग्रीका जुटना यह दैव होगा पर उठाकर खाना यह पुरुषार्थसे बनेगा। अथवा स्वर्गमे जाना या अन्य धन वैभवकी उत्पत्ति होना यह दैवसे (पुण्य-पापसे) बनेगा किन्तु इस लोकमे जो कुछ भी कार्य किए जाते हैं वे पुरुषार्थस बन जायेंगे। तात्पर्य यह है कि कोई कार्य तो दैवसे ही होता है और कोई कार्य पुरुषार्थसे ही होता है इस तरह दोनोको मान लिया जाय तब तो आपत्ति न रहेगी।

दैव और पौरुष दोनो उभयेकान्तका निराकरण—उक्त शकाकारके समाधानमे कहते हैं कि एकान्तरूपसे अर्थात् किसी कार्यमे केवल दैव ही कारण है और किसी कार्यमे केवल पुरुषार्थ ही कारण है ऐसे प्रथक प्रथक कार्यकी अपेक्षासे अगर एकान्त मान लिया जाय दोनोको तो यह भी स्यादवाद नीतिका विरोध होनेसे निराकृत हो जाता है क्योंकि लोकमे कोई भी कार्य ऐसा नही है जो अन्यकी अपेक्षा न रख कर किसी दैव या पुरुषार्थ एकसे बन सकता हो, अतएव उभयका एकान्त भी यथार्थ नही है यह बात समझनेकी है कि केवल न तो दैव एकान्तसे ही अर्थ सिद्धि है न केवल पौरुष एकान्तसे ही अर्थ सिद्धि है। और कोई पुरुष दोनोको ही माने और उन दोनोमे पृथक पृथक यह विभाग करे कि देखो अमुक कार्य तो दैवसे बन गया और अमुक कार्य पुरुषार्थसे बना तो यह भी उचित नही है।

दैव और पौरुषके अवक्तव्यकान्तका निराकरण—अब कोई चौथा पुरुष यहाँ अपनी शङ्का रख रहा कि हमको तो अब यह मालूम हुआ, कि न तो केवल भाग्यसे ही प्रयोजनकी सिद्धि होती है न केवल पुरुषार्थसे ही प्रयोजनकी सिद्धि होती है, और दोनोसे भी प्रयोजनकी सिद्धि नही होती, सो वास्तवमे इस प्रसगकी बात अवक्तव्य है। यो अवक्तव्य ही मानना चाहिए। उसके सम्बन्धमे कुछ कहा ही नही जा सकता तो इस अभिप्रायके शमनके लिए कह रहे हैं कि कोई यदि अवक्तव्यताका एकात माने तो उसमे यह अवक्तव्य है इतना भी तो न बोल सकेंगे, क्योकि अवक्तव्यका एकान्त ही तो मान लिया किसी प्रकार वह बताया नही जा सकता। तो वह अवक्तव्य

है इस स्वरूपमे फिर कसे वनादे ? स्याद्वाद नीतिका विरोध करनेपर जो कुछ भी कहा जायगा वह सव प्रमाण विरुद्ध कहा जायगा, इस कारण ये चारो ही एकान्त ठीक नहीं होते। कोई लोग दैवसे ही अर्थ सिद्धि मानते, कोई केवल पौरुषसे ही अर्थ सिद्धि मानते और कोई केवल दोनोका एकान्तकर करके दोनोसे ही अर्थ सिद्धि मानते और कोई अवक्तव्यता बताकर ही उस बातको समाप्त करते, तो से चार चार प्रकारके एकान्त सिद्धान्तका यथार्थ निरुपण नही कर सकते क्योकि इनमे स्याद्वादका विरोध किया गया है। तो अब जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि वास्तवमे स्याद्वादकी नीति दैव और पुरुषार्थके सम्बन्धमे किस प्रकारकी है उसका समाधान करनेके लिए इस प्रसगमे अव अन्तिम कारिका कह रहे हैं।

अबुद्धिपूर्वापेक्षायामिष्टानिष्टं स्वदैवतः।
बुद्धिपूर्वव्यपेक्षायामिष्टानिष्टं स्वपौरुषात् ॥ ९१ ॥

अबुद्धिपूर्वापेक्ष इष्ट अनिष्टकी सिद्धिमे दैवकी प्रधानता—कोई कार्य विना विचारे उपस्थित हुआ है जिसका कुछ ख्याल ही न था, कुछ विचार ही न कर सके अथवा विचारसे भी परे कोई अनुकूल या प्रतिकूल कार्य उपस्थित हो गया तो समझना चाहिए कि वह प्रधानतया दैवकृत है क्योकि उस समय बुद्धि पूर्वक कोई अपेक्षा नही की गई। वहाँ पुरुषार्थ अप्रधान रहा और दैव प्रधान हो गया। यहाँ भी यह न समझना चाहिए कि केवल दैवसे ही वात बनी। दैव वहाँ मुख्य रहा पुरुषार्थ वहाँ गौण रहा। तो दैव अनुकूल है उसके साथ किसी न किसी रूपमे पुरुषार्थ भी रहा और वर्तमानमें यदि कुछ पुरुषार्थ भी न दिख रहा हो तो भी जिस दैवके उदयमे वह कार्य बना है वह दैव तो पौरुष पूर्वक ही प्राप्त किया गया था। कोई कार्य यदि अनुकूल बन गया विना विचारे ही तो उसे कहेंगे कि यह पुण्यकर्मके उदयसे हुआ है। पुण्य कर्मके उदयसे,-उसकी प्रधानता है फिर भी उस प्रसगमे जिसने यह फल प्राप्त किया या जो इस सुखको भोग रहा है उसका उस समय पुरुषार्थ भी चल रहा है। भोगनेमे पुरुषार्थ है या थोडा बहुत तन मन वचनका भी पुरुषार्थ होता है और जिस पुण्यकर्मके उदयसे यह विना विचारे अनुकूल कार्य मिल गया है उस पुण्यकर्मके सम्पादनमे इस जीवमें पहिले पौरुष तो किया ही था, शुभभाव किया था, धर्म किया था। जिस पौरुषके प्रतापसे ऐसे ही पुण्यकर्मका बन्ध हुआ जिसका कि अब यह फल मिला है। किसी पुरुषको विना विचारे ही कोई प्रतिकूल घटना आये, विपत्ति उपस्थित हो गयी, उपसर्ग आ गया तो उसे देवकृत समझना चाहिए, क्योकि वहाँ उस फलभोक्ताने बुद्धि पूर्वक कुछ भी साधन नही जुटाया। कोई वहाँ अपेक्षा नहीं रखी। तो वहाँ पापकर्मका उदय प्रधान रहा, पुरुषार्थ अप्रधान रहा। उस घटनासे भी किसी न किसी प्रकारसे तन, मन, वचनका कुछ कार्य तो किया ही गया होगा अथवा जिस पाप कर्मके उदयसे

ऐसी प्रतिकूल घटना प्राप्त हुई है उस पापकर्मकी सम्पादनमे तो इस जीवने पौरुष किया ही था। पौरुष किया उल्टा, विषय कषायोसे मग्न रहा दूसरोपर अदय की आदिक बातोंके कारण वहाँ एक पापका बंध हुआ जिसके उदयमे अब यह फल भोग रहा है। तो बिना विचारे अनुकूल अथवा प्रतिकूल घटना हुई तो वह दैवकृत कही जायगी।

बुद्धिपूर्वापेक्ष इष्ट अनिष्ट सिद्धिमे पौरुषकी प्रधानता—अब कोई घटना विचार करके उपस्थित हुई है बुद्धि पूर्वक श्रम किया, उस कार्यमे तन मन वचनसे परिश्रम बनाया और कार्य सिद्धि हो गया तो उसे कहना चाहिए कि यह कार्य पौरुष से सिद्ध हुआ। यहांपर भी केवल एकान्त न समझना कि पौरुषसे ही सिद्धि होती है, साथमे दैव भी है लेकिन विचार करके जो किया गया है उसमे बुद्धि पूर्वक अपेक्षाकी प्रधानता है, और दैवका गौणपना है। कोई इष्ट कार्य जिसे सुखका साधन समझ रहा है बुद्धि पूर्वक मिलनेसे मिल गया, ऐसे लोकमे बहुतसे कार्य दृष्टिगत होते हैं। तो समझना चाहिए कि उसमे पौरुषकी प्रधानता है और दैव वहाँ गौण है। अथवा, कोई अनिष्ट कार्य हो गया जिसमे विचार करके भी किया गया है तो जैसे कहते हैं कि कोई पुरुष अपने ही हाथोसे अपने पैरपर कुल्हाडी मार लेता है या अन्य कोई ऐसा अनिष्ट कार्य करले तो वहाँ पौरुष प्रधान रहा, पर केवल पौरुषसे ही यह कार्य हुआ हो सो बात नही, दैव गौण है। उसीके अनुसार तो ये बुद्धि और पौरुष किए गए हैं। अथवा जब भी वह पाप सम्पादन किया गया था, जिनके उदयमे प्रतिकूल बात घटित हुई है वह पहिले पौरुषसे किया था और वह पौरुष भी दैवके अनुसार बना था।

दैवकान्त व पौरुषकान्तके निराकरणका उपसंहार—दैवसे अर्थसिद्धि होती है या पौरुषसे? इस सम्बन्धमे किसी एकान्तको ही नही कहा जा सकता है। इन दोनोमे किसी एकका अगर अभाव कर दिया जाय तो व्यवस्था न बनेगी। पुण्य पाप या अर्थसिद्धिकी व्यवस्था अपेक्षाकृत ही बनेगी। दोनोमे परस्पर अपेक्षा रखी जायगी, दैव और पौरुषकी व्यवस्था एक दूसरेकी अपेक्षा रखकर ही बनेगी। पौरुषकी अपेक्षा न रखकर केवल दैवसे ही सिद्धि मानी जाय अर्थात् पौरुष वहाँ जरा भी नही है, पौरुषसे अर्थसिद्धि नही होती है किन्तु मात्र दैवसे ही होती है, ऐसी एक भी घटना न मिलेगी। अथवा जहाँ यह कहा जा सके कि पौरुषसे ही सिद्धि होती है, दैवका जरा भी काम नही है, तो ऐसी भी घटना कोई लोकमे न मिलेगी। दोनोकी परस्पर अपेक्षा रहती है तब अर्थकी सिद्धि होती है। दूसरेका सद्भाव न मानकर अथवा अपेक्षा न रखकर बात कही जाय तो न बनेगी। दूसरेका सद्भाव मानकर अपेक्षा रखकर अपेक्षा का अभाव न करके परस्परमे सहायकरूपसे दैव और पुरुष दोनोसे ही अर्थकी सिद्धि होती है। जहाँ पौरुष प्रधान नजर आ रहा है। यह मनुष्य पुरुषार्थके बलसे यह काम बना रहा है तो वहाँ उसके पौरुषमे दैवका सहाय पडा हुआ है। विधि भाग्य

उसके अनुकूल है तब उस प्रकारका पौरुष उसका सफल हो सका है। जहाँ यह दृष्टिगत हो रहा हो कि हमे दैवसे ही सिद्धि हुई है तो वहाँपर भी पुरुषार्थकी सहायता है, तो दोनोंमे ही अर्थकी सिद्धि होती है। इनमे एकान्त अभिप्राय करना सिद्धान्तके प्रतिकूल है ॥

दैव व पौरुषमे अर्थसिद्धिके सम्बन्धमे सप्तभङ्गीका विवेचन—अब यह मानना चाहिए कि अबुद्धिपूर्वककी अपेक्षासे तो सब पौरुषकृत हो रहा है। और क्रमसे अबुद्धिपूर्वक और बुद्धिपूर्वककी दृष्टिसे देखनेपर विदित होता है कि दोनोसे हो रहा है और एक साथ विवक्षित अबुद्धिपूर्वक और बुद्धिपूर्वककी दृष्टिमे वह कार्य अवक्तव्य है। दैवकृत है या पौरुषकृत है, किसी भी वचन द्वारा यह नही कहा जा सकता, इस प्रकार इस सम्बन्धमे ये चार भङ्ग हुए। इन चार भङ्गोमे स्वतन्त्र भङ्ग तीन हैं–स्यात् दैवकृत, स्यात् पौरुषकृत, स्यात् अवक्तव्य। जहाँ अबुद्धिपूर्वक अपेक्षाकी दृष्टि रखी गई वहाँ सब कुछ दैवकृत हुआ। जहाँ बुद्धिपूर्वककी अपेक्षा रखी गई वहाँ वह सब पौरुषकृत हुआ। जहाँ एक साथ ही सब कुछ निरखनेकी दृष्टि की गई वहाँ वह अवक्तव्य हुआ। अब इन तीनो स्वतन्त्र भङ्गोमे द्विसंयोगी भङ्ग तीन और उत्पन्न होते हैं। क्रमसे अबुद्धिपूर्वक और बुद्धिपूर्वककी अपेक्षा की जानेसे कार्य उभयकृत बना। यह प्रथम और द्वितीय भङ्गका संयोगी भङ्ग है और अबुद्धिपूर्वक व बुद्धिपूर्वक अपेक्षा की साथ साथ सह अर्पितपनेकी दृष्टि होनेसे ५ वाँ भङ्ग बना स्याद् अवक्तव्य है। प्रथम और तृतीय भङ्गका संयोगी भङ्ग बना। बुद्धिपूर्वक अपेक्षाके साथ साथ सह अर्पित दोनोकी दृष्टि होनेपर छठा भङ्ग बना स्याद् पौरुषकृत अवक्तव्य और जब बुद्धिपूर्वक अपेक्षा और अबुद्धिपूर्वक अपेक्षा क्रमसे की गई अर्थात् प्रथम, द्वितीय भङ्ग तीनोंको मिलकर त्रिसंयोगी भङ्ग बनता है तो बना स्याद् दैवकृत पौरुषकृत अवक्तव्यम्। इसी प्रकार दैवकृत सिद्ध है या पौरुषकृत इस प्रसङ्गमे विवक्षावश ये ७ प्रकारके भङ्ग बनते हैं और इन भङ्गोंमे यह सब कुछ अपेक्षासे निर्णीत कर लेना चाहिए। स्याद्वाद की नीतिसे जिसने यह निर्णय किया है और इस निर्णयके फलमे सम्यग्दर्शन, सम्यक ज्ञान और सम्यकचारित्रमें गति की है वह पुरुष मुक्तिको प्राप्त करता है।

पापं ध्रुवं परे दुःखात् पुण्यं च सुखतो यदि।
अचेतनाकषायौ च बध्येयाता निमित्तत ॥ ९२ ॥

पाप-पुण्यरूप दैवके आस्रवके कारणपर विचार—अष्टम परिच्छेदमें यह वर्णन किया गया था कि दैवसे सहित पौरुष समस्त अभीष्टको शीघ्र सम्पादित करता है। उस प्रसगने दैवैकान्तका निराकरण किया, पौरुषैकान्तका निराकरण किया, और जो दैव पौरुष दोनोको निरपेक्ष भिन्न-भिन्न कार्योको मानते हैं उनका भी निराकरण किया और कोई सर्व बातोको एक साथ निरखकर अवक्तव्य ही है ऐसा एकान्त करे

तो उसका भी निराकरण किया। दैव सहित पौरुषसे अर्थ सिद्धि होती है, इसका स्याद्वाद नीतिसे वर्णन किया गया था। अब इस परिच्छेदमे उस ही दैवके सम्बन्धमे यह बतला रहे हैं कि पाप और पुण्य दैव किस विधिसे होते हैं। कोई पुरुष मानते हैं कि दूसरे प्राणियोमे दुःख उत्पन्न हो तो उन दूसरे पुरुषोमे दुःख उत्पन्न हो जाय जिस कारणसे तो उसे वहा नियमसे पापका अर्जन होता है। और यदि दूसरे पुरुषको सुख हो जाय तो उस सुखसे पुण्यका अर्जन होता है। यहाँ ये दोनो एकान्त हैं। इस सम्बन्धमे कुछ पाप पुण्यकी व्याख्याका विश्लेषण सुनो। दैव दो प्रकारका होता है एक पुण्य दूसरा पाप। पुण्य तो वह कहलाता है जो प्राणियोके इष्टका साधन हो अर्थात् जिसका उदय होनेपर प्राणियोको इष्ट सामग्रीकी प्राप्ति हो। पाप उसे कहते हैं जो प्राणियोके अनिष्टका साधन हो अर्थात् जिसके उदयसे प्राणियोको अनिष्ट समागम प्राप्त हो। पुण्य और पाप प्रकृतियोंके विभागमे तत्त्वार्थ सूत्र जीमे कहा है कि साता वेदनीय शुभ आयु, शुभ नाम और शुभ गोत्र ये पुण्य प्रकृतियाँ कहलाती हैं और इनके अतिरिक्त अन्य सब पाप प्रकृतियाँ कहलाती हैं। तो अष्टम परिच्छेदमे बताया गया था कि न केवल दैवसे सिद्धि है न केवल पौरुषसे सिद्धि है, किन्तु दैव सहित पौरुषसे सिद्धि होती है। उस परिच्छेदका इस परिच्छेदके साथ यह सम्बन्ध है कि जिस दैव सहित पौरुषसे सिद्धि होती है वह दैव क्या है, कितने प्रकारका है और उस दैवका अर्जन किस प्रकार होता है ?

दैवके आस्रवमे एकान्त पक्षका शकाकार द्वारा प्रस्ताव—इस परिच्छेदमे दैवके अर्जनकी बात मुख्यतया कही जा रही है, दैवका आना इसका नाम है आस्रव दैव कही बाहरसे नही आया करता, किन्तु इस जीवके प्रदेशमे ही एक क्षेत्रावगाहरूपसे कार्माण द्रव्य विस्रसोपचय रह रहे हैं अर्थात् ऐसी वर्गणायें ऐसे अणुओंका समूह जो कि कर्मरूप बन जाता है उसे कहते हैं कार्माण वर्गणा। तो जो कार्माण वर्गणा अभी कर्मरूप तो नही है किन्तु जीवके साथ बन रही है वह जीवमें अनुकूल भावका निमित्त पाकर पुण्य और पापरूप बन्ध जाती है। तो पुण्यका आस्रव और पापका आस्रव किस प्रकार होता है, किस निमित्तसे होता है, जीवके किस भावका निमित्त पाकर होता है यह विवाद सुलझानेके लिए सब कहा जा रहा है। इस सम्बन्धमे किसी दार्शनिकका मंतव्य है कि दूसरे जीवके दुःखका जो हेतुभूत ही वह पुरुष अपनेमे पाप को आस्रवित करता है। और दूसरी सतानमे जीवके सुखका कारणभूत जो पुरुष है वह अपने आपमे पुण्यको अर्जित करता है। इस मन्तव्यका केवल इतना ही भाव है कि जो दूसरे जीवके दुःखका कारण बन गया वहाँ पाप अर्जित होगा और यदि किसी जीवके सुखका कारण बन गया तो वहाँ पुण्यका अर्जन होगा। इस प्रकार केवल दुःख हेतु और सुख हेतु रूपसे यहाँ पुण्य पापके अर्जनकी व्यवस्था बनायी जा रही है।

अन्तमे दुःख-सुखहेतुके पाप-पुण्यके आस्रवका एकान्त किये जाने वाली

शङ्काका समाधान—उक्त एकान्तके सम्बन्धमें केवल इतनेसे ही समाधान हो सकता है कि यदि दूसरे जीवमें सुख उत्पन्न होनेसे पुण्य बंध होता है, ऐसा एकान्त किया जाता है तो भला बतलाओ कि जो दुग्ध आदिक पदार्थ हैं वे तो दूसरे जीवके सुखके कारणभूत हैं फिर तो इन दुग्ध आदिकके भी, इन अचेतनके भी पुण्यका बंध होना चाहिए। ये भी बंध जायें, इसी प्रकार दूसरेके दुःखका उत्पादन होनेसे यदि पाप बंधता है तो कांटा आदिक जो कि दूसरोंके दुःखके कारण हैं तो वे भी बंध जायें, क्योंकि दूसरेमें सुख दुःखका उत्पादन तो हुआ है ना, इसके निमित्तसे इस कारण इतना मात्र कहना कि दूसरे जीवके दुःखका हेतु हो जाय पुरुष तो वह अपनेमें पापका आश्रव करता है अथवा दूसरे जीवमें सुखका हेतु हो जाय पुरुष तो वह अपनेमें पुण्यका आश्रव करता है। इसमें यह आपत्ति आती है कि दुःखका हेतु कंटक बन गया, वह भी अपनेमें पापका आश्रव कर बैठे और दुग्ध आदिक दूसरे जीवके सुखका कारण बन गए तो वह अपनेमें पुण्यका आश्रव कर बैठे, पर ऐसा होता तो नहीं। अचेतनके तो पुण्य पाप नहीं बंधते, इस कारण यह कहना ठीक नहीं कि दूसरेके दुःख होनेसे पाप होता है और दूसरेसे सुख होनेके पुण्य होता है।

परमें दुःखहेतु व सुखहेतु चेतनके बन्धव्यवस्थाका एकान्त माननेमें दोष प्रदर्शन—अब शङ्काकार यह कहता है कि भाई यह व्यवस्था चेतनमें लगाइये क्योंकि चेतन ही बन्धके योग्य है, तब यों व्यवस्था बनेगी कि दूसरे जीवमें सुखका जो कारण बना चेतन वह अपनेमें पापका आश्रव करता है और दूसरेके सुखका हेतु बना कोई जीव तो वह पुण्यका आश्रव करता है। तो इसके समाधानमें भी इतना ही कहना पर्याप्त है कि यदि कोई जीव दूसरे जीवके दुःखका कारण बनता है और इतने मात्रसे पापका बन्ध कर लेता है तो देखिये! जो वीतराग साधु पुरुष हैं वे भी दूसरे जीवके दुःखके कारण बनते हैं, बनते नहीं हैं, पर बहुतसे अज्ञानी जीव वीतराग साधुवोंको ही देख करके दुःखी होते हैं अथवा वीतरागी साधुजन जब शिष्योंपर अनुग्रह करके शिक्षा दीक्षा देते हैं और उसमें दूसरे कोई दुःख मानें तो दुःखका हेतु तो बन गया तो ऐसा संत भी पापसे बन्ध जाय अथवा दूसरे जीवोंके सुखका कारण बनता है कोई तो वीतराग पुरुष और बल्कि परमात्मा तक भी जिनकी कोई भक्ति करके सज्जन पुरुष आनंद का अनुभव करते हैं तो दूसरेके सुखके हेतु बन गए ना, तो उनके पुण्य बन्ध जायें, आदिक अनेक आपत्तियाँ आती हैं, इस कारण यह व्याख्या बनाना संगत न होगा कि दूसरे जीवमें दुःख होनेसे पाप बन्धता है और दूसरे जीवको सुख होनेसे पुण्य बन्धता है। शङ्काकार यहाँ कहता है कि भाई उन वीतराग संतोंमें अभिप्राय तो नहीं है दुःख अथवा सुख पहुँचानेका, तो जब मनका संकल्प ही नहीं है, उन साधुसंतोंके तो उनके बन्ध नहीं होता? इस शङ्काके उत्तरमें इतना ही कहना पर्याप्त है कि आपका जो कथन है वह युक्त है, फिर तो एकान्त आग्रह मत पकड़िये कि दूसरे जीवमें सुख उत्पन्न होना तो पुण्य बन्धका कारण है और दूसरे जीवमें दुःखका उत्पन्न होना पाप बंधका

कारण है, फिर यह एकान्त मत पकड़िये। फिर तो यह मानो अभिप्रायके अनुसार, जिसका जैसा आश्रव है उस आशयके अनुसार वहाँ आश्रव हुआ करता है।

दैवके अ स्रवके निमित्तका स्पष्टीकरण—आस्रवके सम्बन्धमे एक अत मर्मकी बात भी सुनो! वस्तुत. नवीन कर्मोंके उदयका आश्रय निमित्त उदयगत कर्म पड़ता है मूर्त पदार्थके आश्रयका कारण वह सजातीय मूर्त पदार्थ है। उदयमे आये हुए कर्म वर्गणाके निमित्तसे नवीन कर्म वर्गणाका आश्रव होता है, लेकिन उदयमे आये हुए कर्म वर्गणामे नवीन कर्मोंका आश्रव करनेका निमित्तपना आया। इसमे निमित्त होता है आत्माका शुभ अशुभ भाव। जिसके कारण यह प्रसिद्ध है कि जीवके रागद्वेष परिणामके निमित्तसे कर्मोंका आश्रव और बंध होता है वस्तुस्थिति यह है कि जीवोंके रागद्वेषादिक परिणामोंके निमित्तसे उदयागत कर्ममे नवीन कर्मका आश्रव बध करनेका निमित्तपना आता है और उदयागत कर्मके निमित्तसे नवीन कर्मका आश्रव और बध मोक्ष होता है। आश्रव क्या है? जो अकर्मरूप हैं वे कर्मरूप होगए यह आश्रव है और बध क्या है? कि कर्मरूप होकर वह ठहर गया। एक ही समयको कर्मरूप हुए और फिर न रहे कर्मरूप इस स्थितिमे नही हैं किंतु आगे समय भी कर्मरूप रहते हैं तो ऐसी उसके समय बधनमे स्थिति पडना यह होता है बधमे। जीवके साथ अनन्त कार्माण वर्गणायें ऐसी भी लगी हुई हैं जो इस समय कर्मरूप तो नही हैं पर कर्मरूप होनेके उम्मीदवार कर्मरूप होनेके लिए ही हैं वे, उनमे प्रकृति ऐसी है कि जीवके शुभ अशुभ भावोका निमित्त पाकर वे कर्मरूप हो जाते हैं। उनका नाम है विश्रसोपचय अर्थात् स्वभावमे ही उपचय मानना सग्रह रहना इसका नाम है विश्रसोपचय। यह इस प्रकार एक क्षेत्रावगाह रहता है कि मरण होनेपर भी जीवके साथ भवान्तर तक ये विश्रसोपचय साथ साथ जाते हैं। यद्यपि ये कर्मरूप नही हुए फिर भी ऐसा ही सम्बन्ध है, विश्रसा इनका उपचय है कि वे जीवके साथ एक क्षेत्रावगाहरूप रहते हैं। इन ही कार्माण वर्गणाओमेसे कुछ कर्म वर्गणायें अकर्मत्वरूप अवस्थाको छोडकर कर्मरूप अवस्थाको ग्रहण कर लेते हैं।

दैवके सम्बन्धका विवरण—बहुतसे लोग कहते तो अवश्य हैं कि जीवके तकदीर है। सब कुछ भाग्यके अनुसार होता है। ऐसा कहनेके लिए सभी उद्यत हैं, परन्तु वह भाग्य क्या है? इसके सम्बन्धमे बहुतसे लोग जानकारी नही रखते। किन्ही की कल्पना है कि कोई मस्तकमे रेखायें बन जाती हैं उसीका नाम तकदीर है और पडी हुई खपरियाँ देखकर जहाँ रेखा दिखी तो लोग कहते हैं कि ये भाग्यकी रेखायें हैं, तो कुछ लोग यो तकदीर मानते हैं। कुछ लोग भवितव्यको तकदीर कहते हैं, पर वस्तुत दैव क्या है? दैव है पौद्गलिक—द्रव्यकर्म, जो पुण्य और पापकर्मके रूपमे विभक्त है। उन पुण्यपाप कर्मका आश्रव कैसे होता है? आना और जाना किस तरह

होता है ? उस ही सम्बन्धमें यहाँ स्पष्टीकरण कर रहे हैं जिसमें पूर्वपक्ष [illegible] उनका अभी निराकरण किया जा रहा है । निष्कर्ष क्या होगा ? यह [illegible] कारिकाओंमें बतायेंगे । यहाँ इतना समझना कि केवल यही [illegible] नहीं है कि दूसरेमें दुःख उत्पन्न होनेसे पापका आश्रव होता है और दूसरेमें सुख उत्पन्न होनेसे पुण्यका आश्रव होता है । इस एकान्तका निराकरण करके अब दूसरे प्रकार पुण्य पापके आश्रवकी व्याख्या करने वाले मतव्योंको बतायेंगे और उनका निराकरण करेंगे।

पुण्यं ध्रुवं स्वतो दुःखात्पापं च सुखतो यदि ।
वीतरागो मुनिर्विद्वांस्ताभ्यां युञ्ज्यान्निमित्ततः ॥ ९३ ॥

स्वयके दुःखसुखसे पुण्यपाप बंधके एकान्तका निराकरण—अब कुछ दार्शनिक कह रहे हैं कि अपने आपमें दुःख होनेसे पुण्य बंधता है और अपने आपमें सुख होनेसे पाप बंधता है । इस शङ्काका तात्पर्य यह है कि जो महात्मा जन तपश्चरण करते हैं, कायक्लेश करते हैं तो अपनी दुःखमयी वृत्ति बनाते हैं तो उस प्रवृत्तिसे पुण्यका बंध होता है और वे उसके फलमें स्वर्गादिक गतिको प्राप्त करते हैं और जो [illegible] मोही रागी विषय कषायोंमें मग्न रहकर घरमें मौजपूर्वक रहते हैं, तपश्चरण [illegible] आदि, वैराग्यका कोई काम नहीं है, ऐसा कुछ लोगोंका मन्तव्य है । उसका समाधान अब करते हैं कि यदि अपनेमें दुःखके उत्पादनसे पुण्य माना जाय और सुखके उत्पादनसे पाप माना जाय तब तो जो जो वीतराग मुनि हैं वे भी पुण्यसे बंध जायेंगे, क्योंकि अब पुण्यका निमित्त माना है अपनेमें दुःखका उत्पादन और वीतराग साधुजन भी बड़े तपश्चरण संयम आदिक करके अपने आपको दृष्टिसे औरोंके अनुष्ठ [illegible] अपने [illegible] दुःख उत्पादन कर रहे हैं । इस स्थितिमें भी यह पुण्यसे बंध जायें [illegible] जो विद्वान मुनि हैं, जो तत्त्वज्ञानसे सन्तोष करता है, [illegible] [illegible] है ऐसे [illegible] विद्वान मुनिके सुख उत्पन्न हो रहा है, [illegible] है तो इस [illegible] पापका बंध हो जाय [illegible] होता तो नहीं । इस कारण यह [illegible] दुःख नहीं है कि अपनेमें दुःखका उत्पादन करनेसे पुण्य बंध होता है और अपनेमें सुखके उत्पादन करनेसे पाप होता है ।

ही कर पायेगा। जिन तत्त्वज्ञानियोको पुण्यका लगाव नही, पुण्यसे अपेक्षा है, पुण्यकी दृष्टि नही, किन्तु एक शुद्ध अविकार अन्तस्तत्त्वकी दृष्टि नही है उनके तो बध जाता है, पुण्य सातिशय और जो पुण्य चाहते हैं, पुण्यका लगाव रखकर पुण्य कार्य करते हैं उनके कहो पुण्य बधे ही नही। और बधे तो साधारण। तो पुण्यभाव अन्तर्भावपर आधारित है, इसी प्रकार पाप कर्मका भी बध अतरङ्ग भावपर आधारित है। स्वयभूरमण समुद्रमे दो मच्छ बताये गए हैं एक तदुल मत्स्य दूसरा राघव मत्स्य। राघव मत्स्य विशालकाय है, एक हजार योजनका लम्बा, ५०० योजनका चौडा और २५० योजनका मोटा, जिसका मुख कुछ मीलोका समझिये। और, वही उस राघव महामत्स्यके आँख कान आदिके पास तदुल मत्स्य फिरता रहता है तो यह निरखकर कि यह महामत्स्य मुहबाये पडा है, हजारो लाखो मछलियाँ इसके मुहमे फिर रही हैं, इसकी जगह यदि मैं होता तो एक भी मछली बचने न देता। सभी मछलियाँ खा लेता। अभिप्राय ही किया, कर कुछ नही सका वह तन्दुल मत्स्य, लेकिन इस अभिप्रायके कारण वह तन्दुल मत्स्य मरकर सप्तम नरकमे जन्म लेता है और वह राघव महामत्स्य जो कि अपना मुहबाये पडा रहता है, जिसके मुखमे हजारो मछलियाँ रात दिन फिरती रहती हैं, वह जब कभी अपना मुख दबाता और हजारो मछलियाँ खा जाता, वह मरकर छठे नरकमे जाता है। तो यह पाप बध सब भावोपर आधारित है।

पुण्यपापबधके हेतुमे ऐकान्तिकताका निराकरण—अपने आपको दुख देनेसे पुण्य हो यह बात नही, क्योकि साधुजन वीतराग पुरुष कितने भी तपश्चरणमे हैं, वनमे हैं, नग्न हैं, निरपेक्ष हैं, किंतु वे अपने भीतरमे दुखी नही हैं, सन्तुष्ट हैं, क्योकि आनन्दमे ही यह सामर्थ्य है कि उद्धत कर्मोंको जला देवे। कष्टमे सामर्थ्य नही। दुखरूप भावपरिणाम तो स्वय क्षुब्ध है वह तो आश्रवका कारण है, कर्म निर्जराका साधन कैसे हो सकता है? शुद्ध आनन्द ही उद्धत कर्मोंको जला देता है। तो भले ही मोही जीवोको ऐसा लगता हो कि ये साधुसत जन कितने काय क्लेश करते हैं, कितने दुख उत्पन्न करते हैं, कितने तपश्चरण करते हैं, लेकिन उनको दुख नही है, वे अन्त तृप्त सन्तुष्ट आनन्दमय हैं। इसी प्रकार कितने ही पुरुष बाहरमे सुखी नजर आते हैं, वे बडे ठाठमें हैं, बडा ऐश्वर्य है, ऐसे चक्रवर्ती सम्यग्दृष्टि हो तो वैभव तो उनके पास भी है, हजारो राजा शिर नवाते हैं, अनेक सेवक हैं, देव भी जिनकी रक्षा करते हैं। देखनेमे ऐसा लगता है कि यह तो बडे मौजमे हैं, लेकिन भीतरमे उस सुखमे उन्हें प्रीति नही है, वे तो अपने अध्यात्मरससे अनुभवसे ही आनन्दित रहते हैं। तो अपनेमे दुख उत्पन्न करें, इससे पुण्य होता यह भी बात नही जैसे कि पहिली गाथामें बताया था कि दूसरेके दुख उत्पन्न हो तो उससे पाप होता है यह ठीक नही, तो यहाँ बतला रहे हैं कि स्वयमे दुख हो उससे पुण्य होता है यह भी ठीक नही। इसी प्रकार जैसे पूर्व कारिकामे बताया गया था कि दूसरेमे सुख उत्पादन

करनेसे पुण्य होता है, तो जैसे वह कथन निर्दोष न था उसी प्रकार इस कारिकामे जो यह बताया गया है कि यदि स्वयमे सुख उत्पन्न हो तो पाप होता है, यह निर्दोष कथन नही है। पुण्य और पापका बध सकल्पपर है। अपने आपमे उत्पन्न हुए कषाय भावपर निर्भर है। भले ही कोई साधु अपने आपको साधु जानकर समताके यत्नमे रहता है, समझाता है, शत्रु मित्रको बराबर मानता है और कभी ऐसी घटना घट जाय कि कोई शत्रु उन्हे कोल्हूमे पेल दे तो ऐसी स्थितिमे भी उस शत्रुपर क्रोध नही लाते। इतनी समता कर रहे, किंतु अभिप्राय उनका यह है कि मैं मुनि हू, मुझे क्रोध न करना चाहिये। यो अपनी पर्यायका महत्त्व समझना है। इस कारण इतनी समता इतनी बाह्य शाति होनेपर भी मिथ्यात्व सम्बन्ध बध उनके बराबर दूर नही होता। तो यह पुण्य पापका बध जीवके भावोपर निर्भर है। दूसरेमे दु ख करनेसे अथवा स्वयमे दु ख करनेसे वा परमे सुख करनेसे या स्वयमे सुख करनेसे पापपुण्य बधका नियम नही है, अत ये दोनो ही एकान्त सिद्ध नही होते।

विरोधान्नोभयैकात्म्यं स्याद्वादन्यायविद्विषाम्।
अवाच्यतैकान्तेऽप्युक्तिर्नावाच्यमिति युज्यते ॥ ९५ ॥

पुण्यपापास्रवहेतुके सम्बन्धमे उभयैकात्म्य मन्तव्यकी अयुक्तता—यहां तृतीय दार्शनिक कहता है कि दूसरे पुरुषमे दु ख देनेसे पापका बध होता है और परमे सुख उत्पन्न करनेसे पुण्य बधता है। इस सिद्धान्तमे इसके एकान्तमे यदि विरोध आता है तो ठीक है, इसे मत मानो और इस द्वितीयपक्षसे कि अपने आपमे दु ख होनेसे पुण्य होता है और अपने आपमे सुख होनेसे पाप होता है इस पक्षमे भी यदि विरोध आता है तो इसे भी मत मानो। किन्तु तब यह तो मान लेना चाहिए कि किसी जगह दूसरे मे दु ख सुखसे पाप पुण्य होता है तो किसी पुरुषके अपनेमे दु ख सुखसे पुण्य पापका बध होता है। यो दोनोका एकान्त अलग अलग घटनाओमे मान लिया जाय, ये अलग अलग उपयोगी बनेंगे यह सिद्धात फिर निष्कर्षरूपमे आता है सो ही आना चाहिये। इसके उत्तरमे कहते है कि इन दोनो पक्षोका एकान्त भी विरोध होनेसे नही माना जा सकता। केवल परमे दु ख होनेसे या सुख होनेसे पाप पुण्यका कही बध हो यह बात जैसे युक्त नही है ऐसे ही अपने आपमे दु ख होनेसे पुण्य बधता है और अपनेमे सुख होनेसे पाप बधता है यह भी युक्त नही, तब फिर दोनो ही मान लेना चाहिए कि कही तो पूर्वपक्षकी बात रहती है, कही द्वितीय पक्षकी बात रहती है, सो यह भी युक्त नही है, क्योकि उभय एकान्तमे भी विरोध है। जैसे इन दोनोमे विरोध आना चाहिए, प्रथक प्रथक एक एक धर्मके माननेमे तो जहाँ ये दोनो ही धर्म मान लिए गए और उनके एक दूसरेकी अपेक्षा न की तो वहां भी विरोधकी बात होगी।

पुण्यपापास्रवहेतुके सम्बन्धमे अवक्तव्यैकान्त मन्तव्यकी अयुक्तता - अव

चतुर्थ दार्शनिक कहता है कि तब तो अवाच्य मान लेना चाहिए तत्त्वको, पुण्य पापके बंधके मर्मको अवाच्य समझना चाहिए। वह सर्वथा अवक्तव्य है, कहा ही नही जा सकता। तो समाधानमे पूछते हैं तो क्या वह अवक्तव्य शब्दसे भी नही कहा जा सकता है। यदि नही कहा जा सकता तो तुम कैसे अवक्तव्य कह रहे? और यदि कहा जा सकता है तो सर्वथा अवक्तव्य न रहा, वक्तव्य भी बन गया। देखिये! अपमेंने या अन्य पुरुषमे सुख और दुःख उत्पन्न होनेसे पुण्य ही बंधता है या पाप ही बंधता है या दोनो ही बंधते हैं ऐसा कहने वालेका मन्तव्य युक्त नही है, तो इसी तरह समझना चाहिए कि अवक्तव्यके एकान्तमे भी अवक्तव्य है इस वचनसे भी न कहा जा सकेगा और कह तो रहे ही हो सो यह स्ववचन विरोधी बात है कि अवक्तव्य शब्दसे उस तत्त्वको वक्तव्य बनाकर भी सर्वथा अवक्तव्य रटे जा रहे हो अतः यह अवक्तव्यैकान्त भी अयुक्त है। तात्पर्य यह है कि पुण्य पापके आश्रवके कारणके सम्बन्धमे स्याद्वाद नीतिसे विचार करना चाहिए। तो वह विचार किस प्रकार है इसी बातको अगली कारिकामे कहते हैं।

विशुद्धिसंक्लेशाङ्गं चेत् स्वपरस्थं सुखासुखम् ।
पुण्यपापास्रवो युक्तो न चेद्व्यर्थस्तवार्हत ॥ ९५ ॥

विशुद्धि संक्लेशाङ्ग स्वपरस्थ सुख दुःखकी पुण्यपापास्रव हेतुता—अपनेमे या परजीवमे सुख दुःख होनेसे पुण्य पापके आश्रव बताये गए हैं सो यह बात युक्त नही है, किंतु उसमे यह रहस्य है कि यदि विशुद्धिका अङ्ग बनकर सुख दुःख हुआ है तो विशुद्धिके कारण वहाँ पुण्य बंध हुआ है अथवा संक्लेशका अङ्ग न बनकर यदि सुख दुःख हुए हैं या अपनेमे या पर जीवमे तो वह पुण्य पापका आश्रव हेतु बन सकता है। तो जहाँ विशुद्धि है वहाँ पुण्य है, जहाँ संक्लेश है वहाँ पाप है इसका स्पष्ट अर्थ यह है। पुण्य और पापका आश्रव क्या है? सो सुनो! विशुद्धिके कारणका या विशुद्धिके कार्यका या विशुद्ध स्वभाव वालेका तो पुण्याश्रवमे कारणता है अर्थात् विशुद्धिके कारणभूत जो भाव है, जो परिणति है वह तो पुण्य अवका कारणभूत है और विशुद्धिके कार्यका विशुद्धि परिणति होनेके कारण जो मन, वचन, कायकी चेष्टा हुई है वह भी पुण्याश्रवका कारण होता है और विशुद्धिके स्वभाव वाले तत्त्वसे विशुद्धस्वभावसे विशुद्ध परिणामसे जिस परिणाममें विशुद्धि है उस परिणामसे पुण्यका आश्रव होता है। किंतु, ऐसा सुख दुःख चाहे खुदमे हो या परमें या दोनोंमें मिल कर जो संक्लेशका कारण है अथवा संक्लेशका कार्य है, संक्लेश परिणाम करनेके कारण ही जो सुख दुःख है वह स्वयं संक्लेश स्वभावरूप है, उस सुख दुःखके वर्तमान होनेमे संक्लेशभाव बन रहा है तो वह पापाश्रवका कारण होगा। इसके आश्रवमें मुख्यता विशुद्धि और संक्लेश है, विशुद्ध परिणामसे तो पुण्यका आश्रव होता है वह चाहे विशुद्धिका कारण हो या विशुद्धिका कार्य हो। अथवा वर्तमान ही स्वयं विशुद्ध

भाव वाला हो, उससे तो होगा पुण्यका आश्रव और अपनेमे या दूसरेमे या दोनोमे सुख हो, दुःख हो यदि वह संक्लेश कारणपूर्वक है, सक्लेशके कारण सुख दुःख है या उस सुख दुःखके होनेसे सक्लेश बढ रहा है तो उससे पापका बन्ध होता है।

पुण्य पापके बन्धकी विशुद्धि व सक्लेशभावपर निर्भरता—अथवा सुख है या दुःख है इसकी चर्चा न करके इस ओर दृष्टि न रखकर स्वय उस परिणतिको विचारें कि वह विशुद्ध स्वभावरूप है या सक्लेश स्वभावरूप है। यदि विशुद्ध स्वभाव है तो वह सब पुण्याश्रवका कारण होता है यदि सक्लेश स्वभाव है तो वह सब पापाश्रवका कारण होता है इस पद्धतिको छोडकर अन्य किसी प्रक्रियायें पुण्य पापका कारण नही बताया जा सकता। इसके विपरीत यदि माना जाय तो उसमे अनेक आपत्तियाँ आती हैं, अचेतन कण्टक दुग्धादिमे व अकषाय चेतनमे पुण्य पापका आश्रव हो जायगा। यो उक्त एकान्त वाली व्याख्यासे अचेतन पदार्थमे भी पुण्य पापका आश्रव का प्रसग आता है और स्वरूप दृष्टा उच्च ज्ञानीजनोके भी पुण्य पापके बधने आपत्ति आती है। इस कारण समझना चाहिए कि केवल दूसरेमे सुख होनेसे या दुःख होनेसे पुण्य पापका आश्रव नही होता। यहाँ निष्कर्ष यह निकला कि सक्लेश परिणाम होनेसे पापका आश्रव होता है और विशुद्ध परिणाम होनेसे पुण्यका आश्रव बधता है। दूसरे पदार्थमे कुछ हो गया दुःख सुख तो दूसरा अन्यपर क्या प्रभाव डाल सकेगा? दूसरेमे उत्पन्न हुए दुःख सुख दूसरे जीवमे प्रभाव नही डाल सकते, अथवा अपनेमे ही होने वाला दुःख सुख पुण्य पापके आश्रवरूपसे प्रभाव नही डाल सकता, क्योंकि पुण्य पापका आश्रव विशुद्ध और सक्लेश परिणाम पर ही निर्भर है।

कर्मोंके आस्रवहेतुओंमे विशुद्धि व सक्लेश भावका दिग्दर्शन—अष्ट कर्मोंके आश्रव जो कि तत्त्वार्थसूत्रमे बताये गए हैं उन आश्रवोंमे यह बात पायेंगे कि जो पाप प्रकृतियोके आश्रव बताये गए हैं उनमें कारण है सक्लेशभाव और जो पुण्य प्रकृतिके आश्रव बताये गए हैं उनमे कारण है विशुद्ध परिणाम। जैसे ज्ञानावरण दर्शनावरण मोहनीय व अन्तराय ये समस्त पाप प्रकृतियाँ हैं घातियाकर्म सभी पाप प्रकृतियाँ कहलाती हैं क्योंकि घातियाका अर्थ है आत्माके परिणामोका घातकर देना, तो जहाँ आत्माके परिणाम घाते गए ऐसा होनेका जो निमित्त हो वह तो पाप ही समझिये। तो उनका आश्रव बताया गया है ज्ञान दर्शनमे बाधा ढालना, ज्ञानदर्शनवानका मात्सर्य करना, ज्ञान दर्शनके साधनोका बिगाड डालना, ये सब बातें सक्लेश परिणामकी सूचक हैं। तो सक्लेश परिणामसे उन कर्मोंका आश्रव हुआ। वेदनीयमें साता वेदनीय पुण्य प्रकृति है, असाता वेदनीय पाप प्रकृति है। तो असाता वेदनीयका आश्रव सक्लेश परिणामसे दिखाया गया है, अपनेमें या दोनोमे दुःख करना, शोक करना, रोना, इन प्रवृत्तियोसे असाता वेदनीयका आश्रव कहा गया है और ये सब

परिणतियाँ संक्लेशके कार्य हैं। तो संक्लेश परिणाम हुआ तो पाप प्रकृतियोंका आश्रव है। ऐसे अन्य पुण्य पाप प्रकृतियोंका भी कारण विशुद्धि और संक्लेश है। यों पुण्य पापका आश्रव विशुद्धि और संक्लेश परिणामपर निर्भर है, सुख और दुःख भावपर निर्भर नही है। कहो अपनेमे सुख हो रहा है, उसीमें पुण्य भी बंधे, पाप भी बंधे अथवा कुछ भी न बंधे, अपनेमें दुःख हो रहा है, उससे कहो पुण्य भी बंधे, पाप भी बंधे, कोई नियम नही है, पर हाँ विशुद्धि और संक्लेश परिणामकी ओरसे नियम है। विशुद्ध परिणामके कारण जो कर्म बंधेंगे वे पुण्यरूप बंधेंगे वे पापरूप बंधेंगे। एक मुनि अन्तरमें तत्त्वज्ञानके कारण सुखी हो रहा, पर वह बंध नही रहा। कोई मुनि बड़े उत्कृष्ट तपश्चरण संयममे वृत्ति रख रहा जो कि एक अन्त बड़ा दुर्गमकार्य है और जो बाह्यमें बड़ा क्लेशरूप कार्य है, ऐसी वृत्तिमे रहकर भी पाप नही बंध रहा। तो ऊपर कहे गए उन एकान्तोमे व्यभिचार दोष आता है, इस कारण वह एकान्त युक्तिसंगत नही है।

संक्लेश परिणामोंके विवरणमे इष्टवियोग व अनिष्टसंयोगज आर्त ध्यानका वर्णन—संक्लेश किसे कहते हैं? इस बातका अब विवरण कर रहे हैं। आर्तध्यान और रौद्रध्यानके परिणामका नाम संक्लेश है। आर्तध्यान कहते हैं उसे जो पीडामे होवे। आर्तका अर्थ है पीडा, आर्तमे होने वाले ध्यानका नाम है आर्तध्यान वह आर्तध्यान चार प्रकारका है—इष्टवियोगज, अनिष्टवियोगज, वेदनाप्रभव और निदान। इष्ट पदार्थका वियोग हो जानेपर उसके संयोगके लिए जो ध्यान बनता है उसे इष्टवियोगज आर्तध्यान कहते हैं। इसमे पीडा स्पष्ट है। कुटुम्बमे किसी इष्टका वियोग होनेपर उसको दुःख किस बातका रहता है? इष्टके संयोगमे जो मौज माना जा रहा था वह नही रहा। ऐसी स्थितिमें यह आशा होती है, चाह होती है कि वह इष्ट फिर मिल जाय, जानकर भी कि जो गुजर गया वह नहीं मिलनेका है, फिर भी किसी न किसीरूपमे यह इच्छा बनी रहती है और उस इच्छामे उस आशामें यह अपना क्लेश और बढा लेता है। तो इष्ट पदार्थका वियोग होनेपर उसके संयोगके लिए ध्यान बनाये रहनेका नाम है इष्टवियोगज आर्तध्यान दूसरा आर्तध्यान है अनिष्ट संयोगज। अनिष्ट पदार्थका जो कि अपने मनमे नही रुच रहा है, समागम हो जाय, तो उसके वियोगके लिए जो ध्यान चलता है उसका नाम है अनिष्टसंयोगज आर्तध्यान। अनिष्ट पदार्थ वह कहलाता है जो अपने इन्द्रिय और मनके विषयमे बाधा दे या इससे प्रतिकूल हो, ऐसे विषयोका समागम मिले कि जो हमारे विषयमे बाधा डाले तो वहाँ यह आशा और इच्छा प्रकृत्या होती है कि यह पदार्थ मिले। तो अनिष्ट पदार्थका संयोग होनेपर उसके वियोगके लिए जो ध्यान बनता है वह अनिष्ट संयोगज आर्तध्यान है, इससे भी पीडा स्पष्ट है। उस पीडासे यह अपनी इच्छा बनाता है और उस ही इच्छासे अपनी पीडाको द्विगुणित कर लेता है।

वेदनाप्रभव व निदाननामक आर्तध्यानका वर्णन—तीसरा आर्तध्यान है वेदनाप्रभव। वेदना उपस्थित होनेपर उसके दुःखका अनुभव करना यह है तीसरा आर्तध्यान। शारीरिक रोगकी पीडा होनेपर उसमें दुःखका अनुभव होना, उस दुःखमे हाय हाय करना, बेचैनी बनाना आदि ये सब वेदनाप्रभव आर्तध्यान कहे जाते हैं। चौथे आर्तध्यानका नाम है निदान। जो ऐश्वर्य प्राप्त नही है उसकी प्राप्तिका सकल्प करना निदान कहलाता है। निदानमे भी पीड़ा स्पष्ट है। ऐश्वर्य अपनेसे भिन्न पदार्थ है। धन वैभव हो, लौकिक प्रतिष्ठा हो, किसी भी प्रकारका ऐश्वर्य हो वह अपनेसे भिन्न चीज है, उसकी प्राप्तिका सकल्प करना यह एक मोहका काम है। इस सकल्प मे यह जीव निरन्तर दुःखी रहता है। क्या मिला ? मिलना चाहिए, इस ओर जब इसका उपयोग मुड गया तो वहाँ चैन नही रह पाती है। तो निदानमें भी बराबर पीडा बनी हुई है। ऐसी पीडाकी स्थितिमे पीडित होकर जो ध्यान बनता है आशा साथ रखकर वह सब आर्त ध्यान कहलाता है। इसमे प्रमुखता आशाकी है आशाके होनेपर इन स्थितियोमें दुःख कई गुणित हो जाता है, और आशा स्वय ही दुःखरूप है जैसे जीवका स्वरूप निरखा जाय तो सबसे निराला केवल अपने स्वरूपमात्र है। इसको क्या, कहाँ है पीडा ? किसी भी प्रकारका क्लेश नही है, लेकिन जब यह अपने आपके इस स्वतत्र स्वरूपमे ठहर नहीं पाता बाहरके पदार्थमे यह अपना लगाव बनाता इसका दुःख बन जाता, दुःख बढ जाता है। तो आशा महान दुःखजयी स्थिति है। उसके सम्बन्धमे ये सब चार आर्तध्यान सक्लेश परिणाम रूप कहलाते हैं।

सक्लेश परिणामके विवरणमे हिंसानन्द व मृषानन्द नामक रौद्रध्यान का वर्णन—रौद्रध्यान चार प्रकारका है हिंसानन्द, मृषानन्द, चौर्यानन्द और विषय-सरक्षणानन्द। हिंसा करते हुएको देखकर आनन्द मानना, दूसरा हिंसा कर रहा हो उसमे आनद मानना, हिंसा करते हुएको देखकर खुश होना, यह सब हिंसानन्द रौद्रध्यान कहलाता है। इसमे क्रूरता बसी हुई है, व्यक्त रूप तो इसका मौजका है। रौद्रध्यानमें यह जीव खुश हो रहा है, मौज मान रहा है पर इसके अन्त क्रूरता पडी हुई है। उस क्रूरता का इतना दुष्फल होता है जो इसे बडी कुगतियोमे जन्म लेना होता है। अनेक क्रूर पुरुष जिन्हे यहाँ भी देखा जाता है वे हसते हैं, पशु पक्षियो पर छुरी चलाते हैं, दुःश होते जाते हैं तो ऐसा मौज माननेकी स्थितिमें क्रूरता भरी हुई है। जीव तडफ रहा है और उसकी तडफ पर यह खुश हो रहा है, ऐसे क्रूर परिणामको हिंसानन्द रौद्र-ध्यान कहते हैं, मृषानन्द रौद्रध्यान—झूट बोलनेकी प्रकृति बन जाय, झूठ बोल बोलकर यह अपना मौज माने झूठ बोलनेमे दूसरेको हानि हो, सर्मिन्दा होना पडे कैसी ही स्थितियाँ हो उनको देखकर यह मौज मानता है, झूठ बचनोमें अपना लगाव बनाना, मौज मानना यह सब मृषानन्द रौद्रध्यान है। इसमे बडी क्रूरताका परिणाम पडा हुआ है। क्रूर है दूसरा दुःखी होगा, लेकिन यह झूठ बोलकर अपने आपको खुश

रखना चाह रहा है । यह बात मक्लेश परिणामके विना नही बनती । इन सबसे मक्लेश बनता है और सक्लेशके कारण यह ध्यान बनता है । झूठ बोलनेमे मौज माननेको मृषानन्द रौद्रध्यान कहते हैं ।

चौर्यानन्द व विषयसरक्षणानन्दनामक रौद्रध्यानका वर्णन—तीसरा रौद्रध्यान है चौर्यानन्द । चोरी करके मौज मानना अपने विषय साधन बनाना, इसमे कितनी क्रूरता पडी है । जिसकी चीज चोरी चली जाती है वह कितना दु खी होगा है ? थोडी भी वस्तु यदि गिर जाय या उसे कोई चुराले तो वह बडा क्लेश मानता है । चोरी करना, डाका डालना, जबरदस्ती धन हरना ये चोरीके ही रूप हैं । अदत्त पदार्थको ग्रहण करनेका नाम चोरी है । जो पुरुष अपना धन दे नही रहा है उसकी निगाह बचाकर, उसकी सोती हुई स्थितिमे वस्तुको उठा लेना सो अदत्तका आदान है मालिक अपने मनसे धन नही दे रहा है, किन्तु डकैत मारनेका वचन कहकर अथवा छातीपर बन्दूक तानकर, नङ्गी तलवार दिखाकर उसके ही हाथसे तिजोरी खुलवाकर धन ले लेता है वह भी अदत्तका आदान है । जब भाव देनेका नही है तो वह अदत्त है वह भी चोरी है । चोरी करके मौज मानना, उसमे अपने जीवनको सुखी समझना इसमे क्रूरता बसी हुई है, और वह सक्लेश परिणामका कारण है और संक्लेश परिणामका कार्य है । ऐसी चोरी करते हुएमे आनन्द मानना सो चौर्यानन्द नामका रौद्र ध्यान है । चौथा रौद्रध्यान है विषय सरक्षणानन्द । पाँच इन्द्रियके पाँच विषय हैं— स्पर्शन इन्द्रियका विषय स्पर्श है, रसना इन्द्रियका विषय रस है, घ्राण इन्द्रियका विषय गध है, चक्षु इन्द्रियका विषय रूप है और श्रोत्र इन्द्रियका विषय शब्द है । ये सब पौद्गलिक हैं । इन पुद्गल पर्यायोमे सुख मानने वाले आसक्त जीव इन साधनोंका सग्रह जुटाते हैं और कुछ सग्रह होगया तो उसे देख देखकर आनन्द मानते हैं तो पञ्चेन्द्रियके विषयोका सरक्षण करते हुए आनन्द माननेका नाम है विषयसरक्षणानन्द । इस स्थितिमे भी उस सकलयिताके क्रूरता बसी हुई है । जगतमे विषयके साधन परिमित हैं और जीवोकी सख्या व आशा इससे कई गुना है तो ये विषय किस किस जीवके पास जायें ? अनेक जीव इन विषय साधनोके विना तडफते रहते हैं, भूखे प्यासे रहे, इनके अनुभव भोगके लिए तरसते रहते हैं, ऐसी स्थितिमे इन विषयोका सरक्षण अधिक रखना, इसका अर्थ यह है कि बहुतसे जीवोपर इसने अदयाकी । इसके चित्तमे यह बात भी नही आती है कि पडोसके बहुतसे लोग बडे दु खी हैं इनको भी कुछ विषय साधन मिलना चाहिए, किसीका कुछ हो, सारा लोक दरिद्र हो जाय, पर हमारे विषय साधनोका सरक्षण बहुत अधिक बढता रहे, ऐसी बुद्धि रहती है, जिसमे क्रूरता बसी हुई है । और ऐसी क्रूरताके कारण विषयोका सरक्षण करते हैं और विषयोके सरक्षणसे क्रूरताकी बडी वृद्धि होती है । यो विषय सरक्षण करते हुए आनन्द मानने का नाम है विषय सरक्षणानन्द नामका रौद्रध्यान ।

बन्धहेतुओंके विवरणमे भी पापबंधकी संक्लेशनिबन्धनताका दिग्दर्शन—शास्त्रोमे इस प्रकारका वर्णन किया गया है कि मिथ्या दर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये बंधके कारण हैं। तो इस प्रकारके विवेचनमे कोई परस्पर विरोधकी बात नही है। ये सभीके सभी संक्लेश परिणाम मूलक हैं। जहाँ आर्तध्यान किया वहाँ भी संक्लेश है, जहाँ रौद्रध्यान हुआ वहाँ पर भी संक्लेश है। वहाँ परिणामोमे विशुद्धि नही है, निर्मलता नही है, शान्ति नही है इसी प्रकार जो बधके हेतु बताये गए हैं वे भी सब संक्लेश परिणाममें ही तो हैं। भले ही इनमे जब कषायोकी मंदता होती है तो विशुद्धिकी बात कही जाती है, पर प्रकृति इसके संक्लेशकी ही है। वह संक्लेश कम हो गया, अतीव कम हो गया और इतना कम हो गया कि उसमे कुछ शुभकी ओर ढलनेके कारण विशुद्धिका बना लिया, किन्तु बहुलतया जो संक्लेश मे ही था, सो उसकी जड तो संक्लेश ही है, ये सब संक्लेशके ही तो कार्य हैं। इनमें संक्लेश है, संक्लेशमे बन्धकी परम्परा रहती है। मद कषाय होनेपर विशुद्ध परिणाम होनेपर इसकी उत्तरोत्तर प्रगतिमे फ़िर बध हेतुओंकी उपपत्ति नहीं बन सकेगी, इसकी धारा न रह सकेगी। इस कारण ये सब संक्लेश परिणाम ही हैं। मिथ्यादर्शन आदिक ता आर्तरौद्रध्यानके परिणामके कारण ही हैं। इस कारण ये सब क्लेशके अंग ही तो हुए। जैसे कि संक्लेशका कार्य हिंसा आदिक क्रिया है, किसी जीवके संक्लेश भाव होते हैं तो उस संक्लेश भावसे प्रेरित होकर हिंसा आदिक क्रियाओमे प्रवृत्ति होती है, तो यो ही समझिये कि संक्लेश परिणाम होनेके फलमे ये मिथ्या-दर्शन आदिक हैं, आर्तरौद्रध्यान हैं, सो ये सभीके सभी संक्लेश परिणाम होनेसे पाप बधके कारण हैं। ये सब दुर्ध्यान ही पापके साधन हैं। दूसरोमे सुख पैदा हो, दुख पैदा हो इन वातोसे या अपनेमे सुख हो दुख हो, इन वातोसे पुण्य पापके बधका निर्णय नियमित ठीक नही रह पाता, तब यहाँ यह निर्णय रखना कि संक्लेश होनेसे पापका बंध होता है।

पुण्यपापास्रवके हेतुके विषयमे प्रकृत कथनका तत्त्वार्थ सूत्रके कथनसे अविरोध—इस प्रसंगमे यह शङ्का उठाई जा सकती है कि प्रकृतमे तो यह कहा जा रहा है कि जो संक्लेशाङ्ग हो वह पापाश्रव है अथवा जो विशुद्धयङ्ग हो वह पुण्याश्रव है, किन्तु यहाँपर सूत्र जीमें बताया गया है कि शरीर वचन और मनकी क्रियाका नाम योग है और वह आश्रव कहलाता है तथा इसके ही विशेष विवरणमे बताया गया है कि शुभयोग पुण्यका आश्रव है और अशुभयोग पापका आश्रव है। तब प्रकृत वातसे इस सूत्र कथित बातमे विरोध आ जायगा। ऐसी शंका सहसा कोई कर सकता है, पर विवेकपूर्वक विचार करनेपर यह शङ्का समूल नष्ट हो जायगी। कारण यह है कि प्रकृतमे यह जो बताया है कि जो संक्लेशका अंग है वह पापाश्रव है सो संक्लेशके अंग का अर्थ क्यो है जो संक्लेशका कारण है। संक्लेशका कार्य है अथवा स्वयं संक्लेश स्वरूप है वह संक्लेशाङ्ग है इस प्रकार बताया गया है। विशुद्धयङ्गमे भी जो विशुद्धि

का कारण है, विशुद्धिका कार्य है अथवा स्वयं विशुद्धि स्वरूप है यह पुण्यका लक्षण कहा गया है, तो इस कथनमें मूल कथनका कोई विरोध नहीं है, क्योंकि काय, वचन, मनकी क्रिया भी जो अथवा इनके निमित्तसे हुआ योग भी जो संक्लेशताका कारण बताया जाय है इस कारणमें इसके संक्लेशताका बराबर मौजूद है। अथवा जो विशुद्धि का कारण और कार्यता भी है वहाँ विशुद्धता व्यवस्थित है। जैसे कोई पुरुष किसी को मारनेकी चेष्टा कर रहा है तो उसके संक्लेश परिणाम हुए और उन परिणामके कारण ही तो उसके शरीरकी ऐसी चेष्टा हुई कि जो दूसरेका घात करनेमें उद्यमी हो रहा है, यदि ऐसा होता कि मनुष्य संक्लेश तो करता नहीं और यों ही तलवार उठाकर शरीरसे दूसरेका घात करनेमें प्रवृत्त हो जाता तब तो विरोध कहा जा सकता था कि राग द्वेष तो रहा नहीं और पापकी क्रिया होने लगी पर यह काय, वचन, मनकी प्रवृत्ति भीतरके परिणामके अनुरूप ही तो हो रही है। बुद्धि पूर्वक जितनी क्रियायें की जाती हैं वे भीतरके भावके अनुरूप ही हैं, इस कारण प्रकृत कथनमें और मूल कथनमें विरोध नहीं आता, ऐसे ही विशुद्धिके प्रकरणमें समझना चाहिए कि कोई पुरुष भक्तिभावसे मन, वचन, कायसे लग रहा है, प्रभुके स्वरूपके स्मरणमें मन लग रहा है और प्रभु गुणगान गद्गद् वाणीमें कर रहा है और पूजन, वंदन, नमस्कार आदिक शारीरिक क्रियायें कर रहा है तो उसके परिणाममें मन्द कषाय है, विशुद्ध भाव है, सहज परमात्म तत्त्व और उसके विकासके प्रति अनुराग है, जब ये चेष्टायें हुई हैं तो यहाँ भी विशुद्धिके कारणमें कार्यपनेसे ही तो काय, वचन, मनकी क्रिया हो रही है। तो विशुद्धिका सब यहाँ बराबर व्यवस्थित है तो इसी कारण पुण्यास्रव हो रहा है।

विशुद्ध परिणामका ब्यौरा—विशुद्ध परिणाम, संक्लेश परिणामके अभाव में होता है, और ऐसी विशुद्धि सम्यग्दर्शन आदिक परिणामोंका भी कारण हो जाती है। सम्यग्दर्शन यद्यपि स्वयं अविकार भाव है शुभ अशुभपनेसे रहित एक विशुद्ध श्रद्धा गुणका प्रकट प्रसन्न भाव है, फिर भी सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिसे पहिले किसी भी पुरुष के संक्लेश परिणाम नहीं रहते। संक्लेश परिणामके अनन्तर सम्यग्दर्शन परिणाम नहीं होता, हाँ आपेक्षिक भले ही कह दिया जाय कि सम्यक्त्व होनेपर भी किसीके संक्लेश परिणाम होता है तो उसकी भवस्थिति अधिक होती है। अधिक समयके बाद वह मुक्त हो सकेगा। लेकिन सम्यक्त्वकी जब उत्पत्ति हो रही हो उससे पहिले परिणाम संक्लेशका न हो सकेगा, क्योंकि सम्यक्त्वकी आविर्भूति स्वानुभूतिके साथ साथ होती है। स्वानुभूतिमें ही सम्यक्त्व प्रकट होता है। बादमें फिर सम्यक्त्वकी प्रतीति रहती है। और, वहाँ कभी कुछ संक्लेश परिणाम भी हो सकता है। लेकिन सम्यग्दर्शन आदिक भावोंकी आविर्भूतिका कारण तो यह विशुद्धि है अर्थात् सम्यक्त्वकी उत्पत्ति से पहिले विशुद्ध परिणाम हुआ करता है और वह विशुद्धि है धर्मध्यान, शुक्लध्यान-

यद्यपि शुक्लध्यानमे राग नही है अथवा अत्यन्त मंद राग है, पृथक्त्व वितर्क विचार शुक्लध्यानमे ध्याताके राग भी है लेकिन अतिमंद राग है और शेष तीन शुक्ल ध्यानो के समय राग नही है वीतराग अवस्था फिर भी सम्बन्ध होनेके कारण यह कहा गया है अथवा यथासम्भव शुक्लध्यानमे इस विशुद्धिका सम्बन्ध समझ लेना चाहिए। तो विशुद्धि धर्मध्यान और शुक्लध्यानरूप है, और वह है विशुद्धिके कार्यरूप और विशुद्धिके कारणरूप और विशुद्धिके स्वभावरूप है, क्योंकि विशुद्धिके होनेपर ही आत्मामे अवस्थिति सम्भव है।

आज्ञाविचय व अपाय विचय धर्मध्यानरूप विशुद्ध परिणाम—धर्मध्यान चार प्रकारका है आज्ञा विचय, अपाय विचय, विपाक विचय और संस्थान विचय। भगवान वीतराग सर्वज्ञदेवकी आस्था मुख्य करके जो चिंतन होता है, तत्त्वविचार होता है वह आज्ञा विचय धर्मध्यान है। उस धर्मध्यानमे श्रद्धाहीन आज्ञाकी बात नहीं है। श्रद्धा तो सब सम्यग्दृष्टियोके समान ही है। निर्णय है, सयुक्त ज्ञान है फिर भी भगवानके गुणोकी महिमाके उपयोगसे गद्गद होकर आज्ञा प्रधानतामें वह तत्त्वचिंतन चलता है। जैसे कोई तत्त्वकी यथार्थताका महत्त्व जानकर जिसकी परम्परासे हमे यह ज्ञान प्राप्त हुआ है उनकी ओर भक्तिसे गद्गद होकर बोला जाता है। धन्य हो प्रभु, तुम्हारी अनुपम करुणा है जो ऐसा उपदेश और वस्तुस्वरूपका बोध पाया जाता है। तो यो आज्ञाकी प्रधानतामें जो तत्त्व चिन्तन चलता है वह आज्ञाविचय धर्मध्यान है। अपायविचय धर्मध्यान—इसका दूसरा नाम उपायविचय भी है। अपाय नाम विनाश का भी है और अपाय नाम साधनका भी है। रागादिक परिणाम जीवके वैरी हैं। जगतमे रुलाने वाले हैं। इन परिणामोसे कैसे छुटकारा हो, इन विकारोका कैसे अपाय हो, विनाश हो? इन सम्बन्धमे जो चिन्तन चलता है वह अपायविचय धर्मध्यान है। रागादिकका अभाव होनेपर आत्मामे विशुद्ध कैवल्य दशा प्रकट होती है। उस कैवल्य दशाकी कैसे प्राप्ति हो? उसके उपायके सम्बन्धमे चिन्तन चलना उपाय विचय धर्मध्यान है।

विपाकविचय धर्मध्यानरूप विशुद्ध परिणाम—तीसरा धर्मध्यान है विपाकविचय, कर्मोंके फलमे चिन्तन चलना। बड़े बड़े महापुरुषोने भी कर्मोंके तीव्र उदयमें उपसर्ग प्राप्त किया, विपत्तियाँ आयी उनका स्मरण करके कि कर्मका विपाक दुर्निवार है, बड़े बड़े महापुरुषोको भी उपद्रवमें आना पड़ा। भले ही वे महापुरुष थे, किंतु उन विपत्तियोको सहा, धीरतासे उन्होने सब उपद्रव सहा लेकिन कर्मविपाक दुर्निवार है और उससे शिक्षा यह प्राप्त की जाती है कि ऐसे कर्म बांध लेना हमारे भावोपर निर्भर है। उसकी सावधानी रखना चाहिए। कभी कोई ऐसी दुर्वासना न बने कि जिसके कारण कर्मबंध हो। कर्मबंध कर लेना अभी यहाँ सरल लग रहा है

किंतु विपाक काल आनेपर फल भोगना पडता है । तब यह जीव आकुलित होता है । भले ही कोई पुरुष वर्तमानमें सुख सुविधा, महिमा प्रतिष्ठा होनेके कारण पापकार्य की उपेक्षा कर जाय, क्या होता है ? मेरा कोई क्या बिगाडेगा ? और भले ही चाहे वह अशुभ प्रवृत्तियोमे रहकर अपने मनुष्य जीवन तक प्रतिष्ठा आदिक चीज पा ले लेकिन कर्मविपाक तो अपनी कला दिखायेगा ही ! आयुका क्षय होकर एकदम आमूल परिवर्तन हो जाता है । कहो अभी तो मनुष्य हैं और मरण करके कीडा मकौडा बन जायें । तो देखिये ! एकदम विचित्र परिवर्तन हो जाता है । उससे हमें शिक्षा मिलती है कि हम अपनेमे सावधान रहे ताकि विकट पापकर्मोका आश्रव न हो और उनके फलका अवसर न आये । विपाकविचय धर्मध्यानमें आत्महितकी शिक्षा लेते हुए कर्मोके विपाकका चिन्तन चलता है ।

संस्थानविचय धर्मध्यानरूप विशुद्ध परिणाम–संस्थानविचय धर्मध्यानमे लोकके आकारका और भूत भविष्य कालकी घटनाओका चिन्तन चलता है । जिन साधुसंतोके उपयोगमे यह विशाल तीन लोक ज्ञात रहा करता है उनके वैराग्यकी वृद्धिका सहज अवसर है । जिसने वर्तमान पायी हुई इज्जतके सीमितक्षेत्रको ही सब कुछ समझा है, इससे बाहर और विशाल लोक विस्तारपर दृष्टि नहीं है ऐसे पुरुषोके राग बढता है । जैसे चित्तमे यह ३४३ घनराजू प्रमाण लोक दृष्ट हो रहा हो, इतना महान क्षेत्र है उसको सहसा ही वह भाव होगा इतने बडे क्षेत्रके सामने यह परिचित क्षेत्र कितना सा है । बडेसे समुद्रके आगे बिन्दु बराबर भी नहीं है । तब इतनेमे क्या चाहना, क्या लगाव रखना । यो संस्थान विचक धर्म ध्यानमे वैराग्यकी पराकाष्ठा रहता है । जिनके चित्तमे भूतकाल और भविष्यकाल अनन्त है यह बात समायी है वे वर्तमान समागममे लगाव न रखेंगे । इतनेसे क्या गुजारा है ? वर्तमान समागममें लगाव रखनेसे आत्माका कोई कल्याण नही है, यह बात स्पष्ट विदित रहती है । तो संस्थान विचय धर्म ध्यानमें वैराग्यकी वृद्धि है, विशुद्धिकी वृद्धि है, यों धर्म ध्यान विशुद्ध स्वभावरूप है । विशुद्ध होनेपर धर्म ध्यान होता, धर्म ध्यान होनेसे विशुद्धि बढती और धर्म ध्यान वर्तनेका परिणाम भी स्वयं विशुद्ध स्वरूप है । ऐसे विशुद्ध परिणाममे पुण्यका आश्रव होता है । यद्यपि सम्यग्दृष्टि पुरुषमे इस विशुद्धिके समय भी निर्जरा चल रही है पर निर्जरा है उस वैराग्यके आधारपर । जो कुछ भी वहाँ वैराग्य है, और आश्रव है, सब भावोके आधारपर है । यो चाहे स्वमे या परमे या दोनोमें सुख हो या दुःख हो, यदि विशुद्धिका अङ्गभूत परिणाम है तो वहाँ पुण्याश्रव है और इसी प्रकार यदि संक्लेशका अगभूत है तो वहां पापाश्रव है ।

विशुद्धि परिणामात्मक पृथक्त्व वितर्क विचार व एकत्व वितर्क अविचार शुक्लध्यान—रागकी कालिमासे रहित चिन्तनको शुक्ल ध्यान कहते हैं ।

। चार प्रकारके होते हैं पृथक्त्व वितर्क विचार, एकत्व वितर्क अविचार, सूक्ष्म क्रियाप्रतिपाती, व्युपरत क्रिया निवृत्ति। पृथक्त्व वितर्क विचार शुक्लध्यान ऐसी स्थितिके ध्यानका नाम है जहाँ रागद्वेषकी कालिमाको कुछ भी प्रकट रूप नहीं है, किन्तु रागद्वेषका उदय साथ है और उसके संस्कारके कारण जहाँ एकाग्र चिन्तनमे इतनी स्थिरता नहीं है कि मन, वचन, काय, योगमेंसे जिस योगका ध्यान किया जा रहा हो उस योगमे ध्यान करते हुए टिक सके। पृथक्त्व वितर्क विचार शुक्लध्यानमे इतनी स्थिरता नही है कि जिस शब्दके माध्यमसे एकाग्र चिन्तन चल रहा है उस ही शब्दके माध्यमसे व चिन्तन चलता रहे। इस शुक्लध्यानमे यह स्थिरता नही है कि जीवादिक तत्त्वोमेसे जिस किसी भी पदार्थको विषय करके अथवा गुण पर्यायको विषय करके चिन्तन चल रहा हो उस ही विषयमे चिन्तन एकाग्रतासे अधिक समय चल सके। तो जहाँ शब्द अर्थ और योगकी संक्रान्ति रहती है ऐसे शुक्लध्यानका नाम पृथक्त्व वितर्क विचार शुक्लध्यान है। इस शुक्लध्यानमे रागद्वेषकी प्रकट कालिमा नही है, इस कारण वहाँ विशुद्धि परिणाम विशेष है और विशुद्धिके अंग होनेसे अर्थात् विशुद्धि स्वरूप ध्यान होनेसे वह पुण्याश्रवका हेतु होता है। दूसरे शुक्लध्यानका नाम एकत्व वितर्क अविचार। जब रागद्वेष अशमात्र भी नही रहता, अप्रकट रूप भी नही है, जहाँ रागद्वेषके कारणभूत प्रकृतिका क्षय हो गया है, ऐसी स्थितिमे यह एकत्व वितर्क अवीचार शुक्लध्यान होता है। इस शुक्लध्यानमे जिस पदार्थका चिन्तन चल रहा है उसी पदार्थमे चिन्तन चलता रहता है जब तक कि केवलज्ञान न हो। जिन शब्दोसे जिन योगोमे रहकर यह शुक्लध्यान चल रहा है उस ही प्रकार चलता है अपनी अन्तिम स्थिति तक। इसके बाद केवलज्ञान उत्पन्न हो जाता है, तो इस शुक्लध्यानकी स्थितिमे बहुत ही विशुद्ध परिणाम है, विशुद्ध क्या, वीतरागता का परिणाम है। इस परिणाममें साता वेदनीय नामक पुण्य प्रकृतिका आस्रव होता है। इस शुक्लध्यानके प्रतापसे केवलज्ञान उत्पन्न हो जाता है।

सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाति व व्युपरत क्रिय निवृत्ति नामके शुक्लध्यान— केवलज्ञान उत्पन्न होनेपर द्रव्यमन तो रहता है, किन्तु भावमन नहीं रहता। अब यहाँ यह वीतरागी आत्मा सर्वज्ञ केवल ज्ञान द्वारा समस्त लोक समस्तकालवर्ति पदार्थोको एक साथ स्पष्ट जानता है इस गुणस्थानमे एकाग्र चिन्तनका काम नही है और इसी कारण यहाँ ध्यान भी नहीं होता। किन्तु १३ वें गुणस्थानके अन्तमे ऐसी स्थिति होती है कि जहाँ कर्मोकी निर्जरा विशेष होती है और चूंकि कर्मोकी निर्जरा इस ध्यान की प्रकर्षताके समय होती रही थी इस कारण उपचारसे यहाँ ध्यान बताया गया है और उस ध्यानका नाम है सूक्ष्मक्रिया प्रतिपाती। १३ वें गुणस्थानका नाम है सयोग केवली। जहाँ केवलज्ञान हो चुका है, वीतरागता पूर्ण प्रकट हुई है, किन्तु कर्म विपाक वश योग चलता रहता है उस कारण उसे योगसहित केवलज्ञानी कहते हैं। यह योग

उस गुणस्थानके अतिम क्षणोंमे नष्ट होनेके लिए होना है तो सूक्ष्म योग बन जाता है। उन सूक्ष्म योगके लिए जो परिणाम होना है सहज जो योगकी स्थिति होती है उस समयके उपयोगको सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाती ध्यान नामसे कहा है। उस गुणस्थानके अन्तमें योग नष्ट हो जाता है और वह अयोग केवली नामका गुणस्थान है। उस गुणस्थानमे व्युपरतक्रियानिवृत्ति नामक शुक्लध्यान है। यहाँ न योग नष्ट करनेका काम रहा न अन्य कोई प्रयत्न रहा फिर भी जो अघातिया कर्म शेष है उनकी निर्जरा क्षय उस गुणस्थानमे होती है उस कारण उसे व्युपरत क्रियानिवृत्ति कहते हैं। यो चार प्रकारके शुक्लध्यान सक्लेश परिणामके अभावमें हैं और अतिम तीन शुक्ल ध्यानोमे तो शुभ राग भी नही है, फिर भी ध्यानके प्रकरणमे चूकि निर्जरा विशेप उन स्थितियोमे होती है अत उनका नाम दिया गया है। जब सक्लेश परिणाम नही रहता तो विशुद्धि होती है और वह विशुद्धि सम्यग्दर्शन आदिकका कारण है, इस बातके प्रकरणमे इन समस्त ध्यानोका वर्णन किया गया है। उस विशुद्धिके होनेपर ही आत्मामे अवस्थिति सम्भव है, अत विशुद्धिका महत्त्व बताया गया है।

विशुद्धयङ्ग व सक्लेशाङ्ग स्वपरस्थ सुखासुखको पुण्यपापास्रवहेतुता का समर्थन—उक्त कारिकामे यह कहा गया कि विशुद्धिका अङ्गभूत यदि स्व या परमे स्थित सुख दु ख हैं तो वे पुण्याश्रवके हेतु हैं और सक्लेशके अङ्गभूत यदि स्व अथवा परमे रहने वाले सुख दु ख हैं तो वे पापाश्रवके हेतु हैं। उक्त कथनसे वे सब प्रवृत्तियाँ भी मिल गयी हैं और प्रवृत्तियाँ संक्लेश और विशुद्धिके कार्यभूत हैं उनमे भी पुण्याश्रव और पापाश्रवकी व्यवस्था है। ऐसे जो काय वचन मनकी क्रिया अपने या दूसरेके सुख दु खका कारण है वह सक्लेश कारणके कार्यस्वभाव वाला है अत प्राणियोंके अशुभ फल वाले पुदगलके बध करानेके कारण बनते हैं, क्योकि वे सब सक्लेशके ही तो अङ्ग हैं, सक्लेशके कारणसे ही हुए हैं। जैसे कि कोई विष भक्षण करे तो उसके अनुकूल जैसे काय आदिककी क्रिया होती है ऐसे ही जब आत्मामे सक्लेश परिणाम उत्पन्न होता है तो उस समय काय वचन मनकी क्रिया भी ऐसी होती है जिसको पापाश्रवका हेतुभूत कहा गया है। इसी प्रकार जो शुभ काय वचन मनकी क्रिया है जो कि स्व और परके सुख दु खके कारणभूत भी हो लेकिन विशुद्धि कारण के कार्य स्वरूप है इस कारणसे प्राणियोंके शुभ फल देने वाले पुण्यका बध करानेके कारण बनते हैं, क्योकि वे मन, वचन, कायकी क्रियायें उस समय विशुद्धिके अगभूत हो रही हैं। विशुद्ध परिणामके कारण मन, वचन, कायकी ये सभी चेष्टायें हुई, अत-एव जो बात विशुद्ध परिणमोंसे सम्भव है वही इन काय आदिक चेष्टाओमे हुआ करती है। यो विशुद्ध परिणामके अगभूत होकर जो स्व अथवा परमे रहने वाला सुख दु ख है वह पुण्याश्रवका कारणभूत है। जैसे पथ्य आहार व्यायाम आदिक क्रियायें करनेपर काय आदिककी क्रियायें स्वस्थ रहती हैं इसी प्रकार विशुद्ध परिणामके होनेपर ये सब

काय आदिककी क्रियायें विशुद्ध कहलाती हैं और वे पुण्यास्रवके कारणभूत हैं। इन्ही शुभ फलवाले कर्मोंका नाम है पुण्यकर्म और अशुभ फलवाले कर्मोंका नाम है पापकर्म।

कर्मोंकी मूल प्रकृतियाँ—पुण्य पाप कर्म अनेक प्रकारके होते हैं। कर्मोंकी मूल प्रकृतियाँ ८ प्रकारकी होती हैं—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय ज्ञानावरण कर्मकी प्रकृति है कि वह ज्ञानका आवरण करे अर्थात् जिन पौद्गलिक कर्मोंका उदय होनेपर जीवके ज्ञानगुणका विकास नहीं हो पाता अथवा कुछ विकास रुक जाता है, ऐसे पौद्गलिक कर्मोंको ज्ञानावरण कर्म कहते हैं। दर्शनावरण कर्मका अर्थ है ऐसा पुद्गल कर्म जो आत्माके दर्शन गुणका आवरण करे अर्थात् जिन कर्म प्रकृतियोंका उदय होनेपर आत्माके दर्शन गुणका विकास न हो सके। वेदनीय कर्मकी प्रकृति है दो किस्मकी। जिन पुद्गल कर्मोंके उदय होनेपर इन्द्रिय सुख अथवा इंद्रिय सुखके योग्य समागम प्राप्त होते हैं वह है सातावेदनीय और जिन पुद्गल कर्मोंका उदय होनेपर जीवको असाता क्लेश उत्पन्न होता है, इन्द्रियमनके द्वारा ऐसा उपभोग प्राप्त हो जिसमे यह जीव क्लेश मानता है उसे असाता वेदनीय कहते हैं। मोहनीय कर्मकी दो प्रकारकी प्रकृतियाँ पड़ी हुई हैं। जिन कर्म, पुद्गलोंका उदय होनेपर आत्मा सम्यक्त्व प्राप्त न कर सकेगा, जिनके उदयके निमित्तसे सम्यक्त्व का घात हो उनको दर्शन मोहनीय कहते हैं और जिन पौद्गलिक कर्मोंका उदय होने पर आत्मा उल्टे चरित्रमे चले, विपरीत आचरण करे उसे कहते हैं चारित्रमोहनीय। आयुकर्मकी प्रकृति है कि वह जीवको शरीरमे रोके रहता है अर्थात् जिन पौद्गलिक कर्मोंके उदय होनेपर जीव विशिष्ट शरीरमे रुका रहे उसका नाम है आयुकर्म। नाम कर्मकी प्रकृति है नाना प्रकारके संस्थान संहनन, शुभ अशुभ आदिक अनेक प्रकारके शरीरोकी रचना करना अर्थात् नामकर्मके उदयसे इस जीवको नाना प्रकारके शरीरो की प्राप्ति होती है। जैसे लौकिक जन इस खोजमे हैरान हैं कि यह सब जगत जो बना है, इतने कीड़े मकोड़े स्थावर पशुपक्षी मनुष्य आदिक जो बनते चले जा रहे हैं इनका बनाने वाला कौन है? इस समस्याके समाधानमे अनेक जनोंके वस्तुस्वरूप नजर आ नही सका, किन्तु यह कल्पना हो गई कि कोई एक ऐसी शक्ति है, ऐसा श शक्तिमान कोई ईश्वर है जो इन सब प्राणियोंको रचता रहता है। इस सम्बन्ध तथ्य यह है कि जीव अपने भावोंसे जो शुभ अशुभ नामकर्मका बंध करते हैं उनका उदय होनेपर सहज स्वयमेव ही ऐसे शरीर वर्गणाओंका सम्बन्ध होता है कि जो अमुक प्रकारके, अमुक इन्द्रिय वाले, अमुक शुभ अशुभ शरीररूप परिणाम जाता है। गोत्रकर्मकी प्रकृति है ऊंच नीच कुलका व्यवहार बनाना। जिस कर्म पुद्गलके उदय होनेसे यह जीव उच्च कुलमें जन्म लेता है उसे तो उच्च गोत्र कर्म कहते हैं तथा जिस कर्मके उदयसे जीव लोक निन्द्य कुलमें जन्म लेता है उसे नीच गोत्र कर्म कहते हैं। अन्तराय कर्मकी प्रकृति है जीवके इष्टमें विघन होना। जैसे कोई पुरुष कुछ दान करना

चाहता है, करनेमे उद्यमी है लेकिन उसमे बाधायें आ जायें, दान न कर सके किसीको कुछ लाभ होना है उसमे विघन आ जाय, भोगोपभोगमे विघन आ जाय। आत्माकी जो अनन्त शक्ति है वह प्रकट न हो सके, कुछ विघन बना रहे, ये सब अन्तराय कर्म की प्रकृतियाँ है।

पुण्य और पापप्रकृतियोके आस्रवमे विशुद्धयङ्ग व सक्लेशाङ्गभावकी कारणताका निर्णय—मूलमे कर्मोंकी प्रकृतियाँ ८ हैं और इनके भेद प्रभेदसे सब कर्म प्रकृतियाँ १४८ प्रकारकी होती हैं। उन १४८ प्रकृतियोमे भी नाना भेद पडे हैं। जो भेद प्रभेदोकी दृष्टिसे असख्यात प्रकारके हो जाते हैं। इन सब कर्म प्रकृतियोमे कुछ पुण्य प्रकृतियाँ हैं और कुछ पाप प्रकृतियाँ हैं। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय, इन चार कर्मोंकी ४७ प्रकृतियाँ तो पापरूप ही हैं। शेष बचे हुए कर्मों मे अनेक प्रकृतियाँ पुण्यरूप है और अनेक प्रकृतियाँ पापरूप हैं। तो इन समस्त शुभ अशुभ कर्मोंके आश्रव और बधका कारण ये विशुद्धिके अङ्ग और सक्लेशके अङ्गभूत परिणाम हैं। अब इन आश्रवोके सम्बन्धमे अब कोई एकान्त नही रहा और विशुद्ध सक्लेश परिणामपर चाहे स्वपरमे सुख हो अथवा दुःख हो, पुण्याश्रव और पापाश्रव की व्यवस्था बनती है।

अज्ञानाच्चेद्ध्रुवो बन्धो ज्ञेयानन्त्यान्न केवली।
ज्ञानस्तोकाद्विमोक्षश्चेदज्ञानाद्बहुतोऽन्यथा ॥ ९६ ॥

अज्ञानसे बन्धकी ध्रुवता माननेसे केवलीके अभावका प्रसङ्ग—आसव और आश्रवके प्रतिपक्षभूत सम्वरके सम्बन्धमे वर्णन करनेके बाद अब बध एवं मोक्षके सम्बन्धमे वर्णन किया जा रहा है कि बध किस प्रकार होता है और मोक्ष किस उपाय से होता है? और एक दार्शनिकका अभिमत है कि अज्ञानसे बध निश्चित है। अज्ञान का अर्थ है ज्ञानका न होना। यहाँ अज्ञान शब्दका अर्थ प्रसज्य प्रतिषेधरूप है तो प्रसज्य प्रतिषेधका अर्थ है ज्ञानका न होना। ज्ञानके न होनेपर क्या होना यह बात यहाँ विवक्षित नही है। ज्ञानका अभावमात्र अज्ञान कहलाता है। सो प्रसज्य प्रतिषेधरूप अज्ञान भावसे बध निश्चित है, ऐसा माना जाता है तो आपत्ति यह आती है कि ज्ञेय तो अनन्त हैं, उन अनन्त ज्ञेयोका ज्ञान न होनेसे फिर कोई केवली न हो सकेगा, क्योंकि अज्ञानसे तो बध होता जा रहा है, फिर उसको मोक्ष कैसे मिलेगा कि वह सकल ज्ञान मे आ जाय। यदि कहा जाय कि थोडा भी ज्ञान हो, उससे भी मोक्ष हो जाता है तो अब देखिये! इस कथनमे थोडा ज्ञान है जहाँ वहाँ अज्ञान कितना कहलाया? बहुत। तो बहुत अज्ञान होनेसे वहाँ बधका ही तो प्रसग होगा। तब यह पक्ष नही बनता कि ज्ञानके अभावरूप अज्ञानसे बध निश्चित ही है। यह अभिमत सांख्य सिद्धान्तका है,

जिससे यह कहा गया है कि समस्त संशय, विपर्यय अनध्यवसायसे रहित और अन्य ज्ञानकी सहायतासे रहित तत्त्वज्ञानका नाम केवल ज्ञान है और ऐसा केवल तत्त्वाभ्यास बने अर्थात् इस जगतमे मेरा कही कुछ नही है, मैं भी किसीका कुछ नहीं हूँ ऐसे अभ्यासके बलसे जब असहाय तत्त्वज्ञान बना तो ऐसे तत्त्वज्ञानसे विशुद्ध कैवल्य उत्पन्न होता है। ऐसा खुद सांख्य सिद्धान्तमें कहा गया है, और बताया गया है कि उस केवल के योगसे केवली कहलाता है। तो यहाँ यह बात समझना है कि ऐसा केवली क्यो नही हो सकता है जब कि यहाँ माना गया हो कि अज्ञानसे बंध निश्चित है। क्यो नहीं हो सकता है केवली ? इसका उत्तर यह है कि केवलकी उत्पत्तिसे पहिले समस्त ज्ञानका अभाव है और, जब तक समस्त ज्ञान न हो, ज्ञानका अभाव रहे तब तक बंध होना बिल्कुल निश्चित मान लिया है तब ऐसा अवसर कहाँसे आ सकेगा कि इसको कैवल्य उत्पन्न हो जा, क्योकि जब तक अशेष ज्ञान नही होता तब तक ज्ञानका अभाव होनेसे बंध निश्चित मान लिया गया है।

इन्द्रियज प्रत्यक्षके द्वारा अशेष ज्ञानकी निष्पत्तिकी असंभवता—उक्त अभिमतमे अशेषज्ञान क्यों नही हो सकता, इसका भी कारण सांख्य सिद्धान्तके अनुसार यह है कि इन्द्रियके द्वारा उत्पन्न हुआ जो विज्ञान है वह तो अतीन्द्रिय अर्थको विषय कर नही सकता, क्योकि इन्द्रियज ज्ञानमे इन्द्रियजन्य ज्ञानके विषयको जानने का ही सामर्थ्य है अतीन्द्रिय पदार्थको जाननेका सामर्थ्य नही है और अनुमान ज्ञान अत्यन्त परोक्ष अर्थको विषय नही करता, और आगम ज्ञान भी सामान्यरूपसे ही समस्त अर्थोंको अथवा विशेषरहित अर्थको विषय करता है और जो अयोगी पुरुष हैं उनके अशेष विषयक ज्ञानके साथ विरोध है। तब इन समस्त स्थितियोसे यह सिद्ध होगा कि अशेष ज्ञान कभी हो न सकेगा यहाँ अशेष ज्ञानके लिए होनेकी बात तब मानी जा सकती थी जब कि अतीन्द्रिय अर्थका ज्ञान हो जाय। समस्त पदार्थ प्रत्यक्षभूत हो जायें और एक एक करके समस्त अर्थोंका ज्ञान बने समस्त अर्थोंका ज्ञान करने के लिये यदि समस्त प्रमाण भी लग जाये सकलज्ञानको इसको उत्पन्न करनेमे तब भी समस्तका ज्ञान होना अशक्य है। ज्ञानके साधन और ज्ञानकी स्थितियाँ इतनी ही तो हैं। इन्द्रियजन्य ज्ञान बने, अनुमानज्ञान बने, आगमज्ञान बने, और जो ऊंचे पुरुष हो गए, उनका कोई ज्ञान बने, तो अब उनमे जो योगरहित हैं अथवा ससारी जीव हैं उनका ज्ञान बने, सो किन्हीके ज्ञानोकी यह सामर्थ्य नही है कि समस्त पदार्थोंका बोध कर सके। उसके लिए ये सब हेतु बताये गये हैं कि इन्द्रियजन्य ज्ञान तो अभिमुख नियमित अर्थको ही जानेगा, जो सामने हो, स्थूल हो, उनको ही समझ सकेगा। जो इन्द्रियातीत हैं, इन्द्रियके अगोचर हैं जैसे परमाणु आदिक उनका ज्ञान इन्द्रियजन्य ज्ञानसे हो नही सकता।

अनुमान और आगमसे अशेषज्ञानकी निष्पत्तिकी असंभवता—यदि

कहो कि इन्द्रियजन्य ज्ञानने उनका ज्ञान न हो सकेगा। तो अनुमान ज्ञानसे तो उनका जानना बन जायगा सो भी बात नहीं बन सकती, क्योंकि अनुमान ज्ञान तो परोक्षअर्थ को विषय नहीं करता। अनुमान ज्ञानमें यद्यपि प्रत्यक्षभूत पदार्थ विषयमें नहीं आया। जैसे कि पर्वतमें धुवाँ निरखकर अग्निका अनुमान किया कि इस पर्वतमें अग्नि होनी चाहिये धुवाँ होनेसे, तो इस अनुमानसे जो अग्निका ज्ञान किया वह अग्नि इन्द्रियद्वारा नहीं दिख रही है। तभी तो अनुमान किया गया लेकिन वह अग्नि सर्वथा परोक्षभूत हो सो बात नहीं, अग्निको कभी आँखों प्रत्यक्ष देखा था, अनेक बार देखा और चल करके उस अग्निको प्रत्यक्ष अब भी देखा जा सकता है, ऐसे ही अग्निका ज्ञान अनुमान से हुआ। अत्यन्त परोक्षभूत अर्थका ज्ञान अनुमानसे नहीं बनता। तो अनुमान ज्ञान भी समस्त पदार्थोंका ज्ञान करनेमें समर्थ नहीं है। यदि कोई कहे कि इन्द्रियजन्य ज्ञान और अनुमान ज्ञान समस्त अर्थोंको नहीं जान सकता तो आगमके द्वारा तो समस्त अर्थ जान लिए जायेंगे। आगममें सबका विवरण है। और जो आगमको भली प्रकार अध्ययन करेगा उसको सब पदार्थोंका अविशेषरूपसे ज्ञान हो जाता है। सो इस तरह भी सकलज्ञता नहीं बन सकती, कारण यह है कि आगममें लिखा तो सब है मानलो और सबके सम्बन्धमें ज्ञान भी किया, किन्तु समस्त अर्थोंका ज्ञान सामान्यरूपसे किया? प्रतिनियत पृथक पृथक प्रत्येक पदार्थका विषय करते हुए आगमद्वारा ज्ञान नहीं बनता जैसे आगमने बताया है कि जीव अनेक हैं। परमाणु अनेक हैं, अनन्त हैं। अब अनन्त हैं ऐसा सामान्यसे जान तो लिया, मगर एक एक परमाणु जाना जा रहा हो, जैसे कि आँखोंसे निरखकर ये खम्भा भीट, किवाड़ आदि जैसे ये व्यक्तिशः समझ लिये जाते हैं यों ही व्यक्तिशः उन अनन्त जीवोंको या अणुओंको समझा गया हो आगम ज्ञानसे, ऐसा तो होता ही नहीं है। सबके अनुभव बता सकते हैं। तो जो पुरुष योगी नहीं हैं, जिनका संसारमें ही यहां निवास है उन पुरुषोंको समस्त तत्त्व विषयक ज्ञान हो ही नहीं सकता। सर्व विशेष जान जांय, ऐसे ज्ञानका अवसर आ ही नहीं सकता। तब सदैव बंध रहेगा तो न कभी कोई केवली हो सकेगा और न किसीका मोक्ष हो सकेगा तब यह कहना कि अज्ञानसे बंध निश्चित है यह बात युक्तिसंगत नहीं बनती।

ज्ञेयोंकी अनन्तताका समर्थन—कोई यह कहे कि भाई! पदार्थ तो उतना ही है जितना कि इन्द्रिय, साधन और शब्दके ज्ञान द्वारा परिच्छेद्य है। तो इन्द्रिय प्रत्यक्ष, और अनुमान आगमज्ञान इनसे जो कुछ जाना गया है पदार्थ उतना ही है, उससे अतिरिक्त कुछ पदार्थ नहीं है। जैसे कि सूक्ष्म अन्तरित दूर अर्थ वाले यहाँ कोई तत्त्व नहीं हैं सूक्ष्म हैं परमाणु आदिक और दूरवर्ती हैं मेरु आदिक लोककी रचनायें और बहुत दूरकी रचनायें हैं नरक स्वर्ग आदिक और अन्तरित कहलाये जो बहुत समय पहिले हो गये अथवा जो बहुत समय बाद होंगे। जैसे राम रावण आदि पुरुष ये अन्तरित हैं। तो यहाँ शङ्काकार कहता है कि सूक्ष्मका और दूरवर्ती पदार्थों

का और अन्तरित पदार्थोंका अस्तित्व ही नहीं। जो-कुछ सामने देखा जाता है या अनुमानसे परखा जाता है या आगम ज्ञानसे जाना जाता है बस पदार्थ उतना ही है, इससे अतिरिक्त नहीं है। ऐसी शङ्का रखने वाले लोग सही बोधपर नहीं है, क्योंकि सूक्ष्मसे सूक्ष्मतर, अन्तरितसे अन्तरिततर, दूरसे दूरतर अनेक पदार्थ हैं ही, यो ज्ञेय सब अनन्त हैं। अनन्तपना स्वयं शङ्काकार द्वारा भी माना गया है। जैसे कि, प्रकृति की पर्यायें अनन्त मानी गई हैं और पुरुष भी अनन्त माने गए हैं। स्वयं सांख्य सिद्धान्तमे भी प्रकृतिकी पर्याय विशेष अनन्त मानी गई और पुरुष भी अनन्त माना गया है इस कारण यह नहीं कह सकते कि ज्ञेय अनन्त होते नहीं हैं। देखो! यद्यपि मूल तत्त्व दो माने हैं—पुरुष और प्रकृति। और, उसमे भी प्रकृतिको एक माना है लेकिन प्रकृतिके जो परिणाम हैं, भेद हैं वे तो संख्यात, असंख्यात और अनन्त हैं। प्रकृतिसे क्या क्या उत्पन्न होता है और क्या क्या परिणाम बनते हैं? वे तो अनन्त माने गए हैं। प्रकृतिसे महान उत्पन्न होता है अर्थात् बुद्धि और उससे अहङ्कार बना, अहङ्कारसे अनेक इन्द्रियाँ बनीं, बुद्धि इन्द्रिय, कर्म इन्द्रिय और रूप, रस, गंध, स्पर्श आदिक। अब उनका विस्तार देखने जायें तो आँखो ही दीखने वाले जो रूपादिक हैं वे भी कितने हैं? जीव कितने हैं? व्यक्ति कितने जाने गए? यहाँ ही जब अनगिनते समझमे आ रहे तो समझ लीजिए कि प्रकृतिके वितर्क विशेष कितने हुआ करते होंगे? और पुरुष तो स्पष्ट अनन्त माने गए हैं। तो जब ज्ञेय अनन्त हो गए तो उनके ज्ञानका अवसर ही न आ पायगा। तो यह स्थिति न बन पायगी कि जहाँ अज्ञान न रहे। तो अज्ञानसे बंध निश्चित माननेपर यह दोष आता है कि कभी भी कोई केवली न हो सकेगा और मोक्ष भी कभी न हो सकेगा। और, जब यह आपत्ति आती तब फिर धर्म मार्गपर चलनेका प्रयोजन ही क्या रहा? समस्त धर्मोंका फिर लोप होजायगा।

ज्ञानस्तोकसे मोक्ष होनेका शङ्काकार द्वारा समर्थन व उसका निराकरण

सांख्य सिद्धान्तके अनुयायी यहाँ शङ्का करते हैं कि मोक्षकी व्यवस्था बराबर कायम रहेगी, क्योंकि आगमके बलसे उत्पन्न हुए और तत्त्वके अभ्यासके बलसे जो भेदविज्ञान आत्मामे प्रायोगिकरूप बना देता है ऐसी प्रकृति और पुरुषमे भेदविज्ञान होनेसे केवल ज्ञान होना बन जाता है और ऐसा केवलज्ञान होना यह ही उस पुरुषका मोक्ष है और वह ऐसा मोक्ष है कि फिर संसारमे अभाव हो जानेके कारण भविष्यमे फिर बंध नहीं होता। यो मोक्षकी व्यवस्था बराबर बनी हुई है। समाधानसे कहते हैं कि यह कथन अयुक्त है, क्योंकि थोड़े ज्ञानकी अपेक्षा जब बहुत अज्ञान वहाँ बना हुआ है तो बंध तो होगा ही। और, तब बंधका निरोध न हो सकनेसे मोक्ष हो ही न सकेगा। क्योंकि थोड़े भी ज्ञानसे केवल ज्ञानकी उत्पत्ति होती है और साथ ही यह भी कहा था कि अज्ञानसे बंध निश्चित है। तो जहाँ थोड़ा ज्ञान है, वहाँ अज्ञान तो बहुत है, तब वहाँ बंध ही होता, सो मोक्ष हो सकता। शङ्काकार कहता है कि बात यह है

कि थोडा भी तत्त्वज्ञान हो तो उस थोडे भी तत्त्वज्ञानके द्वारा बहुतसे अज्ञानकी शक्ति नष्ट कर दी जाती है इस कारण थोडा ज्ञान होनेकी स्थितिमे बहुत अज्ञानकी शक्ति नष्ट होनेके कारण सब अज्ञानके कारणसे होने वाला बध सम्भव नही होता । यो थोडे ज्ञानसे मोक्षकी उत्पत्ति बन जायगी । समाधानमे कहते हैं कि यह कथन भी सङ्गत नही है, क्योकि इस कथनमे तो स्वयकी की हुई प्रतिज्ञाका विरोध हो गया। जो पहिले प्रतिज्ञा की थी कि अज्ञानसे बध निश्चित् है तो अब यह अज्ञान तो बना हुआ है कि थोडा तत्त्वज्ञान है लेकिन उस अज्ञानमे बध नही हो रहा, तो जो प्रतिज्ञा की हुई है कि अज्ञानसे बध निश्चित् है उसका तो यहाँ विरोध हो गया ।

अखिल ज्ञानाभावसे बध होने और ज्ञानस्तोकमिश्रण वाले अज्ञानसे बध न होनेकी आशंकापर विचार—शङ्काकार कहता है कि बात यह है कि समस्त ज्ञानके अभाव होने वाले अज्ञानसे बंध निश्चित् होता है पर जहाँ थोडे भी ज्ञान का मिश्रण हो ऐसे अज्ञानमे बध नही होता तब प्रतिज्ञाका खडन कैसे होगा ? यदि सब अज्ञान हो, जरा भी ज्ञान न हो तो ऐसे अज्ञानसे बध होता रहेगा, किंतु जहाँ थोडा भी तत्त्वज्ञान बन गया तो उस समय ज्ञानका बिल्कुल अभाव कहाँ है ? कुछ ज्ञान तो है ना ! जहाँ बिल्कुल ज्ञान न हो ऐसे अज्ञानमे बध होता है । समाधानमे कहते हैं कि यह कथन भी समीचीन नही , क्योकि यदि ऐसा मान लिया जाय कि जहाँ थोडा भी ज्ञान न जगा हो उससे बध होता है । ऐसे मतव्यमे तो यह प्रसङ्ग आयगा कि सभी जीवोके सभी समय बधका अभाव हो जायगा । कारण यह है कि समस्त प्राणियोंमे कुछ न कुछ ज्ञान सदा सम्भव है । ऐसी कोई परिस्थिति न आयगी कि जहाँ ज्ञान बिल्कुल भी न हो और पूर्णतया अज्ञान हो । और जब ऐसी बात सभी प्राणियोंमे है कि कुछ न कुछ ज्ञान प्रत्येक प्राणियोमे रहता ही है तो बध होने का फिर मौका ही न रहा, क्योकि अब तो यहाँ यह कहा जा रहा है कि थोडा भी तत्त्वज्ञानका मिश्रण हो वहाँपर तत्त्वज्ञान नही होता । दूसरी आपत्ति यह आती है कि उक्त शङ्काके मतव्यमे कि मुक्त हो जानेपर भी या मुक्तकी दशामे भी बधका प्रसङ्ग होता रहेगा क्योकि मुक्तकी परिस्थितिमे तो समस्त ज्ञानोका अभाव हो गया, तो समस्त ज्ञानके अभावको बताया है बधका कारण, तो यो समस्त ज्ञानका अभाव बना हुआ होनेके कारण मुक्त अवस्थामे भी बध होने लगेगा ।

साख्य दर्शनके अनुसार मोक्षमे ज्ञानका पूर्णतया अभाव—कैसे समझा जाय कि मुक्तकी स्थितिमे समस्त ज्ञानका अभाव है तो सुनो । सीधी सी बात यह है कि साख्य सिद्धान्तमे ज्ञानको प्रकृतिका विकार माना है और वहाँ प्रकृतिका पूर्णतया छुटकारा हो जाता है, जहाँ पुरुष अपने स्वरूपमे मग्न हो जाता है वही तो उसका मोक्ष है । तो यो समझिये कि जो असम्प्रज्ञात योगकी स्थिति है असम्प्रज्ञातके मायने निरा-

लम्बन ध्यान, जहाँ निरालम्बन ध्यान बन जाता है, किसी भी बाह्यतत्त्वका आलम्बन नहीं है ऐसा विशुद्ध शुक्लध्यान जब हो जाता है तब यह द्रष्टा पुरुष अपने स्वरूपमें अवस्थित हो जाता है और स्वरूप क्या है जीवका ? वह है चैतन्यमात्र । पुरुषका स्वरूप चैतन्यमात्र है चैतन्यमात्रका अर्थ यह है कि समस्त ज्ञानसे रहित । समस्त ज्ञानसे हित है, चैतन्य स्वरूप, और उस स्वरूपमें हो गया पुरुषका अवस्थान और उस हीका म है मोक्ष । तो इसका अर्थ यह हुआ कि समस्त ज्ञानका जहाँ अभाव हो चुकता है ऐसी स्थिति मोक्षमें बनती है । तो समस्त ज्ञानके अभावको अब बतला रहे हो बंधका कारण । जहाँ कुछ भी ज्ञान नहीं है, ज्ञानका पूर्णतया अभाव है वह बंधका कारण है । सो पूर्णतया ज्ञानका अभाव मोक्ष अवस्थामें माना गया है तो देखलो—अब जो मोक्षका हेतु बताया गया है वही बंधका कारण बनने लगेगा । मोक्षका हेतु बताया है ज्ञानका अभावरूप चैतन्य स्वरूपकी प्राप्ति । सो यह ध्यानका रूप होनेसे मोक्षका हेतु बताया और अब देखिये । ज्ञानका अभाव है ना तो वहाँ हो गया अब जडरूप । बुद्धि जब साथमें नहीं हो तब उसमें जडता है, जडपना है । समस्त ज्ञानोंका अभाव हो गया तो वह हो गया जडरूप, क्योंकि ज्ञान तो बुद्धिका नाम है और वह है प्रकृतिका परिणमन उसे माना है चेतनसे (जीवसे) भिन्न । तो जब प्रकृतिसे छुटकारा हो गया मोक्षमें तो वहाँ समस्त ज्ञानोंका अभाव है ही । तो लो समस्त ज्ञानके अभावको बताया था बंधका हेतु और यह बात मिल गई मोक्षमें तो लो मोक्षमें भी बन्धका प्रसंग हो गया ।

तत्त्वज्ञानके प्रागभावसे बन्ध होने व प्रध्वंसाभावसे बन्ध न होनेकी आरेकापर विचार

अब शङ्काकार कहता है कि भाई तत्त्वज्ञानके प्रागभावसे बन्ध है पर तत्त्वज्ञानके प्रध्वंसाभावसे बंध नहीं है । तत्त्वज्ञानका प्रागभाव कहलाया तत्त्वज्ञानसे पहिले रहने वाला जो अज्ञान है वह उससे तो बंध है और तत्त्वज्ञान मिट करके जो समस्त ज्ञानका अभाव होता है उससे बंध नहीं है । सो तत्त्वज्ञानका प्रागभावरूप अज्ञान तो संसार अवस्थामें है और तत्त्वज्ञानका प्रध्वंसाभावरूप अज्ञान मोक्ष अवस्थामें है यों मोक्ष अवस्थामें होने वाला जो समस्त ज्ञानका अभाव है वह बंधका कारण न होगा, किन्तु तत्त्वज्ञानसे पहिले जो ज्ञानका अभाव है, अज्ञानदशा है उससे बंध होगा । समाधानमें कहते हैं कि फिर तो तत्त्वज्ञान जब उत्पन्न हो गया किसीके और किसी कारणसे कोई विपरीत ज्ञान कारण मिल जाय अन्तरङ्ग कारण, पापकर्म का तीव्र उदय आये वह तो है विपरीत ज्ञान आनेका अन्तरङ्ग कारण और कोई काच कामल आदिक दोष हो गए, इन्द्रियमें कोई दोष हो गए तो यह है मिथ्या ज्ञानका बहिरङ्ग कारण । सो किसी प्रकार अन्तरङ्ग कारण होनेसे या बहिरङ्ग कारण होनेसे विपरीत ज्ञानकी उत्पत्ति हो गई तो तत्त्वज्ञानका तो प्रध्वंस हो गया । किसी अज्ञानी जीवके किसी प्रकार यदि तत्त्वज्ञान बन गया तो उस समय तो वह ज्ञानी है । अब

कषाय करके ऐसी विपरीत चेष्टा की, उसका तत्त्वज्ञान मिट गया। पुनः पूर्वकी तरह अज्ञान आ गया तो अब जो यह अज्ञान आया है सो तो तत्त्वज्ञानके प्रध्वंस होनेसे आया है। तो तत्त्वज्ञानके प्रध्वंससे उत्पन्न हुआ अब यह अज्ञान बंधका कारण न बन सकेगा, क्योंकि अब तो यह कहा जा रहा है कि तत्त्वज्ञानके प्रध्वंसाभावसे बंध नहीं होता। यों समझिये सुगम विधिसे कि कोई जीव मिथ्याज्ञानी था और अब वह तत्त्वाभ्यासके बलसे सम्यग्ज्ञानी बन गया और पापकर्मका उदय आनेसे सम्यग्ज्ञानका हो गया प्रध्वंस और आ गया मिथ्याज्ञान तो ऐसे मिथ्याज्ञानसे बंध न हो सकेगा, क्योंकि यह अज्ञान तो तत्त्वज्ञानका प्रध्वंसरूप है। इस कारण यह भी नहीं कह सकते कि तत्त्वज्ञानके प्रध्वंसरूप ज्ञानभावसे तो बन्ध नहीं होता और तत्त्वज्ञानके प्रागभाव रूप ज्ञानभावसे बंध होता है।

तत्त्वज्ञान और मिथ्याज्ञान सकलज्ञानके अभावसे मोक्ष माननेकी शंका—अब शङ्काकार कहता है कि समस्त तत्त्वज्ञानकी उत्पत्ति होनेपर तो समस्त मिथ्याज्ञानकी निवृत्ति होती है। परन्तु असम्प्रज्ञात योगके उत्पन्न होनेपर अर्थात् निरालम्ब ध्यान बननेपर तो तत्त्वज्ञानका भी विनाश हो जाता है। उस समय मानो जीवके समस्त ज्ञानका अभाव होता है और ऐसे समस्त ज्ञानके अभाव होनेरूप अज्ञान से मोक्ष ही बनेगा और उससे भिन्न अर्थात् कुछ पदार्थका ज्ञान बना हुआ हो और वह चाहे सम्यग्ज्ञानका प्रागभाव हो अथवा सम्यग्ज्ञानका प्रध्वंसरूप हो, उस अज्ञानसे तो बंध ही होता है। इस शङ्काका अभिप्राय यह है कि ज्ञानभावकी दो स्थितियाँ हैं। एक तो समस्त ज्ञानका अभाव होना और एक कुछ ज्ञान बना रहता तो जब कुछ ज्ञान होता है अर्थात् तत्त्वज्ञान बन गया तो तत्त्वज्ञान हो जानेपर समस्त मिथ्याज्ञान का अभाव हुआ। अब कदाचित उस मिथ्याज्ञानका अभाव भी नष्ट हो जाय याने अन्तरङ्ग पापकर्मका उदय आनेसे तत्त्वज्ञान मिट जाय और फिरसे अज्ञान आ जाय तो यद्यपि वहाँ तत्त्वज्ञानका अभाव हुआ और मिथ्याज्ञान आया लेकिन उस अज्ञानसे बंध ही होगा, कारण यह है कि कुछ ज्ञान तो रहा ही, पर जहाँ तत्त्वज्ञानका भी नाश बिल्कुल हो जाय और ऐसी स्थितिमें होता है सम्पूर्णतया समस्त ज्ञानोंका अभाव तो ऐसे अज्ञान है मोक्ष ही होगा। जो तत्त्वज्ञानमें पहिलेका अज्ञान है उससे भी बंध होगा और तत्त्वज्ञान होनेके बाद तत्त्वज्ञान न रहकर फिर अज्ञान होता है उससे भी बंध होगा पर जहाँ किसी भी प्रकारका ज्ञान न रहे, न तत्त्वज्ञान रहे, न मिथ्याज्ञान रहे, ऐसे तत्त्वज्ञानका अभाव होनेसे जो ज्ञानका अभाव बनता है उससे मोक्ष ही होता है।

सकलज्ञानके अभावसे मोक्ष माननेकी शङ्काका समाधान—अब उक्त शंकाका समाधान करते हैं। शङ्काकारने यह कहा था कि तत्त्वज्ञान उत्पन्न होनेपर तो

सारा मिथ्याज्ञान ही तो अलग हुआ, लेकिन जब निरालम्बन ध्यान होता है तो वहाँ तत्त्वज्ञानका भी नाश हो जाता है। यों जहाँ मिथ्याज्ञान और तत्त्वज्ञान सभी ज्ञानोंका अभाव हो ऐसे अज्ञानसे तो मोक्ष ही होता है किन्तु उससे भिन्न प्रकारका अज्ञान हो, चाहे वह सम्यग्ज्ञानका प्रागभावरूप हो अथवा सम्यग्ज्ञानका प्रध्वंसरूप हो उससे तो बंध ही होता है। इस कथनमें आखिर प्रसंग वही आयगा कि केवलीका अभाव हो जाना चाहिए, क्योंकि जो आगे केवली होगा उसके छद्मस्थ अवस्थामें कितने ही ज्ञानोंका अभाव है ऐसा अज्ञान तो मानते ही हो। तो कितने ही ज्ञानोंका अभाव है इस प्रकारका सम्यग्ज्ञानका प्रागभाव है, और सम्यग्ज्ञानका प्रध्वंसाभाव भी है, तब वहाँ भी केवलीका अभाव हो जाना चाहिए। अब शंकाकार कहता है कि देखिये। थोड़ा तत्त्वज्ञान हो तो उससे अज्ञान प्रतिहत नहीं होता। थोड़ा तत्त्वज्ञान होनेसे अज्ञानका विघात नहीं हो पाता, तब इस प्रकारके ज्ञानसे वह चाहे सम्यग्ज्ञानका प्रागभाव हो, चाहे प्रध्वंसरूप हो, वहाँ बंध होगा ही। समाधानमें कहते हैं कि यह कथन भी विरुद्ध है। थोड़ा तत्त्वज्ञान हो और उससे समस्त अज्ञानका विघात हो नहीं, ऐसी स्थितिमें प्रवर्तक धर्म है पुण्य है उसका हेतुभूत जो थोड़ा तत्त्वज्ञान है जो कि पुण्यका हेतु बनता हो, जिसकी कि समस्त अज्ञान शक्तिप्रतिहत हो गयी हो तो ऐसे थोड़े तत्त्वज्ञानसे फिर पुण्यका बंध भी न हो सकेगा। इस कारण ज्ञानके अभावरूप अज्ञानसे बंध अवश्य ही होता है यह पक्ष युक्तिसंगत नहीं बैठता। जैसे कि थोड़े तत्त्वज्ञानसे मोक्ष होता है यह पक्ष युक्तिसंगत नहीं बैठता। बंध और मोक्षकी व्यवस्था मात्र अज्ञान व ज्ञानसे नहीं है, क्योंकि जहाँ अज्ञान है वहाँ किन्हीं अंशोंमें ज्ञान भी है। जहाँ ज्ञान है वहाँ किन्हीं अंशोंमें अज्ञान भी है। सो ज्ञान और अज्ञानसे बंध मोक्षकी व्यवस्था जो सांख्य सिद्धान्तमें की जा रही है वह यहाँ युक्तिसंगत नहीं बैठती।

मिथ्याज्ञानरूप अज्ञानमें बन्धकी अवश्यंभाविताकी शङ्काकार द्वारा

कथन—अब यहाँ शङ्काकार कहता है कि अज्ञानसे बंध निश्चित है, इसका अर्थ हम प्रसज्य प्रतिषेधरूप अज्ञान न लगायेंगे, किन्तु पर्युदासरूप अर्थ लगायेंगे, याने अज्ञानका अर्थ है मिथ्याज्ञान। अब तर्क चर्चा अज्ञानके इस अर्थपर की गई है कि ज्ञानका अभाव, लेकिन अज्ञानका अर्थ हम ज्ञानका अभाव न करेंगे किन्तु मिथ्याज्ञान करेंगे। तब तो यह बात युक्तिसंगत बन जायगी कि मिथ्याज्ञानरूप अज्ञानसे बंध निश्चित होता है। सांख्य आगममें कहा भी यह है कि धर्मसे तो ऊपर गमन होता है अर्थात् स्वर्गमें गमन होता है और अधर्मसे नीचे गमन होता है अर्थात् नरक आदिक अधोगतियोंमें गमन होता है और ज्ञानसे मोक्ष होता है तथा अज्ञानसे बंध होता है, ऐसा लिखा है आगममें उसके बलपर यहाँ यह बात मान लेना चाहिये कि मिथ्याज्ञान लक्षणवाले अज्ञानसे बंध निश्चित होता है, और भी बताया गया है आगममें कि विपरीत जो मिथ्याज्ञान है वह सहज और आहार्य आदिक प्रकारका होता है। याने कोई मिथ्याज्ञान सहज

होता है और कोई मिथ्याज्ञान नैमित्तिक होता है। परिणामादिक कारणसे भी मिथ्या ज्ञान हो जाता है, जैसे आँखमे कोई दोप हुआ और उनमे हम चांदीको सोना समझने लगे तो वह आहाय मिथ्याज्ञान है और अनेक घटनाओमे सहज मिथ्याज्ञान है। कोई इन्द्रियमे दोप नही फिर भी भ्रम पड जाता है। यो मिथ्याज्ञान सहज और आहार्य दो प्रकारसे होता है। इस वचनसे यह सिद्ध होता है कि मिथ्याज्ञान लक्षणवाले अज्ञान से वध निश्चित है।

पर्युदास अर्थवाले अज्ञानसे बन्ध होनेकी आशङ्काका समाधान—अब उक्त शंकाके समाधानमे कहते हैं कि यह कथन भी असत्य है। जो यह कहा गया कि मिथ्याज्ञानरूप अज्ञानसे वध होता है और मिथ्याज्ञान है दो प्रकारके सहज मिथ्याज्ञान और आहार्य मिथ्याज्ञान। तो सुनो। जिस पुरुपने पहिले अन्य आगमोको सुना माने सांख्य सिद्धान्तके आगमको नही माना अन्य सिद्धान्तोको सुना और उन सिद्धान्तोको सुननेसे अनेक प्रकारके आहार्य विपर्यय हो गए अर्थात् अन्य सिद्धान्त सुन सुनकर उन मिथ्याज्ञानोंको ग्रहणकर लेगा। ठीक है अभी उसकी यह स्थिति है जैसे अन्य लोग गृहीत मिथ्याज्ञान कहते हैं, लेकिन जब उसी पुरुपने कभी सांख्य आगमकी भावना की, उन सिद्धान्तोको सुना, उसके वलसे उसे हो गया तत्त्वज्ञान तो उस तत्त्वज्ञानके वलसे वह आहार्य विपर्यय तो दूर हो गया याने अन्यकी वात तो उसने छोड दी सांख्यमतकी वातमे प्रकट आ गया, लेकिन सहज विपर्यय तो उसका नष्ट नही हुआ। विपयय माने गए हैं दो प्रकारके। आहार्य और सहज। तो यदि कोई सांख्य सिद्धान्तोको रचता है और उसके अनुसार फिर बातें बनाता है तो वहाँ यह तो कहा जा सकता कि आहार्य विपर्यय दूर हो गया लेकिन सहज विपर्यय तो नहीं नष्ट हुआ। तब केवल ज्ञानसे पार वध अवश्य ही होता है। और उस वधके कारण अन्य मिथ्याज्ञानोकी उत्पत्ति होगी, तव फिर केवलीकी उद्भूति नहीं बन सकती। क्योकि सहज विपर्ययके दूर करनेका कोई बुद्धिपूर्वक उपाय न रहा। देखिये! आगमके बलसे समस्त तत्त्वज्ञानकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है, क्योकि ज्ञेय पदार्थ तो विशेपरूपसे अनन्त है याने पदार्थ सत् आदिक शब्द कहकर चाहे समस्त पदार्थोंका वोध कह लिया जाय आत्मा, जीव कहकर सब जीवोका बोधकर लिया जाय पर कर लिया बोध जीव कह कर, संसारके अनन्त जीवो का, किन्तु एक एक जीव करके निरखनेकी वात तो आगमसे न बन सकेगी। तो आगम के बलसे समस्त तत्त्वज्ञानकी उत्पत्ति नहीं बन सकती क्योंकि ज्ञेय अनन्त हैं, एक एक करके समस्त ज्ञेय जान लिए जावें तब तो कहा जा सकता है कि सबको जान लिया पर आगमसे यह वात नही बनती, विशेपरूपसे समस्त पदार्थोंका ज्ञान कर लेना आगम का विषय ही नही है। जैसे कि व्यक्तिश अनन्त पदार्थोंका ज्ञान कर लेना अनुमान आदिक प्रमाणोका विषय नही है। अनुमान भी सबको विशेपतया नहीं जान सकता। आगम भी सबको विशेपतया नही बता सकता। तब समस्त मिथ्याज्ञानोंकी निवृत्ति

कैसे संभव हो सकेगी? और उन समस्त मिथ्याज्ञानोंकी निवृत्ति नहीं बन सकती तब फिर केवलीका आविर्भाव भी कैसे हो सकता है ?

एकान्तवादमें बन्ध व्यवस्थाकी अनुपपत्ति— तात्पर्य यह है कि मिथ्याज्ञान रूप अज्ञानसे बंध होता है ऐसा मान लेनेपर तो सांख्य सिद्धान्तमें कोई ऐसा उपाय नहीं है कि जिससे कोई केवली हो सके, क्योंकि विपर्यय माने गये हैं दो प्रकारके सहज विपर्यय और आहार्य विपर्यय। वहाँ सहज विपर्ययके विनाशका कोई उपाय नहीं, क्यों कि आगमज्ञान भी सबको नहीं बना सकता, अनुमान आगम भी सबको नहीं बना सकता और जब तक समस्त पदार्थ विशेषरूपसे न जान लिए जायें तब तक सम्पूर्ण मिथ्याज्ञानका अभाव हो गया यह नहीं कहा जा सकता। और जब समस्त मिथ्याज्ञान का अभाव न बन सका तो केवल अथवा केवलीका आविर्भाव भी नहीं बन सकता। तो यह बात न रही कि अज्ञानसे बंध निश्चित होता है। अज्ञानका अर्थ प्रसज्य प्रतिषेध करनेपर भी न बन सका और पर्युदासरूप अर्थ करनेपर भी अज्ञानसे बंध निश्चित है यह पक्ष न बन सका।

एकान्तवादमें मोक्षव्यवस्थाकी अनुपपत्ति— अब मोक्ष सम्बन्धकी बात लीजिए। मोक्षके कारण बताते हुए यह कहा गया था कि थोड़े तत्त्वज्ञानसे मोक्ष हो जाता है यह बात भी सिद्ध नहीं हो सकती। कारण यह है कि किसीको हो गया थोड़ा तत्त्वज्ञान मगर बहुत सा मिथ्याज्ञान तो रहा आया। तो जो बहुत मिथ्याज्ञान है उससे बंध होता रहेगा, फिर थोड़े तत्त्वज्ञानसे मोक्ष हो सकनेकी बात बन ही न सकेगी। कदाचित् यह कहा जाय कि थोड़ा तत्त्वज्ञान होनेसे मिथ्याज्ञान प्रतिहत हो जाता है। दब जाता है, निःशक्त हो जाता है, उसकी शक्ति काम नहीं कर सकती है इस कारण से बहुत मिथ्याज्ञान भी रहा आये लेकिन वह तो थोड़े तत्त्वज्ञानके बलसे प्रतिहत हो गया है जब कि बहुत मिथ्याज्ञानसे बंध न होगा यदि ऐसा कहते हो तब फिर मिथ्याज्ञानसे बंध निश्चित है यह बात न रही, और ऐसी स्थितिमें तो यह पक्ष भी न बन सकेगा कि मिथ्याज्ञानसे बंध निश्चित होता है और न यह पक्ष भी न बन सकेगा कि थोड़े तत्त्वज्ञानसे भी कि अव्यवहार पर्यन्त कारण है उससे पुण्य बंध होता है अथवा उस स्थितिमें यह ही नहीं समझा जा सकता है, अथवा यह समझना कठिन है कि यहाँ बंध हो रहा है या पुण्य बंध हो रहा है क्योंकि स्थिति ऐसी हुई कि जहाँ तत्त्वज्ञान भी है और मिथ्याज्ञान भी है तो वहाँ ज्ञान और अज्ञान दोनों चल रहे हैं वहाँ यह निर्णय किया जाना भी कठिन हो गया कि इस जीवके इस समय बंध हो रहा है या मोक्ष हो रहा है या पाप हो रहा है या पुण्य हो रहा है यह कुछ भी नहीं कहा जा सकता ? अतः ये दोनों पक्ष सिद्ध नहीं हो पाते कि अज्ञानसे तो निश्चित बंध होता है और थोड़े तत्त्वज्ञानसे निश्चित मोक्ष होता है, क्योंकि समस्त प्राणियोंके [illegible] न किसी

रूपमे तत्त्वज्ञान भी पाया जाता और अज्ञान भी पाया जाता। या आगम बलसे जो ज्ञान उत्पन्न किया उसको तत्त्वज्ञान कहते हो तो वह तत्त्वज्ञान भले ही पहिले न पाया जाय पर तत्त्वज्ञान होनेपर तो तत्त्वज्ञान भी है और अज्ञान भी साथ चल रहा है। तब यह निर्णय करना कठिन है कि इस जीवके बन्ध चल रहा है या मोक्ष चल रहा है।

अन्त्य मिथ्याज्ञानसे बन्धनिरोधकी आशंका व उसका समाधान— यहाँ शङ्काकार कहता है कि ऐसा मान लिया जाय तब कोई दोष न होगा कि अंतिम मिथ्याज्ञानसे बंध नही होता। मिथ्याज्ञान दो प्रकारका होता है—सदोष और निर्दोष, रागादिक दोष सहित मिथ्याज्ञानको सदोष मिथ्याज्ञान कहते हैं और रागादिक दोष रहित मिथ्याज्ञानको निर्दोष मिथ्याज्ञान कहते हैं। जैसे कि जैन सिद्धान्तमे माना गया है कि सम्यक्त्व उत्पन्न करनेके लिए जो तीन कारण होते हैं उन कारणोमे मिथ्या ज्ञान तो है किंतु ऐसा निर्दोष मिथ्याज्ञान है कि जिसके बाद सम्यक्त्व उत्पन्न हो जाता है। तो ऐसे ही वह अंतिम मिथ्याज्ञान जिसके बाद तत्त्वज्ञान होगा, उस मिथ्याज्ञानसे से बंध नही होता। उक्त शङ्काके समाधानमे कहते हैं कि यह कथन भी निर्दोष नहीं है, क्योकि जिस पक्षकी प्रतिज्ञा की है उस प्रतिज्ञात पक्षका विरोध बराबर ज्योका त्यो है। रागादिक दोष सहित मिथ्याज्ञानसे बंध होता है और रागादिक दोष रहित मिथ्याज्ञानमे बंध नही होता है यह तो प्रतिज्ञा पक्षका विरोधी वचन है। सांख्य सिद्धान्तमे जैसे कि कहा गया है कि वैराग्य सहित अतत्त्वज्ञानसे मोक्ष होता है तो ऐसा कहनेसे फिर यह न कहना चाहिए कि वैराग्यरहित तत्त्वज्ञानसे मोक्ष होता है। और, फिर यह कहना कि वैराग्यसहित अतत्त्व ज्ञानसे मोक्ष होता है। इसका विरोध इस प्रतिज्ञात पक्षसे आता है जो यह कहा है कि थोडे ज्ञानसे भी मोक्ष होता है। तो जैसे मोक्षके वचनोमे विरोध आता है उसी प्रकार बंधके उन वचनोमें भी विरोध आता है, इस कारण सांख्य-सिद्धान्तमें यह नियम न बन सकेगा कि अज्ञानसे बंध निश्चित है और थोडे ज्ञानसे मोक्ष होता है।

जन्म प्रवृत्तिदोष व मिथ्याज्ञानके उत्तरोत्तर नाशमे मोक्षकी सिद्धिका प्रस्ताव और उसका विचार—अब यहाँ नैयायिक सिद्धान्तका अनुयायी शङ्काकार कहता है कि मोक्षकी विधि यह निर्दोष प्रसिद्ध होती है कि देखो! जन्म, प्रवृत्ति दोष और मिथ्याज्ञान इनका उत्तर-उत्तर विनाश होनेपर उसके अनन्तरकी बातका अभाव होता है और इस तरहसे मोक्ष प्राप्त हो जाता है यानें मिथ्याज्ञानका अभाव होनेसे दोषका विनाश होगा। दोषका विनाश होनेसे पुण्य पाप प्रवृत्तिका विनाश होगा। पुण्य पाप प्रवृत्तिका विनाश होनेसे जन्मका नाश होगा। जन्मका अभाव होनेसे समस्त दुःखोका अभाव होगा। यो समस्त दुःखोका अभाव होनेसे मोक्ष प्राप्त होता है। उक्त

शङ्काके समाधानमें कहते हैं कि मिथ्याज्ञानके अभावका तो कोई कारण बताया नहीं आरम्भ तो मिथ्याज्ञानसे किया है ना, कि मिथ्याज्ञानका अभाव होनेपर दोषका भी अभाव होता है। तो जब मिथ्याज्ञानके अभावको कोई उपाय नहीं है तो ज्ञानकी तो प्रकृति ही यह है कि वह अनन्त ही दोषको उत्पन्न करेगा। तो मिथ्याज्ञानसे अनिवार्य रूपसे दोष उत्पन्न होता है और दोषसे फिर पुण्य पाप नामक प्रवृत्ति बनती है और पुण्य पाप प्रवृत्तिसे जन्मका प्रादुर्भाव होता है और जन्मसे फिर २१ प्रकारके दुःखोंकी उत्पत्ति होती है। तो २१ प्रकारके दुःख क्या हैं? कि ससर्ग सुख दुःख और अर्थ इन्द्रिय-बुद्धि ये सभीके सभी ६-६ प्रकारके बताये गए हैं और सर्ग सुख दुःख ये सब २१ प्रकारके दुःख होते हैं। जब इस दुःखकी उत्पत्ति रही तब कोई केवली न हो सकेगा साक्षात् समस्त-तत्त्वज्ञान वाला कोई बन जाय, यह असम्भव ही हो जायगा। क्योंकि मिथ्याज्ञानकी निवृत्तिका कोई उपाय नहीं है। हम लोगोंके जो प्रत्यक्ष ज्ञान है अथवा अनुमान उपमान आगम प्रमाण है इस प्रमाणके द्वारा समस्त तत्त्वोंका ज्ञान सम्भव नहीं हो सकता। जब समस्त मिथ्याज्ञानोंकी निवृत्ति न बन सकी तब मिथ्या ज्ञानकी निवृत्ति बिना आगे आगेके अवगाहनकी निवृत्ति नहीं हो सकती। मिथ्याज्ञान समस्त यों दूर नहीं होते कि समस्त ज्ञेय विशेष तो अनन्त हैं, उन अनन्त ज्ञानोंका ज्ञान कैसे किया जायगा? प्रत्यय आदिक प्रमाण समर्थ नहीं हैं और ज्ञेय विशेष अनन्त माने गए हैं सो कहा भी है कि यह प्रमाण विषयक अर्थ अपरिसंख्येय है, संख्या से दूर है, क्योंकि प्रमाणधारी जीवके भेद भी अनगिनते हैं, ऐसा खुद न्याय शास्त्रमें बताया गया है। तो कोई उपाय ऐसा न मिल सकेगा कि समस्त मिथ्या ज्ञानोंकी निवृत्ति हो जाय और जब मिथ्याज्ञानोंकी समस्त रूपसे निवृत्ति न हो सकी तो समस्त दोष न दूर होंगे। जब समस्त दोष दूर न हो सके तो पुण्यपापरूप प्रवृत्तिकी निवृत्ति नहीं हो सकती और पुण्यपापरूप प्रवृत्तिके विनाश न होनेमें जन्मका विनाश हो ही नहीं सकता। जब जन्म न नष्ट हो सका तो समस्त दुःखोंका विनाश हो ही नहीं सकता। फिर मोक्षकी कथा दूर रहो। मोक्षमार्गकी भी प्रवृत्ति न बन सकी। इस कारण बिना अनेकान्त पद्धतिके और स्याद्वाद शासनके आश्रय बिना यह वचन भी अयुक्त है कि दुःख जन्म प्रवृत्ति दोष मिथ्याज्ञान इनके उत्तरोत्तर अपाय होनेपर उसके अनन्तरकी भी नष्ट होती है, और यों मोक्षमार्गकी सिद्धि बनती है।

प्रमेयतत्त्वज्ञानसे अपरमुक्ति व षोडष पदार्थोंके ज्ञानसे परमुक्तिका शंकाकार द्वारा प्रतिपादन—अब शंकाकार कहता है कि इस तरहसे मोक्ष प्राप्ति मान लीजिए कि आत्मा शरीर इन्द्रिय इन्द्रियार्थ बुद्धि मन प्रवृत्ति दोष परलोक फल दुःख और मोक्ष इन प्रमेय तत्त्वोंका ज्ञान हो जानेसे अपर मोक्षकी प्राप्ति होती है। मोक्षकी स्थितियां अथवा कल्याणमयी परिस्थितियां जिनको निश्रेयस शब्दसे कहा जाता है, वह दो प्रकारसे होता है अपर निश्रेयस और परम निश्रेयस। जहां कैवल्यकी

प्राप्ति तो हुई मगर अभी शरीर सहित स्थिति है उसका नाम तो है अपर नि श्रेयस और जब समस्त कर्मोका विनाश होनेपर शरीरका विनाश हो जाता है और शरीरका विनाश होनेपर निरजनरूपसे याने सिद्धात्मस्वरूपसे जब स्थित होता है उसका नाम है परमुक्ति। सो जब प्रमेयोका ज्ञान हो जाता है तब निश्रेयसकी प्राप्ति मानी गई है। और, इस बातका नियम नहीं है कि प्रमाण आदिक १६ पदार्थ विशेषोका तत्त्वज्ञान होनेसे अपर निश्रेयसकी प्राप्ति होती है, ऐसी स्थितिमें अर्थात् प्रमेयतत्त्वका परिज्ञान होनेसे अपर निश्रेयसकी प्राप्ति मान लेनेपर यह सिद्ध हो जाता है कि थोडे ज्ञानमे ही मोक्षकी सिद्धि होती है अथवा थोडे ज्ञानसे ही परमुक्ति न मिल सकी तब दोनो बाते युक्त हो गयी कि प्रमेय तत्त्वज्ञानसे अपर निश्रेयस मिला और जब प्रमाण आदिक १६ पदार्थोका विशेष तत्त्वज्ञान हो गया तो इस सकल तत्त्वज्ञानसे केवली बना, परमुक्ति हुई।

अपरमुक्ति व परमुक्तिके प्रस्तावमे अज्ञानसे बन्धकी ध्रुवताके मूल सिद्धान्तका विघात—उक्त शकाके समाधानमे कहते हैं कि जहाँ यह मान लिया कि केवल आत्मा आदिक मोक्ष पर्यन्त प्रमेयतत्त्वके परिज्ञानसे ही अपर निश्रेयसकी प्राप्ति होती है तो उस तत्त्वज्ञानकी स्थितिमे ज्ञान तो थोडा है, पर मिथ्याज्ञान बहुत पडा हुआ है तब उस बहुत मिथ्याज्ञानसे बध क्यो न हो जायगा, क्योकि यह तो प्रतिज्ञात पक्ष ही है कि अज्ञानसे बध निश्चित होता है। और जब वहाँ बहुत मिथ्याज्ञान पाया जाता और बध हो गया तब मोक्षकी विधि न बन सकेगी। यदि कहा कि उस थोडे तत्त्वज्ञानके द्वारा बहुत मिथ्याज्ञानको दबा दिया गया, प्रतिहत कर दिया गया निर्बलकर दिया गया इस कारण उस तत्त्वज्ञानके समय बहुत भी मिथ्याज्ञान हो उससे भी बध नही होता। तो उसका समाधान यह है कि फिर यह तुम्हारी प्रतिज्ञा कहा रही कि मिथ्याज्ञानसे बध निश्चित हुआ करता है। मिथ्याज्ञान पडा हुआ है बहुत, तत्त्वज्ञान तो थोडा ही है, मिथ्याज्ञान बहुत बना हुआ है और फिर भी यह बध नहीं माना जा रहा है। तब जिस बातकी प्रतिज्ञा की है उसका फिर विघात कैसे न कहलायेगा? यो न तो यह पक्ष सिद्ध होता कि अज्ञानसे बध निश्चित् है और न यह पक्ष सिद्ध होता कि थोडे ज्ञानसे मोक्ष होता है।

सदोष मिथ्याज्ञानसे अथवा इच्छा और द्वेषसे बधका नियम बनाये जानेपर विचार—तत्त्वज्ञानसे प्रतिहत होनेके कारण मिथ्याज्ञानसे बध नहीं होता है, ऐसा मानने वाले पुरुषोंके मन्तव्यमें यह भी सिद्ध न हो सकेगा कि दोषसहित मिथ्याज्ञानसे बध होता है। कारण यह है कि योगियके ज्ञानसे पहिले दोषकी निवृत्ति नही हो सकती, क्योकि दोषका कारण है मिथ्याज्ञान, उसकी सतति बराबर बनी रहेगी। जब उस योगि ज्ञानसे भी मिथ्याज्ञान संतति रही तो न बध सिद्ध होगा न

मुक्ति सिद्ध होगी। और इस ही प्रकार वैशेषिक सिद्धान्तमे जो बताया है कि इच्छा और द्वेषसे बंध होता है तो वहाँ भी यही बात लागू होगी कि इच्छा और द्वेषकी भी निवृत्ति न होगी योगिज्ञानसे पहले। क्योंकि इच्छा और द्वेषका कारणभूत मिथ्याज्ञानकी संतति तो सदा ही रहेगी। फिर वहाँ भी केवलीका अभाव ज्योंका त्यो रहा। इस प्रकार न तो यह पक्ष सिद्ध किया जा सकता कि अज्ञानसे बंध निश्चित है और न यह पक्ष सिद्ध हो सकेगा कि थोड़े ज्ञानसे मोक्ष हो जाता है।

स्याद्वाद शासनसे पराङमुखहताको स्थितिमे अभिमत अविद्या और तृष्णासे बन्धकी ध्रुवतापर विचार—अब यहाँ क्षणिकवादी सौगत कहते है कि अविद्या और तृष्णासे तो बध अवश्यभावी है। कहा भी है ताथागत सिद्धान्तमे कि दु खमे विपरीत बुद्धि (सुखबुद्धि) होना अथवा तृष्णा होना ये बंधके कारण होते हैं, याने अज्ञान और तृष्णा ये बधके कारण होते हैं। जिन ससारी प्राणियोंके अविद्या और तृष्णा नही रहती है वे ससारको प्राप्त नहीं होते। इस सुगत सिद्धान्त वाक्यसे यह सिद्ध होता है कि अविद्या और तृष्णासे बध अवश्यभावी है ऐसा क्षणिकवादियों का सिद्धान्त है। समाधानमे कहते हैं कि यह मन्तव्य भी समीचीन नही है। क्योंकि, ये फिर योगियोके ज्ञानका अभाव सिद्ध हो जाता है। जो अयोगी पुरुष हैं उनको प्रत्यक्ष और अनुमानके द्वारा समस्त तत्त्वज्ञान हो जाय ऐसा विद्याका सम्बंध ही नही हो सकता, क्योकि तत्त्वज्ञान विशेष अथवा प्रमाणके विषयभूत ज्ञेय विशेषरूपसे अनन्त है और ऐसा स्वयं कहा है कि लोकके उत्पादक आदिक कारण बहुत होते हैं। तात्पर्य यह है कि जो योगी नही है ऐसे हम आप सब छद्मस्थ जीवोके प्रत्यक्ष और अनुमान ही प्रमाण बनेंगे, ताथागत सिद्धान्तके अनुसार और उन प्रमाणोंमे यह सामर्थ्य नही है कि वे प्रमाण सकल तत्त्वज्ञानरूपी विद्याका सम्बन्ध कर सके, क्योंकि तत्त्वज्ञान विशेष ज्ञेय तो अनन्त है और प्रत्यक्ष और अनुमानमे यह सामर्थ्य नहीं है कि उन सबको बोध कर सके और जब अविद्याका उच्छेद नहीं हो सकता तो तृष्णा भी दूर नही हो सकती, फिर कोई सुगत ही नही बन सकता, प्रभु सर्वज्ञ सकलज्ञानी नहीं बन सकता। यदि कहो कि थोड़े ज्ञानसे मोक्ष मान लिया जाता है तो जहाँ थोड़ा ज्ञान है वहाँ अज्ञान बहुत है, तो बहुत होने वाले मिथ्याज्ञानसे तो बंध ही सिद्ध होगा क्योंकि मिथ्याज्ञानके कारणसे होने वाली तृष्णा भी वहाँ असम्भव है अन्यथा मिथ्याज्ञान और तृष्णासे बंध निश्चित होता है, यह प्रतिज्ञा विरुद्ध हो जायगी। सौगत सिद्धान्तमें मूल प्रतिज्ञा यह की गई है कि अज्ञान और तृष्णासे बंध अवश्य होता है और यह कहने लगे अब कि थोड़े ज्ञानसे मोक्ष मान लीजिए क्योंकि ताथागत सिद्धान्तमे कहा भी है कि सकारण हेय उपादेय तत्त्वका जो वेदक है वह सुगत कहलाया है, तो इसमें भी यह बात बतायी गई कि थोड़े ज्ञानसे ही मोक्ष होगा विश्वके समस्त तत्त्वोंका ज्ञान नहीं है, किन्तु हेय क्या, उपादेय क्या, उन तत्त्वोंका ज्ञान है। उसे ही सुगत मान

लिया गया तो यों थोड़ा ज्ञान है यहाँ मगर मिथ्याज्ञान जितना पड़ा हुआ है, वह तो बहुत है सो उस मिथ्याज्ञानसे बंध बन जायगा और न मानोगे बंध तब इस प्रतिज्ञाका निराकरण करें फिर कि अज्ञान और तृष्णासे बंध अवश्य हुआ करता है। तो सुगत सिद्धान्तमें अविद्या और तृष्णासे बंध अवश्यम्भावी सिद्ध न हुआ।

अविद्यामूलक जन्ममरणको सिद्ध करने वाला [illegible] मत—अब बुद्ध बौद्ध कहते हैं कि अविद्या प्रत्ययक तो संस्कार होता है और संस्कार प्रत्ययक विज्ञान होता है, विज्ञानकारणक नामरूप बनता है और नामरूपके कारण शेष ६ आयतन उत्पन्न होते हैं—स्पर्शन, रसना, घ्राण और चक्षु, श्रोत्र और मन ये ६ आयतन कहलाते हैं। क्योंकि ये सब अवगुणोंके घर हैं, आश्रय हैं और ६ आयतनोंके निमित्तसे स्पर्श होता है। स्पर्शके कारणसे वेदना बनती है, वेदनाके कारणसे तृष्णा होती है, तृष्णा प्रत्ययक उपादान होता है और उपादान प्रत्ययक भाव होता है और भाव प्रत्ययक जाति अर्थात् जन्म होता है और जन्म प्रत्ययक जरा मरण होता है। इसको यदि प्रतिलोम क्रियासे कहा जाय तो यों रहे कि मरण ही सारा दुःख है। यदि ये बुढ़ापा और मरणकी बातें न चाहिए तो जन्मका अभाव करें। बुढ़ापा और मरण जन्मके कारणसे होते हैं। जन्म न हो तो बुढ़ापा मरण कहाँसे आयगा? सो जरा मरण जन्मप्रत्ययक हैं। जन्म होता है भवके कारणसे। यह जीव भवमें पहुंचता है तो उस का जन्म कहलाया और भव मिलता है उपादानके कारणसे याने तृष्णाके कारण जो विषय सुखहेतु जचते हैं उन विषय पदार्थोंके ग्रहणके लिए प्रवृत्ति होनेसे अर्थात् जब कोई जीव अपने आपको समझता है कि मैं हूं, मेरा सुख विषयोंमें है तब विषयसाधनों के सकलनका यत्न होता है और उससे भव बनता है, क्षणिकसिद्धान्तमें मैं हूं, इस प्रकारके श्रद्धानको सब अवगुणोंका घर कहा गया है। नैरात्म्यवादसे मुक्ति प्राप्त होती कही है और जहाँ आत्माका भ्रम हो गया है कि यह मैं हूं तो उसने तो ज्ञानमें लम्बा समय लिया ना, और लम्बे समयमें ही तृष्णा व विषय ग्रहण वृत्ति होती है। लम्बे समय तक चलने वाली बात मिथ्या होती है, क्योंकि सत्य तत्त्व एक समय हुआ करती है। तो यों जब उपादानका प्रत्यय बना जीवके तो इसका भव बना। और उपादानकी बात बन कैसे गई? अर्थात् इस जीवने अपने आपमें चिरकाल तक रहने की बुद्धि और विषय संग्रहणके लिये प्रवृत्ति क्यों की? इस प्रकारका उपादान कैसे बना? वह उपादान बना तृष्णाके निमित्तसे। तृष्णा है तो वह लम्बे समयका निदान ही तो करती है। निदानका सम्बन्ध लम्बे समयसे है। जहाँ जीवमें तृष्णा उत्पन्न हुई वहाँ यह भ्रम करने लगता है कि मुझे सुख विषय ग्रहणसे है, मैं चिरकाल तक रहने वाला हूं। तो तृष्णाके निमित्तसे उपादान बना और तृष्णा बनी वेदनाके निमित्तसे। जब कोई वेदनाकी अनुभूति की—मैं चक्षुसे रूप देखता हूं इत्यादि विषयानुभूति की, और उसमें [illegible] तृष्णा बनने लगी। वेदना बनती स्पर्शानुभवके

कारण। स्पर्शनानुभव अर्थात् किसी पदार्थसे सम्बन्ध मानना, किसी अन्य जगह लगाव होना यह जो स्पर्श हुआ वह स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र और मन इन छह आयतनोंके कारण हुआ। ये छह आयतन बने नामरूपके कारणसे। नाम कहलाते हैं, रूप वेदना, संज्ञा और उसका संस्कार। जब यह बोधमें आ गया और उसका संस्कार बनाया गया तो उससे फिर अन्य व्यक्त रूप बने पृथ्वी आदिक चार रूप बने। तो नामरूपके कारण छह आयतन बने अर्थात् जब रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार हुआ है और पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तत्त्वका रूप हुआ तो उससे फिर ये मन और इन्द्रियाँ बनी। नामरूप विज्ञानके निमित्तसे बना। विज्ञान विकल्पात्मक ज्ञान बना संस्कारके निमित्तसे, संस्कार बना अज्ञानके निमित्तसे। यो सब क्लेश बन्धन का कारण अविद्या हुई।

बौद्धाभिमत बन्धावस्थके एकान्तमें सुगत अथवा केवली होनेका अनवसर बतानेके वर्णनमे अविद्याके मूल कारणसे उत्तरोत्तरकारण पूर्वक संस्कार, विज्ञान नामरूप व षडायतनकी निष्पत्तिका कथन—

अब उक्त बौद्धोंके अभिमतके सम्बन्धमे तथ्यका विचार करते हैं कि यो तो १२ अङ्गोंका कारण पा करके संसार उत्पन्न होता ही रहेगा। इसका विवरण इस प्रकार है कि जब क्षणिक पदार्थमें नित्यताका बोध किया जाय और निरात्मक पदार्थमे एकस्वरूप का आत्माका चिरस्थायिताका किसी तत्त्वका असाधारण किसी स्वरूपका बोध किया जाय, अशुचि पदार्थमे शुचिताका भान किया जाय और दुःखमें सुख माना जाय तो ऐसे विपरीत ज्ञान वाली अविद्याका उदय होनेपर किसी भी संसारी शरीरमे ज्ञेयमे तन्निमित्तक संस्कारका होना जिसके कि पुण्य पाप आदिक अनेक प्रकार हैं, शुभ अशुभ अनुभव विषय हैं वे आवश्यक हो जाते हैं और उनके अन्य अन्य कारणोंका सिलसिला रहेगा। मतलब यह है कि जैसे अविद्या और तृष्णासे बंधकी व्यवस्था अवश्यंभावी नहीं बनाई जा सकती इसी प्रकार इन द्वादशाङ्गोंके द्वारा बंध व्यवस्था अवश्यंभावी नहीं बनाई जा सकती क्योंकि संस्कारका सिलसिला बना वह बनता ही रहेगा उसका अभाव न हो सकेगा। तब कोई केवली अथवा सुगत बननेका अवसर ही न पा सकेगा, सो बौद्धोंका उक्त कथन भी युक्तिसंगत नहीं बैठता। देखिये! संसार कारणोंका सिलसिला किस प्रकार बनता रहेगा? शुभ अशुभ अनुभव विषयोंके होनेपर वस्तुका प्रतिज्ञान (जानन) करनेरूप विज्ञानकी याने विकल्पकी निष्पत्ति होती रहेगी। विकल्पात्मक विज्ञानके होनेपर रूप वेदना संज्ञा संस्कार उद्बोधात्मक चतुष्टयकी अर्थात् नामकी तथा पृथिवी जल अग्नि वायु चतुष्टयात्मक रूपकी निष्पत्ति होती है। नामरूपकी सिद्धि होनेपर पञ्च इंद्रिय और मन इन छह आयतनोंकी, जो आत्माके करने योग्य क्रियाकी प्रवृत्तिके कारणभूत हैं, निष्पत्ति होती है। अब आगे बतावेंगे कि छह आयतनोंकी निष्पत्तिसे क्रमशः किस-किस प्रकार जन्म जरा मरणरूप विडम्बनाओंकी निष्पत्ति होती है।

बुद्धबोद्धाभिमत बन्धव्यवस्थाके एकान्तपक्षमे मुगत होनेका अनवसर बतानेके प्रसङ्गमे षडायतनसे उत्तरोत्तर कारणपूर्वक स्पर्शकाय वेदना, तृष्णा, उपादान, भव, जन्म व मरणकी उत्पत्तिका कथन—स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र एव मन इन ६ आयतनोकी उत्पत्ति होनेपर इन ६ आयतनोके कारणसे ६ स्पर्श कायोकी निष्पत्ति होती है। स्पर्श काय क्या होते है ? इन्द्रिय द्वारा अर्थग्रहण करनेकी क्रिया विषयक ज्ञानका अनुभव। जैसे मै चक्षुके द्वारा रूपको देखता हू। तो यह रूपविषयक जो इन्द्रिय विज्ञान हुआ इस इन्द्रियज ज्ञानका नाम है स्पर्श काय यहाँ स्पर्शसे मतलब केवल स्पर्श विषयके ज्ञान करनेसे नही है, किंतु स्पर्श रूप, रस, गध और शब्द एव अनेक मानसिक विकल्प सम्बन्धी जो ज्ञान होता है अर्थात् इन्द्रिय और मनसे उत्पन्न होने वाला जो ज्ञान है उसका नाम है स्पर्श काय। ये स्पर्शकाय ६ प्रकारके होते हैं। तो इन ६ आयतनोसे अथवा कह लीजिए इन द्रव्येन्द्रियोमे ६ भावेन्द्रियोकी अथवा विषय विज्ञानकी उत्पत्ति होनेपर स्पर्शका अनुभव करने वाली वेदना बनती है। स्पर्श कायमे तो इन्द्रिय विज्ञान हुआ था। जब इन्द्रिय विज्ञानने तद्विषयक अनुभूति सुख दु ख आदिककी प्रतीतिरूप वेदना बनी। वेदनाकी निष्पत्ति होनेपर तृष्णाकी निष्पत्ति होती है। तृष्णाका भाव है विषयोकी आकांक्षा करना। जब इन्द्रियज विज्ञानकी अनुभूति हुई, उसमे सुख आदिक रूपसे प्रतीति हुई तब उनकी आकांक्षा होना, तृष्णा होना प्राकृतिक बात है। तो यो वेदनासे तृष्णाकी उत्पत्ति हो गई। तृष्णाके उत्पन्न होनेपर उपादानका उदय बन गया। उपादान मायने है तृष्णा की विपुलता हो जाना जिसके कारण तृष्णाकी पूर्तिके सकल्पमे अनेक विषयोके सकलनकी प्रवृत्ति हो जाती है। यो तृष्णाकी उत्पत्ति होनेपर उपादानकी निष्पत्ति हुई। उपादानके उदय होनेपर भवउत्पत्ति करने वाले कर्मरूप भवकी निष्पत्ति हुई। वही कर्म भव है जो पुन उत्पत्ति कराने वाला हुआ। ऐसे भवकी उत्पत्ति उपादानसे होती है और भवके होनेपर अपूर्व स्कधोकी उत्पत्ति हो गई अर्थात् जन्म हो गया। जन्ममे नये शरीर स्कध ही तो आये। तो यो भवसे जन्मका उत्पाद हुआ। और जन्मके उत्पाद होनेपर फिर जो स्कध मिला था, शरीर जो प्राप्त हुआ था उसका परिपाक बनेगा अर्थात् बुढापा आयगा। जो शरीर मिला है वह काल पा करके पकेगा। शीर्ण होगा। उसीका अर्थ है बुढापा और फिर उस शरीर का प्रध्वस नाम है मरण।

बुद्धबोद्धाभिमत द्वादशाङ्गके आश्रयसे सदैव ससारकी सभवताके कारण केवलीके अभावका प्रसङ्ग—उक्त प्रकारसे जन्म और मरणकी धारा परपरया अविद्याके कारण सिद्ध हुई सो यों जब अविद्याका यह सिलसिला जारी ही रहता है तब फिर वहाँ कोई केवली बने, सुगत बने ऐसा अवसर आ ही कहाँ सकता है। यदि इन १२ अङ्गोका कारण पाकर भी याने अविद्या सस्कार विज्ञान, नामरूप, आयतन स्पर्शकाय, वेदना, तृष्णा, उपादान, भव जाति और जरा, मरण ये १२ अग कारण

मिलते रहें और फिर भी संसारकी उत्पत्ति न मानी जाय तब तो जो अभी प्रतिज्ञाकी है, वृद्ध बौद्ध जनोंने कि अविद्याके कारणसे परम्परया जरा मरण होता है, इस प्रतिज्ञा मे विरोध आ जायगा, अतः यह बात युक्तिसंगत ही है कि यदि यह बंध अज्ञानसे माना जायगा एकान्त करके स्याद्वाद शासनका अनुसरण न करके यह एकान्त रखा जायगा कि अज्ञानसे बंध निश्चित होता है तब तो अब इस समय कोई भी मुक्त न हो सकेगा, क्योंकि सब ही जीवोंके किसी न किसी विषयमे अज्ञानकी उत्पत्ति होती ही है जब ज्ञेय अनन्त हैं तो प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम आदिक प्रमाणोंके बलसे कहाँ तक पदार्थोंका वह ज्ञान करता चला जायगा। तो जब अनन्त ज्ञेय होनेसे सबका ज्ञान किया जाना असम्भव है तब सभी जीवोंके जो अयोगी हैं उनका किसी न किसी विषय में अज्ञान बना रहेगा। फिर कोई अयोगी ज्ञान भी कैसे प्राप्त कर सकेगा? फिर तो न कोई केवली हो सकेगा न सुगत हो सकेगा। तब यह आग्रह करना मिथ्या है कि अज्ञानसे बंध निश्चित है।

स्याद्वादनयका अनुसरण किये जानेपर अज्ञानसे बन्ध होनेका समर्थन—इन प्रसङ्गमें यह समझ लेना आवश्यक है कि यह सिद्धान्त तथ्यहीन नहीं है। यह सत्य भी है कि अज्ञानसे बंध होता है, ऐसा अनेक विद्वज्जन कहते हैं। शास्त्रोंमे भी लिखा है, अनुभव भी बताता है लेकिन इसका ठीक व्याख्यान न कर सकनेके कारण अज्ञानसे बंध निश्चित है, इस सिद्धान्तका भी विघात हो जाता है। अज्ञानका अर्थ कई लोग करते हैं—ज्ञानका अभाव मात्र। तो यहाँ अब यह आपत्ति आयगी कि जब समस्त ज्ञान न होगा तो वहाँ ज्ञानका अभाव तो रहा ही करेगा। किसी भी दशामे किसी भी रूपमे अज्ञान रहा आये तो अज्ञानसे बंध ध्रुव बताया तब तो बंध होता ही रहेगा। कोई दार्शनिक अर्थ करेगा कि अज्ञानका अर्थ है मिथ्याज्ञान। और मिथ्याज्ञानका भाव लिया गया इन सब पदार्थोंके सम्बन्धमे विपरीत ज्ञान होना। जैसे सीप चांदी जुदे जान लिया, किन्हीं भी पदार्थोंको, जैसी भी स्थितिमे हैं उस तरह न समझा, अन्य तरह समझा। तो ऐसे मिथ्याज्ञानोंका अन्त भी कौन कर सकता है? क्योंकि पदार्थ अनन्त हैं, कहाँ तक उनके जाननेके लिए कमर कसी जाय? और कैसे सफलता प्राप्त हो? तो वहाँ भी मिथ्याज्ञानसे बंध होता है, ऐसा कहकर भी तथ्य नहीं पाया जा सका। तो कभी किन्हीं दार्शनिकोंने कशिश की कि यह कह दीजिए कि रागसहित मिथ्याज्ञानसे बंध होनेकी बात भी समर्थित नहीं की जा सकती, क्योंकि रागसहित पुरुषके राग न रहे यह स्थिति कैसे बनाई जा सकेगी? जब मिथ्याज्ञान न रहे तब रागरहित स्थिति बनेगी। और जब रागरहित स्थितिका मिथ्याज्ञान हो तो उससे आगे बंध न होगा और अवसर प्राप्त होगा वैराग्यका। तो स्वयं इतरेतराश्रय जैसी स्थितिकी बात आती है। वहाँ भी केवली होनेके अवसरकी बात नहीं दीखती। स्याद्वादशासनका अनुसरण करके सभीको अर्थसङ्ग बताया जा सकता है। अज्ञानका

अर्थ-यदि मोक्षके प्रयोजनभूत तत्त्वोके अज्ञानसे रखा जाय तो उस अज्ञानसे बध होना है और यह प्रयोजनभूत तत्त्वका अज्ञाने न रहे, आत्मस्वरूपका ज्ञान हो, आश्रव बध सम्वर प्रक्रियाका ज्ञान हो, अपने आपमे अपने स्वरूपकी अनुभूति हो और चाहे लौकिक पदार्थोंके विषयमे मिथ्याज्ञान बना रहे वह सब अप्रयोजनीभूत है । तो ऐसे थोडे ज्ञानसे मोक्षकी धारा बन सकती है । तो स्याद्वादन्यायसे विद्वेष रखने वाले पुरुष के बध मोक्षके कारणकी व्यवस्था नही बन पाती ।

स्याद्वादन्यायसे विद्वेष रखनेपर ज्ञानस्तोकमे मोक्ष होनेकी बातमे विडम्बनाका दिग्दर्शन—इस प्रसगमे यह भी बताया गया कि ज्ञान स्तोकसे मोक्ष होता है । तो उस स्थितिमे अगर ज्ञान थोडा है तो स्वय सिद्ध हो गया कि अज्ञान बहुत है । तो यहाँ स्तोक ज्ञान मोक्ष होनेकी बात बतायेगा तो यह बहुत अज्ञान बध होनेकी बात कहेगा । निपटारा कुछ नही होगा । यदि वहाँ यह बताया जाय कि ज्ञान की हानिसे मोक्षकी प्राप्ति होती है अर्थात् जो इन्द्रियज ज्ञान है, जिस ज्ञानमे विषय तृष्णा आदिकका सम्पर्क होता है उस ज्ञानके निर्वाससे मोक्षकी प्राप्ति होती है । ऐसा मन्तव्य रखकर कहा जाय कि ज्ञानकी हानिसे मोक्ष अगर मिला तो ज्ञानकी अगर पूरी हानि हो जाय याने अज्ञान बन जाय तो अज्ञानसे मोक्ष प्राप्त होना तो बहुत जल्दी मानना पडेगा । जैसे कोई कहे कि अल्प दुखकी निवृत्ति होनेसे सुखकी प्राप्ति होती है और यहाँ यह दिखाये कि देखो यह थोडा सा दुख निवृत्त हुआ ना तो सुख मिल गया । तो जब थोडेसे दुखके न रहनेपर सुखकी प्राप्ति होती है यह मान लिया गया तो यह तो स्वय ही सिद्ध हो गया कि बहुत दुख सारे दुख अगर दूर हो गए तो सुख प्राप्त होगा ही । यो ही यह लगायें कि ज्ञान हानि अगर थोडी होती है तो उस थोडी ज्ञानहानिसे परम ब्रह्मकी प्राप्ति होती है । तो अगर सारी ज्ञानहानि हो गई याने समस्त अज्ञान बन गया तो पूर्ण अज्ञान हो जानेमे तो मोक्षकी प्राप्ति सुतरा सिद्ध हो जायगी । तो क्या ऐसा है कि पूर्ण अज्ञान हो तो उससे मोक्ष होता है ? यह भी विडम्बनाकी ही बात है । इस तरह यह एकान्त भी ठीक नही है कि थोडे ज्ञानसे मोक्ष होता है जैसे कि यह एकान्त सगत नहीं होता है कि अज्ञानसे बध होता है ।

विरोधान्नोभयैकात्म्य स्याद्वादन्यायविद्विषाम् ।
अवाच्यतैकान्तेऽप्युक्तिर्नावाच्यमिति युज्यते ॥ ७ ॥

बध मोक्षके कारणोके दोनो एकान्तपक्षोकी तरह उभयैकात्म्यपक्षकी असङ्गतता—उक्त कारिकामें यह बताया गया था किन्ही दार्शनकोका यह सिद्धान्त है कि अज्ञानसे बध अवश्यम्भावी है और थोडे ज्ञानसे मोक्ष होता है । अब इन दो पक्षोंके सम्बन्धमे विचार करनेपर यह निर्णय हुआ कि यदि अज्ञानसे बध निश्चित है

तो कोई कभी केवली बन ही न सकेगा, क्योंकि ज्ञेय अनन्त हैं और अयोगी छद्मस्थ जनोंको उन समस्त ज्ञेयोंके जाननेका कोई उपाय नहीं है। प्रत्यक्षादिक प्रमाण उन अनन्त ज्ञेयोंको बतानेमें समर्थ नहीं हैं, तब उनका अज्ञान ही तो रहा आया, फिर वे केवली कोई बन न सकेगा? दूसरा पक्ष था कि थोड़े ज्ञानसे मोक्ष होता है। तो जहाँ थोड़ा ज्ञान है वहाँ बहुत अज्ञान भी तो पड़ा हुआ है। तो थोड़े ज्ञानसे मोक्ष है तो बहुत ज्ञानसे मोक्ष है तो बहुत अज्ञानसे बंध है, वहाँ भी कोई व्यवस्था नहीं बन सकती अब यदि कोई इन दोनों बातोंको माने किन्तु पृथक पृथक माने, किसी भी एक जीव का एक समयमें थोड़े ज्ञानसे सर्वरूपसे मोक्ष हो जाता है और एक ही जीवके एक समयमें बहुत अज्ञानसे सर्वात्मक रूपसे बंध होता है, तो ऐसा यदि कोई दोनोंका एकान्त करले तो वह भी सिद्ध नहीं होगा, जबकि स्याद्वादनयसे विद्वेष रखा जा रहा हो। हाँ, यदि स्याद्वादनयमें विद्वेष नहीं है, उस अनेकान्त शासनका अनुसरण है तो वहाँ ये दोनों पक्ष योग्य दृष्टियोंसे सिद्ध हो जाते हैं जिसको कि अगली कारिकामें बतावेंगे प्रकरणमें यह बात कह रहे हैं कि उक्त दोनों पक्ष जब समीचीन न उतरे तो कोई दोनों पक्षोंको अपेक्षा न लेकर एकान्तसे पृथक-पृथक माननेपर तो वह भी एकान्त सही नहीं हो सकता। यों न तो यह सिद्ध होना कि अज्ञानसे बंध ध्रुव है न यह सिद्ध होता कि थोड़े ज्ञानसे मोक्ष निश्चित है। और दोनों ही बातें एकान्तरूपसे स्वतन्त्र-स्वतन्त्र जीवकी मानी जावें तो यह तीसरा पक्ष भी सिद्ध नहीं होता।

बंध मोक्षके कारणोंके प्रसंगमें अवाच्य तत्त्वकी असंगतता—अब हाँ कोई कहे कि अगर उभय एकान्त भी नहीं बनता तो यह मान लीजिए कि फिर वह अवक्तव्य है। तो, सुनिये- इन दोनों पक्षोंसे अवक्तव्य माननेका एकान्त किया जाय तो यह स्ववचन विरुद्ध है। अवक्तव्य है, इन शब्दोंसे उस तत्त्वको कैसे कह दिया गया? कहते भी जा रहे हैं और सर्वथा अवाच्य बता रहा कि बंध मोक्षरूप उभय था का उपाय अवक्तव्य है और सिद्ध करते हो कि कहा ही नहीं जा सकता, तो अवाच्यता का एकान्त करनेमें अवाच्य है इतना भी नहीं बोला जा सकता, सो यह स्ववचन विरुद्ध है, इस कारण अवक्तव्यताका भी एकान्त सही नहीं है। इस तरह इस चतुर्थ पक्षका एकान्त भी असंगत है। अज्ञानसे बंध ध्रुव है यह प्रथम पक्ष है थोड़े ज्ञानसे मोक्ष यह द्वितीय पक्ष है और दोनोंकी बात स्वतंत्र स्वतन्त्र है, भिन्न भिन्न जीवमें भिन्न भिन्न सिद्धि है यह तृतीय पक्ष है और वह सब बात अवक्तव्य है, यह चतुर्थपक्ष है। सो यों चारों ही बातोंका एकान्त बंध मोक्षकी साधनाकी व्यवस्थामें सिद्ध नहीं होती है।

बंध मोक्षके कारणकी जिज्ञासाका अग्रिमकारिकामें समाधान—अब यहाँ कोई जिज्ञासु पूछ रहा है कि जब बंध मोक्षकी व्यवस्था किसी प्रकार न बन सकी तब और विकल्प होगा ही क्या? अज्ञानसे बंध है इसे अयुक्त कह दिया है तो क्या

ज्ञानसे बंध है ? स्तोक ज्ञानसे मोक्ष है इसमें भी अयुक्त कह दिया सो अगर तत्त्वज्ञानसे मोक्ष नहीं है तो क्या अज्ञानसे मोक्ष है ? तो सभी पक्ष जो मोटेरूपमें नहीं उतरते भी हैं उनका निराकरण कर दिया गया तब फिर यह बतलाओ कि प्राणियोंके पुण्य पाप का बंध किस उपायसे होगा ? इससे पहिले अध्यायमें बताया गया था कि दैवसे सिद्धि होती है या पुरुषार्थसे ? क्योंकि अर्थसिद्धि सभीका प्रयोजन है। तो वहाँ यह बात कही गई थी कि अबुद्धि पूर्वक घटनामें तो इष्ट अनिष्ट अपने दैवसे सिद्धि होती है। तो अपने दैवसे इष्ट अनिष्ट हुआ, वह दैव क्या चीज है ? पुण्य और पाप जिनका बन्ध हो सके जिससे कि यह बात सिद्ध हो सके कि अपने दैवसे अबुद्धि पूर्वक घटनामें इष्ट अनिष्ट बात घटती है और मोक्ष भी किस उपायसे होता है यह भी बताओ ? इससे कि यह सिद्ध हो सके कि पुरुषार्थसे इष्ट सिद्धि होती है जहाँ बुद्धि पूर्वक घटना है, पौरुष है वहाँ इष्टसिद्धि पुरुषार्थसे है, इन दोनों बातोंकी सिद्धिके लिए यह बताना होगा कि बंध किस उपायसे होता है और मोक्ष किस उपायसे होता है। अथवा चार्वाक सिद्धान्तमें यह माना गया है कि बंध मोक्षका अभाव ही है, क्योंकि परलोक ही कुछ चीज नहीं। जो कुछ इन्द्रिय द्वारा प्रत्यक्ष देखा जा रहा है, सूंघा, सुना, निरखा जा रहा है, छुवा जा रहा है, इन्द्रिय प्रत्यक्षसे जो कुछ विदित हो रहा बात उतनी ही है और जो विदित कर रहा है वह तो पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु इन चार महाभूतोंका एक संगम है, जब इनका पृथक पन उनमें संगम हो जाता, पृथ्वी पृथ्वीमें, जल जलमें वायु वायुमें समाविष्ट होती है तो इनका संगम बिछुड़ते ही वहाँ चेतना नहीं रहती है, तो उसका परलोक ही क्या ? जब परलोक ही कुछ नहीं तो बंध मोक्ष क्या ? सो यों चार्वाक मत युक्ति संगत नहीं है, यह यदि अनिष्ट है तो यह बताना होगा कि बंध और मोक्ष किस उपायसे हुआ करता है, इस प्रकार जिज्ञासु की आशंकाका निराकरण करनेके लिए आचार्य महाराज कहते हैं

अज्ञानान्मोहिनो बंधो न ज्ञानाद् वीतमोहतः ।
ज्ञानस्तोकाच्च मोक्षः स्यादमोहान्मोहिनोऽन्यथा ॥ ९८ ॥

स्याद्वाद शासनमें अज्ञानसे बन्धकी संभूतिका विश्लेषण—मोहसहित अज्ञानसे बंध होता है और मोहरहित अज्ञानसे बंध नहीं होता है। मोहरहित थोड़े ज्ञानसे मोक्ष होता है और मोहसहित उस ज्ञानस्तोकसे मोक्ष नहीं होता है, बंध मोक्ष की व्यवस्था स्याद्वाद शासन पद्धतिसे इस प्रकार है, घटनाओंको निरखिये—जहाँ बंध हो रहा है वहाँ मोह अवश्य है। मोह तीन भागोंमें उदित होता है। मोह राग, द्वेष। मोहका नाम है अज्ञान, तत्त्वज्ञानसे शून्य एक दूसरेके सम्बन्धकी प्रतीति सहित ज्ञान मिथ्याज्ञान उसका नाम मोह है, और जहाँ यह मिथ्यात्व न रहा, एक रागद्वेषका अभाव है तो मोह न होनेपर भी जो रागद्वेषका भाव है वह भी मोह जातिका भेद है

यद्यपि मिथ्यात्व नहीं भी है पर बंध उस रागद्वेषसे भी होता। तो जो मोह सहित ज्ञान है उससे बंध होता है पर जो मोहरहित ज्ञान बन गया है जिस ज्ञानके साथ मोह नहीं रहा उससे बंध नहीं होता। यहांपर भी स्याद्वाद विधिसे यह समझना कि मिथ्यात्व सहित जो अज्ञान है, ज्ञानका अभाव है। ज्ञानकी कमी है उससे दृढ़ बंध होता है और जन्म मरणकी परम्परा कहने वाला जहाँ मिथ्यात्व नहीं रहा, केवल रागद्वेष ही है तो ऐसी स्थितिमे अज्ञानसे जो बंध होता है वह जन्म मरणकी परम्परा तो न बढ़ायेगा फिर भी कुछ जन्म मरण उससे चल सकते हैं।

स्याद्वादशासनमे तत्त्वज्ञानसे मोक्षका समर्थन—मोहरहित ज्ञानसे बंध नहीं होता। इस सिद्धान्तमें यों समझना मिथ्यात्व रहित ज्ञानसे संसरण सम्बन्धित बंध नहीं होता, ऐसी तो प्रारम्भिक बात है ही, पर जहाँ रागद्वेष भी न रहा, ऐसा ज्ञान जग जाय तो वहाँ आश्रवमात्र भले ही हो, पर वहाँ बंध बिल्कुल भी नहीं है। इस प्रकार मोहरहित थोड़े ज्ञानसे मोक्ष होता है यह सिद्ध हो जाता है। यहाँ थोड़े ज्ञानका अर्थ है मोक्षमार्गका प्रयोजनभूत सम्यग्ज्ञान। मोक्ष मार्गके प्रयोजनभूत ७ तत्त्वों का अथवा आत्मतत्त्वका यथार्थ परिज्ञान हो, जहाँ मिथ्यात्व नहीं रहता ऐसे मोहरहित तत्त्वज्ञानसे मोक्षमार्ग बनता है। साक्षात् मोक्ष तो इस नियममें नहीं हो पाया पर जितने अंशोमे कर्म छूटते हैं तो कर्मोंका छूटना ही मोक्ष कहलाता है। इस प्रकार अनेक कर्म प्रकृतियोसे मोक्ष हो जाता है। जब इसमें प्रगति होकर मोह रागद्वेष रहित तत्त्वज्ञान होता है तो वहाँ उस मोक्ष मार्गकी और विशेषता बढ़ती है, फिर तो अनेक प्रकृतियो का प्रवर्तित्रकरूपसे मोक्ष होने लगता है। तो जहाँ रागद्वेष नहीं हैं, ऐसा तत्त्वज्ञान है वह भी यद्यपि सकलज्ञान नहीं है लेकिन रागद्वेष रहित होनेके कारण इस पवित्रताके बलसे उनके मोक्षकी विशेषता होती है। और, जहाँ रागद्वेष बिल्कुल नहीं रहते इस कारणसे फिर योग भी समाप्त हो जाता ऐसे परम यथाख्यात चारित्रके अनन्तर मोक्ष पूर्णरूपसे हो जाता है। बंध मोक्षकी यह व्यवस्था स्याद्वाद शासन पद्धतिसे बतायी गई है।

अज्ञानसे बन्ध होनेकी व्यवस्थाका विवरण—अब उक्त बन्ध व्यवस्थाके विवरणमे सुनिये। जीवमें मोहनीय कर्मकी प्रकृति अनादिसे पड़ी हुई है, अर्थात् जीव मोह रागद्वेष विकारसे युक्त होकर अज्ञानी बना हुआ है और ऐसे जीवके कर्मबन्ध होता है। बन्ध चार प्रकारके होते हैं प्रकृतिबन्ध, प्रदेशबन्ध स्थितिबन्ध और अनुभाग-बन्ध। आत्माको स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध अपना फल देनेमें समर्थ होते हैं। सो यह जब क्रोधादिक कषायोके साथ एकार्थमें समवायी है अर्थात् जिस आत्मामे क्रोधादिक कषायें बन रही हैं, क्रोधादिक कषायसंयुक्त जीवके ही क्षेत्रमें कर्मबन्ध है सो यहाँ अज्ञानसमवेत मिथ्याज्ञानको अज्ञान कहना युक्त है। यह स्थिति बन्ध और अनुभाग

वन्ध पौद्‌गलिक कर्म प्रकृतिका है और कर्म प्रकृतियोमें अज्ञान प्रकृति पडी हुई है, और एकक्षेत्रावगाही हैं अर्थात् जिस जीवमे क्रोधादिक कषायें होती हैं उस ही जीवके एक क्षेत्रमे इन पौद्‌गलिक कर्मवन्धोकी अवस्था है सो ऐसी स्थिति अनुभागवन्ध वाली कर्म प्रकृतियोका जो कि अज्ञानकारूप है, एक ही आत्मामे कषायके साथ समवाय है इस कारणसे मिथ्याज्ञान ही अज्ञान कहा जाता है, तो वह अज्ञान जो मोहनीय कर्मप्रकृति को जलाता है ऐसे पुरुषके बन्धमे कारण वनता है। तत्त्वार्थ महासूत्रमे भी कहा गया है कि "सकषायत्वाज्जीव कर्मणो योग्यान्पुद्गलानादत्ते स बन्ध" कषाय सहितपना होनेके कारण जीव कर्मके योग्य पुद्गलोको ग्रहण करता है, उस हीको बन्ध कहा गया है। तो यहाँ यह वात समझना चाहिए कि ऐसा अज्ञान मिथ्याज्ञान कहलाता। यद्यपि वहाँ भी ज्ञान है लेकिन क्रोधादिक कषायोके साथ मिला हुआ है और क्रोधादिक कषायें हैं अज्ञानकारूप क्योकि वहाँ जाननेकी कोई बात नही है। तो ऐसे अज्ञानभाव से मिला हुआ जो ज्ञान है वह ज्ञान मिथ्याज्ञान नामसे प्रसिद्ध है, पर अज्ञानके साथ मिला हुआ होनेसे उस ज्ञानको अज्ञान भी कहा जाता है। तो ऐसे अज्ञानसे वन्ध होता है, न कि ज्ञानके अभावरूपसे अज्ञानमे। ज्ञानकी कमीरूप सकलज्ञान न हो सके ऐसी स्थितिका अज्ञान, इसे वधका ध्रुवतासे कारण मानना युक्त नहीं है। निष्कर्ष यह निकला कि जो मोहसहित अज्ञान है उस अज्ञानसे वन्ध होता है, पर जो मोहरहित ज्ञानभाव है उससे वन्ध नही होता। ज्ञानकी स्थिति यदि मोहसहित है तो उसे अज्ञान कहते हैं, यदि मोहरहित ज्ञानकी स्थिति है तो उसे ज्ञान कहते हैं।

मोहकी अपेक्षाके विना मात्र अज्ञानसे ही बधका आग्रह करनेपर क्षीणकषाय व उपशान्तकषाय महात्माके भी बन्धका प्रसङ्ग—मोहकी अपेक्षा न रखकर केवल ज्ञानका अभावरूप अज्ञान हो और उससे वन्ध माननेका हठ हो तो एक यह आपत्ति आती है कि जो महात्मा क्षीणकषाय अथवा उपशान्त हो गए हो उनके भी केवलज्ञान न होनेके कारण किसी न किसी अशमे ज्ञानका अभाव है। वही अज्ञान हुआ तो ऐसे औदयिक अज्ञानसे वहाँ भी वध होना पडेगा, क्योकि अब शकाकारने मोहसहित अज्ञान या मोहरहित अज्ञान ऐसा अन्तर तो रखा नही, केवल अज्ञान भावसे ही बन्ध माना, और अज्ञान भाव होता है १२ वें गुणस्थान तक, तो यद्यपि ११ वें १२ वें गुणस्थानमें किसी भी प्रकारकी कषाय नही है, फिर भी अज्ञान तो है ही सो वहाँ भी वन्ध होना पडेगा।

चौदह गुणस्थानोंके विवरणमे प्रथम सात गुण स्थानोका निर्देश—जीव परिणाम १४ वे गुणस्थानोमे विभक्त किए गए हैं—जीवमे अनन्त गुण हैं और उन गुणोंमे दर्शन गुण और चरित्रगुण अर्थात् श्रद्धा और चारित्र विकृत हो पाते हैं अन्य गुण विकृत नही होते। जितने भी विकार भाव हैं वे या तो श्रद्धाके विकार हैं या

चारित्रके विकार हैं, साथ ही ऐसी इन स्थितियोमे आत्माके प्रदेशका भी कम्पन होत है। तो यहाँ जो श्रेणी बनेगी, विभाव बनेंगे तो इन तीनोकी अपेक्षासे बनेंगे। श्रद्धा, चारित्र, और योग। तो जहाँ श्रद्धा पूरी विगडी हुई है उसे कहते हैं मिथ्यादर्शन। जहाँ श्रद्धान तो एक बार हो गया, किन्तु सम्यक्त्वसे चिग गया और मिथ्याज्ञानमे नही आ पाया ऐसी स्थितिमे होता है सासादन सम्यक्त्व नामका दूसरा गुणस्थान। किसी जीवके ऐसा परिणाम हो कि जिसे न केवल सम्यक्त्व कह सकते, न केवल मिथ्यात्व कह सकते, तो उस परिणामका नाम है सम्यक्मिथ्यात्व। जब जीवको सम्यक्त्व तो हो गया किन्तु व्रत कोई न हो, ऐसी स्थितिमें उस गुणस्थानको कहते हैं अविरत सम्यक्त्व। सम्यक्त्व होनेके पश्चात् या सम्यक्त्व होनेके साथ साथ यदि देश विरतका परिणाम होता है तो उसे कहेंगे पंचम गुणस्थान देशविरत। किसी भी सम्यग्दृष्टि जीवको महाव्रत ग्रहण हो जाय या सम्यक्त्वके साथ-साथ महाव्रत होवे तो अप्रमत्त दशाके समय तो वह अप्रमत्त विरत गुणस्थान है और प्रमत्त स्थितिमे उसका नाम प्रमत्त विरत है। यो यह महान आत्मा असख्याते बार प्रमत्त-अप्रमत्त विरतमे परिवर्तन करता रहता है। जब कभी सातिशय परिणाम होता है तब यह जीव सातिशय अप्रमत्त विरत कहलाता है और यह श्रेणीके सम्मुख हो जाता है।

चौदह गुणस्थानोमे उपशम श्रेणि व क्षपक श्रेणिके गुणस्थानोका निर्देश और मोहपे, अन्त प्रज्ञाना बन्धअसङ्ग होनेका स्पष्टीकरण—

सातिशय अप्रमत्तविरत गुणस्थानके अनन्तर कुछ और अपूर्व परिणाम होता है तो इसका नाम है अपूर्वकरण गुणस्थान। इन परिणामोमे एक ही समय वाले अपूर्व करण वालेमे तो परस्पर सदृशता भी हो सकती है और विसदृशता भी हो सकती है। किन्तु इसमे ऊचे समयमे जो परिणाम हुए हैं वे नीचे वालेमे उत्कृष्ट ही होंगे। इसके अनन्तर उपर यह जीव अनिवृत्तिकरण गुणस्थानपे पहुचता है। वहाँ अनेक कषायोका या तो उपशम होता है यदि उपशम श्रेणीसे चढा हुआ है, ८ व गुणस्थानसे श्रेणियो का वेग हो जाता है, यदि उपशम श्रेणीमे चढा है तो उसकी अनेक कषायें शान्त हो जाती हैं, केवल सूक्ष्म लोभ रह जाता है। तब सूक्ष्म लोभको भी उपशान्त करनेके लिए आगे सयम चलता है। तब उसका नाम है सूक्ष्म साम्पराय गुणस्थान। यदि क्षपक श्रेणीमे कोई जीव कषायोंका क्षय करनेके लिए सयम करता है तो उसका नाम है सूक्ष्म साम्पराय क्षपक श्रेणी वाला। अब सूक्ष्म साम्परायके बाद उपशम श्रेणीमे जीव उपशान्त मोह वाला होता है। इस १० वें गुणस्थानके अन्तमे कषायोका पूर्ण-तया उपशमन हो जाता है। जब क्षपक श्रेणीमे सूक्ष्म साम्पराय गुणस्थान वाला समस्त कषायोका क्षय कर देता है तो वह क्षीणमोह हो जाता है। अब इन दोनों गुणस्थानोमें कषाय नही है, लेकिन अभी अज्ञान बना हुआ है। जब तक केवलज्ञान प्रकट नही हो पाता तब तक वहाँ अज्ञान रहता है। यहा अज्ञानका अर्थ मिथ्याज्ञान

नहो है, किंतु समस्त तीन लोक तीन कालके पदार्थोंका ज्ञान नही होता । जो अज्ञानमे बध अगर अवश्यम्भावी माना जाता है, जिसमे मोहकी प्रेरणा नही रखो गई हो ऐसा अज्ञान तो ११ वें १२ वें गुणस्थानमे भी है । फिर वहाँ भी बध हो जाना चाहिए, किंतु बध होता नही है, इस कारण यह एकान्त नही किया जा सकता कि अज्ञानमे ज्ञानके अभावरूप अज्ञानसे बध निश्चित् होता है ।

उपशान्तमोह व क्षीणमोह गुणस्थानमे बन्ध न होनेका शका समाधान सहित विवरण—अब यहाँ शकाकार कहता है कि ११ वें १२ वें गुणस्थानमे भी तो प्रकृतिबन्ध प्रदेशबन्ध है तो यह कैसे कह दिया कि इन दो गुणस्थानोमे बन्ध न होता । अज्ञान है वहाँ और बन्ध भी मान लीजिए क्योकि बन्धमे चार भेद किए गये हैं प्रकृतिबन्ध प्रदेशबन्ध, स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध, उनमेसे यद्यपि स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध उपशान्त कषाय व क्षीणकषाय इन दो गुणस्थानोमे नही है फिर भी प्रकृति बन्ध और प्रदेशबन्ध तो हैं ही । सो यह भी बात बन जायगी कि उपशान्त कषाय और क्षीणकषाय दोनोके भी अज्ञानसे बन्ध हो जाता है । इनके समाधानमे कहते हैं कि ११ वें १२ वें गुणस्थानमे भले ही प्रकृतिबन्ध, प्रदेशबन्ध है फिर भी वह प्रकृत फल देनेमे समर्थ नही है, क्योकि स्थिति और अनुभागबन्ध होनेपर ही वह उदय विकारमे निमित्त होता है । यो तो प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध सयोग केवली भगवान मे भी है तो क्या परमात्माके भी बन्ध बन जायगा ? इस तरह यह बात निर्विवाद सिद्ध है कि मोह कषाय रहते हुए तो बध होता है किन्तु मोह और कषाय न रहे और ऐसी स्थितिमे वह सर्वज्ञ भी न हो पाया हो अर्थात् समस्त विश्वका ज्ञान नही है तो यो अनेक अशोमे अज्ञान बना रहा तिसपर भी वहाँ बन्ध नही होता है ।

इष्टानिष्टफलदानसमर्थपुद्गल विशेषण सम्बन्धको कषाययुक्ताज्ञान-निबन्धनताकी युक्तिसे सिद्धि—कर्मका बन्ध होता है और वह इष्ट अनिष्ट फल देनेमे समर्थ है यह बात केवल आगम मात्रमे लिखी हुई है, इतना कहकर उसकी प्रामाणिकतासे मुख न मोडना । आगममे भी जो लिखा हुआ है वह वीतराग ऋषि-सतोका प्रतिपादन है इस कारण उसमे अप्रामाणिकता नही है । आगम सभी प्रमाण हैं तिसपर भी और आगे देखिये ! उसमे युक्तिका भी सद्भाव है, अनुमान प्रमाणसे भी यह सिद्ध होता है कि जो इष्ट अनिष्ट फल मिलते हैं उनका कारण कर्मबध है और वह कर्मबध कषायैकार्थ समवेत अज्ञानके कारणसे होता है । इस विषयमे यह अनुमान प्रयोग है कि विवादापन्न और प्राणियोको इष्ट अनिष्ट फल देनेमें 'समर्थ पुद्गल विशेषका सम्बन्ध कषायैकार्थसमवेतार्थं अज्ञानके कारणसे है, क्योकि इष्ट अनिष्ट फल देनेमे समर्थ पुद्गल विशेषका सम्बन्ध होनेसे । इस अनुमान प्रयोगमें यह

...ई गई है कि कषाय जैसे आत्मामे हो रहा है उसमे रहने वाला जो अज्ञान है उस अज्ञानमे बन्धकी कारणता है, क्योंकि उस अज्ञानके कारण होने वाला बंध 'ही स्थितिबंध रूप है। इस अनुमान प्रयोगने उदाहरण यह है कि पथ्य और अपथ्यका जो आहार किया जाता है उसका सम्बन्ध होता है वह भी कषाय और अज्ञानमूलक है। जो मनुष्य अपथ्य आहार कर डालता है तो उसका कारण भी यह है कि उसके प्रति आसक्तिकी कषाय है और तद्विशयक अज्ञान भी है वह पथ्य अपथ्य आहार इष्ट अनिष्ट फल देनेमे समर्थ है इसी प्रकार जैसे जीवके कषाय उत्पन्न हो रहा है उसीमे तात्कालिक तादात्म्यरूपसे रहने वाला अज्ञान है। ऐसा अज्ञानबन्धका कारण होता है कि जो प्राणियोको इष्ट अनिष्ट फलके देनेमे समर्थ है।

प्राणीके पुद्गलविशेष सम्बन्धको कषाय अज्ञाननिबन्धनक सिद्ध करनेवाले अनुमान प्रयोगमे प्रतिज्ञार्थैकदेशत्व दोषकी आपत्ति व उसका निराकरण—उक्त अनुमान प्रयोगमे विवादापन्न प्राणियोको इष्ट अनिष्ट फल देनेमे समर्थ पुद्गल विशेषका सम्बन्ध है, यह तो पक्ष है और 'कषायैकार्थ समवेत अज्ञानके कारणसे हुआ है' यह साध्य है और 'प्राणियोको इष्ट अनिष्ट फल देनेमे समर्थ पुद्गल विशेषका सम्बन्ध होनेसे' यह हेतु है। और उदाहरण दिया गया है पथ्य अपथ्य आहार आदिक सम्बन्धकी तरह। अब इस अनुमान प्रयोगके सम्बन्धमे शङ्काकार कहता है कि वह हेतु यहाँ प्रतिज्ञार्थका एक देश है। प्रतिज्ञा कहते हैं पक्ष और साध्यके कहनेको। तो यहाँ जो हेतु दिया गया है वह पक्षका ही हेतु बना दिया गया है। तो वह प्रतिज्ञाका एक देश ही तो हुआ। जैसे कोई कहे कि यह पर्वत अग्नि वाला है पर्वत होनेसे तो यह कोई अनुमानमें तुक तो न मिला। तो प्रतिज्ञा अर्थका एक देश होनेसे यह हेतु असिद्ध हो जाता है। उक्त शकाके समाधानमे कहते हैं कि यह कहना युक्तिसगत नही है, क्योंकि धर्मीके साथ फिर अनेकान्त दोष आ जायगा। धर्मी प्रतिज्ञार्थका एक देश है तो भी उसमे असिद्धता नही है क्योंकि स्वय ही सूत्रकारने कहा है 'प्रसिद्धोधर्मी' धर्मी प्रसिद्ध हुआ करता है। तो प्रतिज्ञार्थ हुआ धर्मी धर्मका समूह और उसमे धर्मी हुआ एक देश। तो धर्मीका एक देशपना होनेपर भी प्रसिद्धपनेकी बात स्वयं ऋषियोने कही है और जो यह शङ्काकार है उस हीके सिद्धान्तमे भी ऐसा ही बताया है जैसे कि उसका अनुमान प्रयोग है कि शब्द अनित्य है शब्द होनेसे तो यहाँपर भी तो हेतुमें असिद्धपनेका विरोध हो रहा है, अर्थात् इसमे असिद्धता न रहेगी। यहाँ यदि कोई यह कहे कि विशेष तो धर्मीको बनाया जाय और सामान्यको हेतु बनाया जाय तो कोई दोष नही है। तो यह बात ठीक ही जच रही जैसे शब्द अनित्य है शब्द होनेसे तो जिस शब्दको पक्ष बनाया है उसको तो बनाया विशेषरूप और जिस शब्दपनेको हेतु कहा है वह है सामान्यरूप। और सामान्यरूपका द्योतक है त्व प्रत्यय। शब्दत्वात्, तो इस ही प्रकार उक्त अनुमान प्रयोगमें तथात्वात्, यह हेतु दिया गया है अर्थात् पुद्गल

विशेषका सम्बन्धपना होनेसे। तो यों विशेषको धर्मी मानकर और सामान्यको हेतु बोलने वालेका कोई दोष नहीं है।

विशेषको धर्मी मानकर सामान्यको हेतु कहनेसे अनुमान प्रयोगमे दोषका अभाव।—और भी देखिये! जैसे कि एक अनुमान प्रयोग यह होता है कि प्रयत्नके बाद उत्पन्न हुआ शब्द विनश्वर है, क्योंकि प्रयत्नके बाद उत्पन्नपना होनेसे। तो इस अनुमान प्रयोगमे भी जो पक्ष किया गया है, जो धर्मी बनाया गया है उसीको हेतु कहा गया, लेकिन धर्मी तो प्रसिद्ध है और हेतु सामान्य है। किसी विशेष शब्दके बारेमे ही तो निर्णय किया जा रहा है। और हेतु सामान्यपना बताया जा रहा है जो सर्वत्र व्यापक हो। तो यह अनुमान प्रयोग भी सही उतर जाता है कि प्रयत्नके बाद उत्पन्न हुआ शब्द विनाशीक है। क्योंकि प्रयत्नके बाद उत्पन्नपना होनेसे घटकी तरह। जैसे प्रयत्न करके उत्पन्न हुआ घट विनाशीक है। क्योंकि प्रयत्न करके ही तो बनाया गया है वह। तो विशेषको धर्मी मानकर फिर सामान्यको हेतु कहनेमे कोई दोष नही है और इस न्यायसे इस प्रकृत अनुमानमे भी कोई दोष नही आता. अब यहा शङ्काकार कहता है कि शब्दको धर्मी माननेपर तो पक्षाव्यापक हेतु बन जायगा। अभी अभी जो उदाहरण दिया गया है कि शब्द विनश्वर है प्रयत्नके बाद उत्पन्न होनेसे, तो इसमें यदि केवल शब्दको ही धर्मी मान लिया जाता तो उसमे जो शब्दका हेतु दिया है वह पक्षमे अव्यापक है और उसका समुद्रघोषसे व्यभिचार है। जैसे समुद्रमे जैसे आवाज निकलती है तो समुद्रका घोष आदिक प्रयत्नके बिना ही होता है उस घोषको किसने पैदा किया? पर समुद्रकी उन लहरोंसे स्वय ही एक आवाज भी उत्पन्न होती है तो वह प्रयत्नके बिना है और फिर भी वह शब्द है, विनश्वर भी है तो यह हेतु भी तो पक्ष व्यापक हो जाता है। समाधानमे कहते है कि इसीलिए तो यह विशेषण दिया गया है पक्षमे कि प्रयत्नके बाद उत्पन्न हुआ शब्द तो यहाँ धर्मी विशिष्ट बनाया गया है और विशेषको धर्मी बनाकर फिर सामान्यका हेतु कहनेमे कोई दोष नही होता। और, इसी प्रकार इस अनुमान प्रयोगमे भी पुद्गल विशेष सम्बन्धको धर्मी बनाया है तो वहाँ इतनी और विशेषतायें दी गई हैं कि विवादापन्न प्राणियोंके पुद्गलका सबन्ध इतनेको धर्मी बनाकर फिर तथात्वको हेतु बनाया गया है। उदाहरणमे ही सामान्यको हेतु कहा गया है। यदि इतना पूरा विशेष धर्मी नही कहते तब तो कह सकते थे कि इसका कोई दृष्टान्त भी न मिलेगा। और प्रकृतिबंध, प्रदेशबंधके साथ अनेकान्तिक दोष भी आयगा लेकिन पक्षमे विवादापन्न विशेषण भी दिया गया और इष्ट अनिष्ट फल देनेमे समर्थ यह भी विशेषण दिया गया। तब दृष्टान्त न मिले यह भी दोष न आयगा। तथा धर्मी भी निर्विशेषण कहा गया होता तो कह सकते थे कि जो दृष्टान्त है वह भी पुद्गल विशेषणका सम्बन्धरूप है सो दृष्टान्तको भी धर्मीमे अन्तर्भाव बना दिया जाता तब दृष्टान्त नही मिलता। उक्त अनुमान प्रयोगमे दृष्टान्त दिया गया है

पथ्य-अपथ्य आहारके सम्बन्धकी तरह। तो वह भी तो पुद्गल विशेष सम्बन्ध है और वही कहा गया है यहाँ। तो दृष्टान्तका तो लोप हो जाता और जैसे कि पहिले प्रसग बताया गया कि प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबंध ये क्षीणकषाय और उपशान्तकषाय गुणस्थानोमे होते हैं। तो उन दोनों गुणस्थानोमे पुद्गल विशेषका सम्बन्ध बन रहा है लेकिन कषायके साथ अज्ञानकी कारणता वहा मौजूद नही। तो यो व्यभिचार दोष बताया जा सकता, लेकिन जब धर्मीमें दो विशेषण और दे दिए गए हैं कि विवादापन्न और प्राणियोको इष्ट अनिष्ट फल देनेमे समर्थ, तो उन दो विशेषणोको देनेसे ये दोनो ही दोष समाप्त हो जाते हैं, क्योंकि इष्ट अनिष्ट फल देनेमें समर्थ पुद्गल विशेष का सम्बन्धपना, इतना हेतु कषायैकार्थसमवेत अज्ञानके कारण होता ही है, उस हेतु की साध्यके साथ व्याप्ति है। जितना भी इष्ट अनिष्ट फल देनेमे समर्थ पुद्गल विशेष का सम्बन्ध है वह कषाय और अज्ञानके कारणसे बनाया गया है।

दृष्टान्त व प्रकृतमे साध्य साधनकी व्याप्तिका कथन—पथ्य अपथ्य आहारमें जो पुद्गल विशेषका सम्बन्ध पक्ष है उसमें भी यह हेतु व्याप्त है, इस कारण यह भी न कहा जा सकेगा कि उदाहरणमें साध्य और साधन धर्मकी विकलता है। उदाहरणमें पूर्णतया व्याप्त है साध्यसाधन, तथा प्रकृत अनुमानमे भी साध्यसाधनकी व्याप्ति है। जैसे कि एक मोटे रूपमे यह समझो कि जो अपथ्य आहार कोई पुरुष करता है उसका जो सम्बन्ध बनता है, तब ही तो बनता है कि उसमें कषाय भी है और अज्ञान भी पड़ा हुआ है। उस आहारकी जो रुचि है वह तो कल्पनासे बनी है। जैसे अनेक रोगी इतना सोच करके खाने बैठ जाते हैं कि होगा सो होगा, इस समय तो यह चीज रसीली है और सुख दे रही है तो कषायकी ही तो प्रेरणा हुई। और, अपथ्य आहारका सम्बन्ध बना और साथ ही उस कषायके कारण और कषायके साथ अज्ञान भी बसा हुआ है। तो यह निश्चित है कि इष्ट अनिष्ट फल देनेमे समर्थ पुद्गल विशेषका सम्बन्ध कषायैकार्थसमवेत, अज्ञानके कारणसे हुआ करता है इसमे साध्यसाधनकी व्याप्ति पूर्णतया सिद्ध है और हेतुमे अनन्वयपना भी नही है अर्थात् साध्यके साथ अन्वय व्याप्ति भी बनी हुई है। अनुमानप्रयोगमे जो हेतु दिया जाता है वह हेतु केवल अन्वयी हो तब भी सही माना जाता और अन्वय व्यतिरेकी हो तब सही माना जाता। तो यहाँ प्रकृतमे जो हेतु दिया गया है वह तो अन्वयव्यतिरेकी है अर्थात् हेतुका साध्यके साथ अन्वय पाया जाता है और साध्यके न होनेपर हेतुका न होना यह व्यतिरेक सम्बन्ध है। सो अन्वय संबंध है और व्यतिरेक भी हेतु होनेपर साध्यके होना यह तो अन्वय सम्बन्ध तो यो प्रकट है कि जो जो इष्ट अनिष्ट फल-दान समर्थ पुद्गल विशेष सम्बन्ध है वे सब कषायैकार्थसमवेत अज्ञानके कारणसे हैं और यहाँ व्यतिरेक व्याप्ति यो प्रकट है कि जो जो सम्बन्ध इष्ट अनिष्ट फल देनेमें समर्थ न हो वह कषाय और अज्ञानके कारणसे नही है। इसका विचार करके सर्वत्र

घटित किया जाय तो बराबर अन्वयव्यतिरेक सम्बन्ध दृष्टि गोचर होता है। जैसे कि अनुमान प्रयोग हुआ कि विवादापन्न धूम अग्निमे उत्पन्न हुआ है धूम होनेसे। तो यहाँ धूम ही तो पक्ष है और धूमत्वात हेतु दिया गया है लेकिन विवादापन्न धूमकी बात कही जा रही है तो यह विशिष्ट और प्रसिद्ध धर्मी हो गया और धूमपना जो हेतु दिया गया है वह सामान्यरूप है, सो बराबर इसकी अन्वयव्यतिरेक व्याप्ति मिल रही है। जो जो धूम होता है वह अग्निजन्य होता है, जो अग्निजन्य नही है वह धूम भी नही है। जैसे दोनो व्याप्ति यहाँ मिल गयी और उसका दृष्टान्त रसोईघर आदिक जैमे हेतु साध्यसे व्याप्त है इसी प्रकार यह प्रकृत अनुमान भी व्याप्त और समीचीन है। इससे सिद्ध हुआ कि ऐसे ही अज्ञानसे बघ होता है जो मोह और कषायसे सहित हो।

कर्मोंकी पौद्गलिकताकी सिद्धि—यहाँ शङ्काकार कहता है कि उक्त अनुमान मे जो यह सिद्ध किया गया है कि प्राणियोके इष्ट अनिष्ट फल देनेमे समर्थ पुद्गल विशेषका सम्बन्ध कपायैकार्थसमवेत अज्ञानके कारणसे होता है सो भले ही अज्ञानके कारण पुद्गल विशेषका सम्बन्ध मान लिया जाय लेकिन वह पुद्गल विशेष सम्बन्ध इष्ट अनिष्ट फल देनेमे समर्थ कर्मके बन्धरूप है अर्थात् कोई अन्य सूक्ष्म इन्द्रिय अग्राह्य कोई कर्म नामके पुद्गलका बघ है। यह बात सिद्ध नही होती, किन्तु मानना यह चाहिये कि पुद्गल विशेपका सम्बन्धरूप ही वह है। कोई अतर्क्य याने जो विचारमे न आ सके ऐसा कोई कर्म मानना यह बात नहीं बनती। अथवा कर्म बन्ध हुआ तो वह पुद्गल विशेपरूप ही है, यह बात नही बनती। इस शकाके समाधानमें कहते हैं कि जो बात इन्द्रियद्वारा ग्राह्य नहीं है वह यदि युक्तिसे सिद्ध हो तो मानना ही पडेगा। देखिये। वह पुद्गल विशेष सम्बन्ध इष्ट अनिष्ट फल देनेमे समर्थ कर्मबन्धरूप ही है और वह कर्मबन्ध पुद्गल विशेषरूप है, क्योकि उसका विपाक पुद्गलके सम्बन्धसे होता है। जिस जिसका विपाक पुद्गलके सम्बन्धसे होता है वह पुदगलरूप ही होता है। जैसे धान्यका विपाक होता है अर्थात् धान पकता है। धान्य वृक्ष फल देता है तो उसका गर्मी पानी आदिक पुद्गलके साथ सम्बन्ध होता है। तभी तो उसका विपाक होता है, और इसी कारण धान्य पुद्गलरूप देखा गया है, जितने भी पुद्गल हैं उनका विपाक पुद्गलके सम्बन्धसे होता है। तो यह बात पहिले भी सिद्ध की आगे भी सिद्ध करेंगे कि प्राणियोके कर्मका बघ होता है। जैसे विपाक समयमे नाना प्रकारके जीवोको फल मिलता है, अथवा जीवके किसी सुख दु ख विकारमे सहायक हो ऐसा फल मिलता है, इससे सिद्ध है कि कर्मबन्ध पुद्गल विशेषरूप है और वह इष्ट अनिष्ट फल देनेमे समर्थ हैं।

कर्मोंकी पौद्लिकता सिद्ध करनेके लिये प्रस्तुत हेतुमे पक्षाव्यापकत्व दोषका शङ्काकार द्वारा कथन—अब यहाँ शङ्काकार कहता है कि कर्मबन्धको पुद-

...ल विशेषरूप सिद्ध करनेके लिए जो हेतु दिया है यह कर्म पुद्गलके सम्बन्धसे विपच्यमान होता है। तो इस हेतुमे पक्षाव्यापक नामका दोष लगता है याने जितने भी कर्म हैं वे पुद्गलके सम्बन्धसे विपच्यमान हो यह बात घटित नही होती। कुछ कर्म हैं ऐसे जिनका विपाक पुद्गलके सम्बन्धसे होता है, परन्तु जो जीव विपाकी कर्म प्रकृतियाँ हैं उनमे यह बात घटित नही होती कि वह पुदगलके सम्बन्धसे विपच्यमान हो जावे तो देखिये। यह हेतु समस्त पक्षोमे व्यापक न हो सका। पक्ष है यहाँ कर्मबन्ध, एवं और सारे कर्मोंमे यह प्रकृति नही पडी है कि वह पुद्गल सम्बन्धसे विपाक पैदा करें, इस कारण यह हेतु पक्षमे अव्यापक है और जब हेतु सदोष है तो यह सिद्ध नही किया जा सकता कि कर्मबन्ध पुद्गल विशेषरूप है।

कर्मोंकी पौद्गलिकता सिद्ध करनेके लिये प्रयुक्त पुद्गल सम्बन्धे सति विपच्यमानत्वात् हेतुमें शङ्काकार द्वारा कथित पक्षाव्यापकता दोषका निराकरण—उक्त शङ्काके उत्तरमे कहते हैं कि कर्मोंको पौद्गलिक सिद्ध करनेके लिए जो हेतु दिया गया है कि यह पुद्गलके सम्बन्धसे विपच्यमान होता है सो यह हेतु समीचीन है, पक्षाव्यापकत्व नामका दोष इस हेतुमे नही आता है। क्योंकि जीवविपाकी कर्म भी सकर्म जीवके सम्बन्धसे विपच्यमान होता है जैसे कि अन्य तीन जातिकी प्रकृतियाँ पुद्गल विपाकी क्षेत्रविपाकी और भवविपाकी पुद्गलके सम्बन्धमें विपच्यमान सिद्ध, इसी प्रकार जीव विपाकी प्रकृतियाँ भी पुदगलके सम्बन्धसे विपच्यमान हैं, इस कारण से कर्ममे, पक्षमें यह हेतु पूर्णतया व्याप्त है। पक्षाव्यापकत्व नामका दोष इस हेतुमे नही है। तात्पर्य यह है कि प्राणियोंके जो कर्मबन्ध होता है वे समस्त कर्मबन्ध पौदगलिक हैं, क्योंकि पुदगलके सम्बन्धसे उनका विपाक हुआ करता है।

पुद्गलविपाकी प्रकृतियोंकी पुदगलसम्बन्धसे विपच्यमानता—अब उक्त विषयको ही स्पष्ट कर रहे हैं। कर्मप्रकृतियाँ समस्त १४८ होती हैं। कर्मकी मूल प्रकृतियाँ आठ हैं—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय, जिनके समस्त भेद १४८ हैं, ज्ञानावरणकी ५ प्रकृतिया, दर्शनावरणकी ९ प्रकृतियाँ, वेदनीयकी दो, मोहनीयकी २८ आयुकर्मकी ४ प्रकृतियाँ और नामकर्मकी ९३ गोत्र कर्मकी २ अन्तरायकी ५ प्रकृतियाँ, इन सबका वर्णन करणानुयोग शास्त्रमें विस्तार पूर्वक बताया गया है, यहाँ प्रकरण पाकर सक्षेपमें यह बताना है कि इन सब १४८ प्रकृतियोंको ४ भागोमे बाँटा गया है। कुछ प्रकृतियाँ जीवविपाकी हैं कुछ पुद्गल विपाकी हैं कुछ क्षेत्र विपाकी हैं और कुछ भवविपाकी हैं, जिनका फल पुदगलमे प्राप्त हो वे पुदगल विपाकी प्रकृतियाँ कहलाती हैं। जैसे नाम कर्मकी अनेक प्रकृतियाँ क्या कर्मफल देती हैं कि उनके उदयमें शरीरकी रचना होना, आकार बनना संस्थान, बनना, सहनन, बनना, रूप, रस, गंध, प्रतिनियत होना आदिक अनेक रूपोंमें

उसका फल होता है। सो देखिये कि नामकर्मकी जब प्रकृतियोंका फल पुद्गलके सम्बन्धसे ही प्राप्त हो सकता यानी ये सूक्ष्म जो पौद्गलिक स्कन्ध हैं उनके उदयसे जब ज्ञान होते हैं तब तो शरीरके सम्बन्धसे ही है। तो पुद्गलविपाकी कर्मप्रकृतियां शरीर पुद्गलके सम्बन्धसे विपच्यमान होती हैं तो पुद्गलविपाकी कर्म प्रकृतियोंमें इस हेतुसे पौद्गलिकपना सिद्ध हो ही जाता है।

क्षेत्रविपाकी और भवविपाकी प्रकृतियोंका पुद्गलसम्बन्धसे विपच्यमानता—क्षेत्रविपाकी प्रकृतियां चार हैं—नरकगत्यानुपूर्वी, तिर्यग्गत्यानुपूर्वी, मनुष्यगत्यानुपूर्वी और देवगत्यानुपूर्वी। इन क्षेत्रविपाकी प्रकृतियोंका फल विग्रहगतिमें प्राप्त होता है। जब कोई जीव पूर्व शरीरको छोड़कर यानी मरकर उत्तर शरीरमें जन्म लेता है तो बीचमें यदि मोड़सहित जीव जा रहा है तो वहाँ इस क्षेत्रविपाकी कर्मप्रकृतिके उदयसे जीवकी पूर्व शरीरके आकारमें अवस्था होती है। उस समय किसी पुद्गलका सम्बन्ध ही नहीं है जिससे आकार है? सो ऐसा नहीं, कार्मण और तैजस शरीर और पूर्व शरीरके आकारसे यह आकार उनके सम्बन्धसे ही ये प्रकृतियां विपच्यमान हैं, इस कारण क्षेत्रविपाकी कर्मोंमें भी यह हेतु व्यापक है यह भी पुद्गलके सम्बन्धसे विपच्यमान है।

जीवविपाकी प्रकृतियोंका पुद्गलसम्बन्धसे विपच्यमानता—भवविपाकी प्रकृतियां चार हैं—नरक आयु, तिर्यंच आयु, मनुष्य आयु और देव आयु। इन प्रकृतियोंके उदयसे जीवका परिणाम शरीरमें अवस्थित होना है। तो इस आयुकर्मका विपाक भी उस शरीरके सम्बन्धसे विपच्यमान हुआ। इस कारण भवविपाकी कर्मोंमें भी यह हेतु व्यापक बन गया कि वह पुदगलके सम्बन्धसे विपच्यमान है। अब जीवविपाकी प्रकृतिकी बात सुनो। जिसमें शङ्काकारने आपत्ति दी है। जीवविपाकी प्रकृतियां उन्हें कहते हैं कि जिनका फल जीवमें हो जैसे ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय इनका फल जीवमें ही है। किसी कर्मप्रकृतिके उदयसे जीवके अन्य आवरणोंका उदय है और इसके अतिरिक्त वेदनीयकी प्रकृतियां गोत्रकर्मकी प्रकृतियां जैसे तीर्थङ्कर आदिक इनके उदयसे जीवमें कुछ न कुछ असर होता है। तो यह जीवविपाकी प्रकृतियां सकर्म जीवमें ही तो फल दे सकती हैं। तो सकर्म जीवके सम्बन्धसे यह जीवविपाकी प्रकृतियां विपच्यमान हैं इस कारण जीवविपाकी प्रकृतियों से भी हेतु व्यापक बन गया। सकर्मा जीवमें कर्मबन्धनसे बद्ध होनेसे वह मूर्त माना गया है और मूर्तपनेका ही नाम यह पौदगलिकपना रखा गया है तो व्यवहारसे बंधके कारण यह जीव मूर्त है और मूर्तपनेका ही नाम पौदगलिकता है। यों जीवविपाकी प्रकृतियोंका भी पुदगलके सम्बन्धसे विपाक सिद्ध हो जाता है। तो कर्मबंधको पौदगलिक सिद्ध करनेके लिए जो पुदगल सम्बन्धसे विपच्यमान हेतु दिया गया है वह हेतु समीचीन है और निर्दोष है, इस कारण इस अनुमानके हेतुको सदोष नही कह सकते।

पूर्वानुभूत-स्मरणके निमित्तभूत कर्ममे पुद्गलसम्बन्धे सति विपच्यमान-त्वात् हेतुकी अव्यापकताका आशंका—अब यहाँ एक जिज्ञासा यह बनती है कि जब कोई पुरुष पहिले अनुभव किए गए विषयका स्मरण करता है तो उस समयमे उसे सुख भी होता है, कभी दुःख भी होता है। तो वहाँ सुख दुःख देने वाले जो कर्म हैं उन कर्मोंमे तो यह हेतु नही पाया गया कि वह कर्म पुद्गलके सम्बन्धसे विपच्यमान है याने जब किसी भोगे हुए सुखका स्मरण किया जाता है मान लो स्त्रीपुत्रादिक जिनके नही हैं, गुजर गए और कभी उनका ख्याल करते हैं तो उनके ख्यालसे वे दुःख मानते हैं अथवा कभी सुख मानते हैं तो अब उस सुख दुःखमे निमित्त तो कर्म है किंतु उसमे यह हेतु कहाँ पाया गया कि पुद्गलके सम्बन्धसे विपच्यमान है तब स्मरणके प्रसङ्गमे सुख दुःख देने वाले कर्ममे यह हेतु न पाया जानेसे इस हेतुमे पक्षाव्यापकत्व नामका दोष बराबर बना रहा और इस कारण यह हेतु साध्यको सिद्ध नही कर सकता। तब उन कर्मोंको पौद्गलिक सिद्ध नही किया जा सकता है।

उपरोक्त हेतुमे अनैकान्तिक दोष बतानेकी आशङ्काका समाधान—अब उक्त शङ्काका समाधान करते हैं कि यद्यपि पूर्व अनुभूत विषयके स्मरणके सबधमे साक्षात् किसी नोकर्म बाह्य पुद्गलका सम्बन्ध नही है फिर भी स्मरण तो होता है पूर्व अनुभूत विषयका और जिस समय अनुभूत किया गया था उस समय नोकर्म आश्रयभूत वह विषय सन्निधानमे था। तो यो परम्परासे पुद्गलके सम्बन्ध द्वारा ही उन कर्मोंका विपाक हुआ है जिस विपाकके समय वह स्मरण चल रहा है। जैसे किसीको गुजरे हुए स्त्री पुत्रका स्मरण हो रहा है तो स्मरणके समयमे स्त्रीपुत्र विषय रूपसे तो सम्बन्धित हैं और साथ ही उन स्त्रीपुत्रोका स्मरण हो रहा है और जब कभी उनका सन्निधान था व साक्षात् व्यवहार था तो वहाँ साक्षात् पुद्गल सम्बन्ध था। तो यो परम्परामे पुद्गलके सम्बन्धसे ही वहाँ स्मरणके सम्बन्धमे कर्म विपच्यमान हो रहे हैं। ऐसा कोई भी कर्म नही है जो साक्षात् अथवा परम्परासे पुद्गलके सम्बन्धके बिना विपच्यमान हो जाय। इसी कारण सभी कर्म पौद्गलिक ही कहलाते हैं, क्योकि वे सभीके सभी कर्म पुद्गलके सम्बन्धसे विपच्यमान होते हैं। कर्म पौदगलिक हैं, क्योकि पुद्गलके सम्बन्धसे वे अपना विपाक उत्पन्न करते हैं। जैसे कि धान्य आदिक पुद्गल हैं क्योकि वे वर्षा, गर्मी, खाद आदिक पुद्गलके सम्बन्धसे विपच्यमान हुआ करते हैं। यो कर्म पौदगलिद हैं, वे पुदगल विशेषके सम्बन्धी हैं यह बात निर्बाध सिद्ध हो जाती है।

कर्मोंकी इष्टानिष्ट फलदान समर्थताकी सिद्धि—जिस प्रकार कर्मोंकी पौदगलिकता निर्बाध सिद्ध है उसी प्रकार वे कर्म इष्ट अनिष्ट फल देनेमे समर्थ हैं, यह बात भी निर्बाध सिद्ध है। जब इष्ट कारणका व्यभिचार होता है अर्थात् देखे गए

कारणमे नियम नही रहता तब शुभ अथवा अशुभ फलका जो अनुभव है जो कि स्वसंवेदित है उसमे यह सिद्ध होता है कि उस फलानुभवमे कोई अदृष्ट कारण है। जैसे अनेक पुरुष धनार्जनके लिए अथक परिश्रम करते हैं, इतनेपर भी अधिक परिश्रम करने वाले नही लाभ पाते हैं और थाडा सा श्रम करने वाले, कुछ भी श्रम न करने वाले लाभ पाते हैं। तो यहाँ दृष्ट कारणका व्यभिचार देखा गया है वही उद्यम एक किसानने किया, वैसा ही उद्यम दूसरे किसानने किया फिर भी एकके खेतमे कीट लग गए या अन्य बाधायें आ गयी, उसकी फसल न बन सकी, दूसरेकी फसल कितनी ही गुणित हो गयी, तो अब कारण तो दोनोंने सही जुटाया, सिंचाई, खाद, श्रम आदिक समान हुए लेकिन उन दृष्ट कारणोमे व्यभिचार आ गया। किसीका उद्यम सफल हुआ, किसीका नही, तो वहाँ जो एकको तो लाभ मिला, एकको हानि मिली, इसमे कारण जरूर है कुछ और वह है अदृष्ट कारण, क्योंकि देखे गए कारणोमे तो भगपड गया। तो उससे सिद्ध है कि कोई अदृष्ट कारण जरूर है। और वह अदृष्ट कारण जो कुछ भी समझा जाय बस उसे कोई किसी शब्दसे कहे, वही यहा कर्मरूपमे विवक्षित है। यह कर्म केवल जीवका भाव मात्र नही है, जीवके विभावको भावकर्म कहते हैं, पर जीवके भावकर्मका निमित्त पाकर जो पौदगलिक कार्माण वर्गणाओंका बध होता है वह द्रव्यकर्म कहलाता हैं। द्रव्यकर्म जहाँ निमित्तरूप होता है, वहाँ जीवके विकार उत्पन्न होते हैं। तो यद्यपि वह कर्म अदृष्ट है, इन्द्रिय द्वारा गोचर नही है, लेकिन उन अदृष्ट कर्मोके कारणसे ये शुभ अशुभ फल होते हैं सो यह शुभाशुभ फलोका अनुभव द्रव्यकर्मोका अस्तित्व सिद्ध करता है। बात युक्तिसे सिद्ध हो जाती है।

दृष्टान्तपूर्वक इष्टानिष्टफलानुभव द्वारा अदृष्ट कर्मके अस्तित्वकी सिद्धि—जैसे अपनी अपनी आँख किसको देखती है? कोई अपनी आँखको देख नही सकता है आँखके द्वारा सीधा आँखको कोई नही देख पाता, तो अदृश्य कहलाये ना एक चक्षु आदिक, लेकिन हमे जो बाहरमे रूपका ज्ञान हो रहा है यह रूप है काला, पीला, नीला, आदिक रूपका जो ज्ञान होता है यह ज्ञान अदृश्य चक्षुको सिद्ध करता है कि है हमारी आख, और लोग कहते भी हैं कि इस समय हमारी आँख ठीक काम कर रही है। कम दिखता है तो कहते है कि मेरी आँखमे दोष आ गया है। तो रूपका ज्ञान होना इस बातको सिद्ध कर देता है कि आँख है इस ही प्रकार इस लोकके शुभ अशुभ फल इस बातको सिद्ध कर देते हैं कि कोई अदृष्ट कर्म कारण है। इन्द्रिय केवल चक्षु ही अदृश्य हो सो बात नही। सभी इन्द्रियाँ अपने आपके इन्द्रिय द्वारा अज्ञात हैं, अदृश्य हैं। जैसे कि मोटेरूपमें यह दिखता है कि यह जीभ है, किन्तु उस जिह्वामे जिन परमाणुओके सम्बन्धके निमित्तसे रसका ज्ञान होता है वह कहाँ दृश्य है? जो दिख रहा है, जो छूनेमे आता है वह तो रसना नही। रसना इन्द्रिय उसे कहते हैं जिसके द्वारा रसा जाय। अब छुवा जा रहा, छूकर देख रहे तो वह तो स्पर्शन हो गया। उसके

भीतर जो एक अतर्क्यरूप परमाणु पुञ्ज है जिसकी जानकारीकी पद्धति विलक्षण है उसे किसने देखा। वह स्वयं कैसे देखी जाय? स्पर्शन इन्द्रियको लोग प्रत्यक्ष आँखो देखते हैं, यद्यपि यह सारा शरीर ही स्पर्शन इन्द्रिय है लेकिन जिन परमाणु पुञ्जोकी कलामें यह बात पड़ी है कि अन्य पदार्थका स्पर्श जान जाय वह किसे दिखता है, अथवा देख लो वही स्पर्शन इन्द्रिय वही परमाणु अपने आपका स्पर्शज्ञान नहीं ले पाता है। जब किसी पुरुषको बुखार आया हो तो वह एक हाथसे दूसरे हाथको छूकर बताता है कि हमारा शरीर गर्म है, तो कुछ अंग खुदका छुवे बिना वह कुछ बता तो नहीं पाता। तो ये सब इन्द्रियाँ इस प्रकारसे अदृश्य सी हैं लेकिन उनका जो विषयज्ञान है वह विषयज्ञान इस बातको सिद्ध कर देता है कि इन्द्रियाँ हैं। चक्षुइन्द्रियका दृष्टान्त मुख्य है, क्योंकि वह स्पष्ट अदृष्ट है। लोग कभी अपनी आँखका गुण दोष जाननेके लिए ऐनामे देखते हैं और आँखो दिख जाता है तो आँखने आँखको देख लिया क्या? नहीं देखा। किन्तु आँखका निमित्त पाकर दर्पणमे प्रतिविम्ब हुआ और उस समय वह आँख दर्पणके प्रतिविम्बको देख रही है, वह प्रतिविम्ब आँखके अनुरूप है यह बात अवश्य है, लेकिन आँख तो सामनेके प्रतिविम्बको निरखती है और उसे निरखकर अपनी आँखका, हाल जान लिया जाता है। तो जैसे चक्षु आदिक इन्द्रियाँ अदृश्य हैं फिर भी यह हेतु, रूपादिका ज्ञान और इनका अस्तित्व सिद्ध करता है। ये सब बातें रूपादिक ज्ञानोसे सिद्ध हो जाती हैं। इसी प्रकार जगतमे जो ये सब वैचित्र्य देखा जा रहा है कोई सुखी है कोई दु खी है, किसीपर उपद्रव है कोई आरामसे है कोई सुकुमाल है कोई कठोर शरीर वाला है। किसीकी बुद्धि कम है किसीकी बुद्धि विशेष है आदिक अनेक प्रकारकी जो विचित्रतायें नजर आती हैं, आखिर जो भी विचित्रतायें होती हैं उनका कोई न कोई कारण अवश्य होता है। विषमता, विचित्रता, परिवर्तन ये सब कारण बिना नहीं हुआ करते। तो लोकका जो वैचित्र्य है, इसका जो कारण है वही कर्म कहलाता है।

कर्मबन्धको अज्ञानहेतुकताके कथनमें 'मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषायोगा बन्धहेतवः' इस सूत्रवचनके साथ अविरोध—यहाँ तक यह सिद्ध किया गया कि जैसे दैवके उदयमें इष्ट अनिष्ट कार्य हुआ करते हैं वह दैव पौद्गलिक है और इष्ट अनिष्ट फल देनेमें समर्थ है, ऐसा द्रव्य कर्मका उदय आनेपर जो जीवमें रागादिक विकार उत्पन्न होते हैं उन विकारोसे पुन जीवके बंध चलता है। तो यों वह बंध अज्ञानहेतुक सिद्ध किया गया है। अज्ञानसे बंध होता है। मोहसहित अज्ञानसे बंध होता है। इस प्रकरणको सुनकर शङ्काकार कहता है कि यदि इस तरह बंधको अज्ञानहेतुक सिद्ध किया जाय तब फिर सूत्रकारने जो बताया है कि मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये हेतु हैं कर्मबन्धके तब तो इस सिद्धान्तके साथ विरोध हो जायगा। यहाँ तो कह रहे हैं कि अज्ञानसे बंध होता है और सूत्रमें

बताया गया है कि मिथ्यादर्शन आदिक कारणोंसे बंध होता है तब तो इन दोनोंमें विरोध आयगा। इस शङ्काके उत्तरमें कहते हैं कि इन दोनों कथनोंमें रंच भी विरोध नहीं है। कारण यह है कि सूत्रजीमें जो बताया गया है कि मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये बंधके कारण हैं, तो ये सभीके सभी [illegible] अज्ञानके अविनाभावी ही तो हैं। जिस जीवके कषायभाव जग रहा है उस जीवमें अज्ञान भी है, कहीं बिल्कुल विपरीत ज्ञान है, कहीं किसी सम्बन्धमें न जानकारीरूप अज्ञान है, तो कहीं किसी रागद्वेषके लगावरूप अज्ञान है। आखिर कषायवान जीवके जो अज्ञानभाव है वह बंधका कारण है। यही बात साधारण जनकी सर्वत्र सिद्ध बातोंमें घटित होती है। तो सूत्रकारके उस कथनसे भी ये दोनों बातें सिद्ध हो जाती हैं कि अज्ञानसे कर्मबन्ध होता है और कर्म इष्ट अनिष्ट फल देनेमें समर्थ हैं।

इष्टानिष्टफलदानसमर्थ कर्मोंके बंधकी अज्ञानहेतुकता की सिद्धि— कर्मोंकी पौद्गलिकताको व अदृष्ट कर्मोंकी अस्तित्वता सिद्ध करनेके लिए जो हेतु दिया गया है उससे ही यहाँ सिद्ध होता है कि कर्म इष्टानिष्ट फल देनेमें समर्थ हैं। इष्ट अनिष्ट फल देनेमें समर्थताकी बात इष्टानिष्टानुभवन हेतु द्वारा स्वयं ही सिद्ध हो जाती है। यदि यह कह दिया गया कि मिथ्यात्वसे कर्मबन्ध होता है तो मिथ्यात्वका अर्थ है क्या? मिथ्यादर्शन विपरीतज्ञान। विपरीतज्ञान किसको होता है जो जीव कषाय भावमें लगा है। तो कषायके साथ जो रहा सहा अज्ञान है वही तो मिथ्यादर्शनसे हुआ, उससे ही बंध हो गया। अविरति भावमें कर्मबंध होता है इसका अर्थ क्या है कि जो ५ पापोंका परिणामरूप भाव है, जहाँ ५ पापोंका त्याग नहीं किया जासका है उस परिणामसे कर्मबन्ध होता है। वह मिथ्यादर्शनसे सहित भी हो सकता है और मिथ्यादर्शन किसी जीवके न रहा हो फिर भी अविरतभाव हो सकता है। पर प्रत्येक अविरत भावमें कषायके साथ अज्ञान भाव मिला हुआ है। भले ही सम्यग्दृष्टिके अविरत परिणाममें मिथ्यात्व जैसा अज्ञान नहीं पड़ा है लेकिन इष्ट अनिष्ट विषयमें रागद्वेष रहा है वहाँ अज्ञान परिणमन तो कहा ही जायगा। रागद्वेष परिणाम ज्ञान स्वरूप नहीं कहलाता, वह अज्ञान परिणाम ही है। तो उससे भी यह सिद्ध हुआ कि अज्ञानसे कर्मबन्ध होता है। यही बात प्रमाद और कषायके सम्बन्धमें जाननी चाहिए। वहाँ भी रागद्वेष है और वह है अज्ञानरूप भाव। वह मिथ्यादर्शनके सद्भावमें भी हो सकता है और मिथ्यादर्शनके बिना भी हो सकता है। किसी भी प्रकार हो, अज्ञान भाव वह कहलाता है तो उस अज्ञानसे भी बंध होनेकी ही बात सिद्ध होती है। योग भी मिथ्यादर्शन, अविरति आदिकके साथ रहता है। तो वह भी अज्ञानसे सम्बन्धित है कभी कोई विशुद्ध जीव हो, कषायरहित है, उपशान्तकषाय है क्षीणकषाय है, सयोगकेवली है, उनके भी योग चलता है। लेकिन उस योगसे बंध नहीं बताया गया। ईर्यापथ आश्रव जरूर होता है। तो चू कि ऐसा योग पहिले बंधका कारण था अत

से बंधके कारणमे रख दिया है। यो सूत्रकारके वचनमे भी यह सिद्ध होता है कि अज्ञानसे कर्मबन्ध है और वह कर्म इष्टानिष्ट फल देनेमें समर्थ है।

ज्ञापकतत्त्व व कारकतत्त्वके वर्णनका संकेत—इस न्याय ग्रन्थमे दो प्रकार के विषय मुख्यतासे कहे गए हैं। एक तो ज्ञापक तत्त्वसे सम्बन्धित, दूसरा कारकतत्त्वसे सम्बंधित। इस ग्रन्थके ७ अध्यायोमे ज्ञापक तत्त्वकी सिद्धि की है और उस ज्ञापकतत्त्व के द्वारा अर्थात् प्रमाणके द्वारा प्रमेय याने ज्ञेय तत्त्वका भी विवरण किया गया है। उसके पश्चात् हमारा कर्तव्य क्या है और अपने कल्याणके लिए हम कैसी दृष्टि बनायें इसको ध्वनित करने वाला यह कारक तत्त्वका प्रकरण चल रहा है। अष्टम परिच्छेदमे बताया है कि सिद्धियाँ दो प्रकारकी होती हैं—लौकिक और अलौकिक। लौकिक सिद्धि दैवसहित पुरुषार्थसे होती है। इस सम्बन्धमे कुछ लोग एकान्त कर रहे थे कि अर्थ सिद्धि दैवसे ही होती है। उस सम्बन्धमें आपत्ति बताकर सिद्ध किया गया कि दैवसहित पुरुषार्थसे सिद्धि होती है। मोक्ष सिद्धि अथवा अलोक सिद्धिके सम्बध मे यह बात है कि मुक्तिकी, शान्तिकी सिद्धि आत्मपौरुषसे होती है। उसमे यह थोडा कह सकते हैं कि आत्माके इस प्रकारके पौरुषका प्रारम्भ उस समय होता है जिस समय उपशम क्षयोपशम जैसी क्षीण हीन दशामें कर्मोंकी अवस्था प्राप्त हो। उसके पश्चात् फिर जो पौरुष चला तो उस पौरुषसे कर्मोंका और परिक्षय होता गया और पुन. पौरुषमे वृद्धि हुई। तो यो पौरुषकी मुख्यतासे अलौकिक सिद्धि होती है।

पाप पुण्यके साधनका निर्णय—अष्टम परिच्छेदमे कथित दैवको पुण्य और पाप दो भागोमे विभक्त किया है। जब नवम परिच्छेदमे इसकी चर्चा चली कि पाप किस तरह होता है और पुण्य किस तरह होता है, किन्हीका सिद्धान्त था कि दूसरे जीवोंमे दु ख पैदा हो उससे पाप होता है। तो इस एकान्तमे यह बताया गया था कि द:कटक आदिकके निमित्तसे दूसरे पुरुषोको दु ख होता है तो क्या कटक आदिकको भी पाप लग जाना चाहिए? अथवा अकषाय साधु सतके निमित्तसे कोई अज्ञानी दु खी होता है अपने आपमें ईर्ष्यावश या किसी भी कारणसे अज्ञानसे दु खी होते हैं सो क्या उस दूसरेके दु खसे अकषाय साधुसंतको भी पाप लग जाना चाहिए? तो ये दो आपत्तियाँ आती हैं अतएव यह नही कहा जा सकता कि दूसरे जीवमे दु ख होनेसे पापका बन्ध होता है। किन्ही दार्शनिकोने कहा है कि पुण्य होता है दूसरोंमे सुख पैदा होनेसे, किन्तु यह एकान्त भी युक्तिसगत नही है। यदि दूसरेमे सुख हो सकनेसे पुण्य हो सकता होता तो दुग्ध आदिक अ न पदार्थोंके सम्बन्धसे दूसरेको सुख होता है तब तो उन दुग्धादिकको भी पुण्यका हो जाना चाहिए। अथवा अकषाय साधु सतके र्शन पूजन आदिकके निमित्तसे अनेक जीवोको सुख होता है तो उस सुखके कारण संतको पुण्यसे लिपट जाना चाहिए? अरे साधुसंत तो कर्मोंका परिक्षरण

हुए मोक्ष मार्गमे बढ़ा करते हैं। किन्हीं दार्शनिकोका यह सिद्धान्त हुआ कि स्वयको दुःख देनेसे पुण्यका बंध होता है। जैसे कोई अपने मनको तपश्चरणमे सयममे लगाता है, उपवास आदिक करता है, दुःख हुआ ना, उससे पुण्य होता है तो इस धारणा वालोके मतमे यह आपत्ति आती है कि फिर तो वीतराग मुनि सत भी बडे उपसर्ग, कायक्लेशके बीच रहते हैं तो उन्हें भी क्या पुण्य हो जाना चाहिए ? अरे वे तो कर्मों का क्षय करनेपर तुले हुए हैं। किन्ही दार्शनिकोका यह सिद्धान्त बना कि स्वयको यदि सुख दिया जाय तो उससे पापबध होता है। जैसे राग मोहके सुखसे सुखी होने वाले लोग पाप परिणाम करते हैं तो स्वयके सुखसे पाप होता है इस एकान्तमें यह बाधा आती है कि कोई ज्ञानी सत विद्वान मुनि हो और वह तत्त्वज्ञानसे प्रसन्न रहता हो तो वह भी पापसे लिपट जायगा। तो पाप पुण्यके साधनपर अनेक विवाद चले। वहाँ सबका निराकरण करते हुए यह सिद्धान्त स्थापित किया कि यदि विशुद्धिका अंगभूत है वह स्व या परका सुख दुःख तो उससे पुण्य बध होता है। यदि सक्लेशका अंगभूत है वह सुख दुःख चाहे स्वमें हुआ हो या परमे उससे पाप होता है।

मोहसहित अज्ञानमे कर्मबन्ध होनेका निर्णय—पाप पुण्यकी चर्चा करनेके बाद यह जिज्ञासा होना स्वाभाविक है कि पाप पुण्यका बध होता किस तरह है ? पाप पुण्य दोनों ही हेय हैं, कर्म हैं कर्मके बन्धकी चर्चा इस दशम परिच्छेदमें चल रही है। इस प्रसगमें किन्ही दार्शनिकोंका यह सिद्धान्त बना कि अज्ञानसे बन्ध होना निश्चित है। तो उस एकान्तमे यह बात दर्शायी गयी उन एकान्तवादियोके प्रति कि फिर तो कभी कोई केवली मुक्त हो ही न सकेगा, क्योंकि ज्ञेय पदार्थ अनन्त हैं और किसी भी अयोगीको अर्थात् ससारी प्राणियोको समस्त ज्ञेयोंके जाननेका अवसर ही न मिल पायगा क्योकि उसका कोई प्रमाण प्रत्यक्ष अनुमान आगम आदिक समस्त विशेष ज्ञेय तत्त्वोको जनानेमे समर्थ नही है। मोक्षके सम्बन्धमे दार्शनिकोका सिद्धान्त बना कि थोडे ज्ञानसे मोक्ष होता है। तो वहाँ भी यह आपत्ति आती है कि थोडा ज्ञान हो मगर अज्ञान तो बहुत है। तब अज्ञानसे बन्ध हुआ फिर मोक्ष अवस्था कैसे बनी ? आदिक अनेक शङ्का समाधानके बाद अन्तमे यह सिद्धान्त स्थापित हुआ कि मोहसहित अज्ञानसे विशिष्ट कर्मबन्ध होता है किन्तु मोहरहित ज्ञानसे कर्मबन्ध नही होता। यह मोह-सहित अज्ञान अनेक कक्षाओमे, अनेक परिस्थितियोंमें उपलब्ध होता है। कही मिथ्यात्व सहित अज्ञान है तो वहाँ विशिष्ट कर्मबन्ध होता है, ससार वर्द्धक जन्म मरण की परम्परा कराने वाला कर्मबन्ध होता है। कही मिथ्यात्वरहित स्थिति हैं, किन्तु अभी भी रागद्वेष हैं तो उस स्थितिके अज्ञानसे कर्मबन्ध होता है पर मिथ्यात्व न रहने के कारण जन्म मरणकी परम्परा बढ़ाते रहने वाले बन्ध नहीं हैं, पर कर्मबन्ध है क्यों कि अज्ञानका सद्भाव है। जहाँ तक रागद्वेष भाव होता है वहाँ तक बधका हेतुभूत अज्ञान माना गया है, क्योंकि रागद्वेष परिणाम स्वय अज्ञानरूप हैं। जहाँ मोह नष्ट

हो जाता है वहाँ कर्मबन्ध नही होता। उपशान्त कषाय क्षीणकषाय गुण स्थानमे जब कि अज्ञान है, केवल ज्ञान न होनेसे ज्ञानकी कमी रहती है लेकिन उस अज्ञानसे कर्म बन्ध नही होता, केवल साता वेदनीयका ईर्यापथ आस्रव होता है। ईर्यापथ आस्रवका अर्थ है आया और गया वह दो-समय तक नही रह पाता। यो यह सिद्धान्त निर्णीत आ कि मोहसहित ही अज्ञानसे विशिष्ट कर्मबन्ध है। वीतमोह अज्ञानसे कर्मबन्ध नही है।

मोक्षके साधनका निर्णय—अब मोक्ष प्रकरणकी बात सुनो। जिसका शङ्का समाधानके बाद निष्कर्षरूपमें अभी निर्णय हुआ। स्तोक तत्त्वज्ञानसे जो कि मोहनीयके क्षयरूप है उससे यह जीव मोक्ष प्राप्त करेगा क्योकि मोहके क्षयके अभावमें कर्मबन्धकी बात सिद्धकी गई है। थोडा तत्त्वज्ञान हो उससे ही मोक्ष हो गया ऐसी बात नही कही जा रही, किन्तु उस थोडे तत्वज्ञानसे यह अवश्य मोक्ष प्राप्त करेगा उसका मोक्ष निकट है। स्तोक तत्त्वज्ञान मोक्षमार्ग है, स्वय मोक्षस्वरूप नही है। जहाँ बहुत ऊंचा श्रुतज्ञान है जो कि क्षायोपशमिक भावरूप है वह भी केवलज्ञानकी अपेक्षासे स्तोक कहलाता है। यद्यपि उत्कृष्ट श्रुतज्ञानका विषय सारा विश्व है लेकिन वह परोक्षभूत पसे और एक-एक पदार्थको विशेष विशेष व्यक्तिरूप कर करके नही जाना अथवा तीन लोक तीन कालके पदार्थोंको स्पष्ट नहीं जान सके, अतएव उत्कृष्ट श्रुतज्ञान भी केवल ज्ञानके समक्ष स्तोक है। तो ऐसे थोडे तत्त्वज्ञानसे भी मोक्षमार्ग चलता है और मोक्षकी सिद्धि होती है और साक्षात् मोक्षकी सिद्धि अर्हन्त्य अवस्थाकी प्राप्ति तो छद्मस्थ वीतरागके अन्तिम समयमे होने वाले उस उत्कृष्ट श्रुतज्ञानसे होती है। छद्मस्थ वीतराग कहते हैं क्षीणमोह गुणस्थानवर्ती जीवको। उपशान्तकषाय गुणस्थानवर्ती जीव भी छद्मस्थ वीतराग है परन्तु उपशम श्रेणीसे मुक्ति नही होती। कषायके प्रकट हो जानेसे उसको नीचे गुणस्थानमें गिरना होता है। तो क्षीणकषाय नामके छद्मस्थ वीतरागके अन्तिम समयमें जो उत्कृष्ट श्रुतज्ञान है उससे साक्षात् कैवल्य आर्हंत्यरूप मोक्षकी सिद्धि होती है किन्तु उससे विपरीत अर्थात् मोहसहित थोडे ज्ञानसे कर्मबन्ध ही होता है। यह मोहसहित थोडा ज्ञान सम्यग्दृष्टिसे लेकर १० वें गुणस्थान तक है। कही मिथ्यात्व सहित थोडा ज्ञान है और ऊपर मिथ्यात्व नही रहा फिर भी थोडा ज्ञान है तो सूक्ष्म साम्पराय नामक १० वे गुणस्थान पर्यन्त तो बन्ध बताया ही गया है। तो यों मोहसहित थोडे ही ज्ञानसे कर्मबन्ध होता है, यह सिद्ध होता है।

बन्धसाधनसे हटकर मोक्षसाधनमे लगनेका सदेश—इस प्रसङ्गमें मुख्यतासे दो बातें सिद्ध की गई हैं कि मोहसहित अज्ञानसे कर्मबन्ध है और मोहरहित स्तोकज्ञानसे मोक्षकी सिद्धि होती है। लो सिद्धियोंके साधन बतानेके बाद अलौकिक सिद्धिकी साधना बतानेमें उद्देश्यकी पूर्ति है, ऐसा जान... स प्रसङ्गमें मोक्ष और

मोक्षमार्गके साधनकी बात कही गई है। जिस मोहके दूर होनेसे थोडेसे तत्त्वज्ञानसे मोक्षकी सिद्धि बताई गई है वह मोह दूर होता है वस्तुस्वरूपके ज्ञानसे। वस्तुस्वरूपके ज्ञानके लिए पूर्व ७ परिच्छेदोंमें ज्ञापकतत्त्व और ज्ञेयतत्त्वका शङ्कासमाधानपूर्वक भली प्रकार विवेचन किया गया है। और यहाँ कारक तत्त्वके सम्बन्धमें यह स्पष्ट कर दिया गया कि मोहसहित अज्ञानसे कर्मबन्ध होता है और मोहरहित तत्त्वज्ञानसे मोक्ष होता है। इस कारण कल्याण चाहने वाले पुरुषोंको मोह नष्ट करनेका उपाय बनाना चाहिये।



आप्तमीमांसा-प्रवचन

[द्वादश भाग]

प्रवक्ता

अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री १०५ क्षुल्लक मनोहरजी वर्णी सहजानन्दजी महाराज

कामादिप्रभवश्चित्र कर्मबन्धानुरूपतः।
तच्च कर्म स्वहेतुभ्यो जीवास्ते शुद्धयशुद्धितः ॥ ६६ ॥

समोह अज्ञानकी कर्मबन्धहेतुताकी सिद्धिके अवसरमे शङ्काकारको एक रूढ आशङ्काके निराकरणका उपक्रम—इस कारिकासे पहिले २ कारिकाओमे तर्क वितर्क पूर्वक पुण्य पाप कर्मका बन्ध कसे होता है इसका वर्णन किया था और निष्कर्ष यह निकला था कि मोहसहित अज्ञानसे कर्म बध होता है। इस प्रसङ्गको सुनकर एक शङ्काकार यह शङ्का कर रहा है कि यह बात भी हम मानलें कि पुण्य पाप कर्मका बध प्राणियोको काम इच्छा आदिक दोष वाले मोहकी आदतसे सहित अज्ञानसे हुआ करता है और वे शुभ अशुभ फलके अनुभवमे निमित्त भी होते हैं। लेकिन ये कामादिक दशायें भवसृष्टियाँ ये सब किसी एक महेश्वरके निमित्तसे हुई हैं, इस भावससारकी सृष्टिका प्रधान कारण अन्य कुछ नही है। इस आशङ्काका निराकरण इस कारिकामे किया गया है। कारिकाका अर्थ है कि कामादिक विभाव जो नानारूप परिणम रहे हैं वे कर्मबन्धके कारणसे परिणम रहे हैं और जिस कर्मका निमित्त पाकर ये रागादिक भाव बनते हैं वे कर्म अपने हेतुओसे अर्थात् जीवके रागादिक परिणामोके कारण बनते हैं। यह सब एक परम्परा चलती जा रही है फिर भी इस वृत्तिके भवोसे अनेक जीव मुक्त हो जाते हैं, कुछ नहीं हो पाते हैं। तो जीवोंमे इस ही प्रकारकी भव्यता है जिससे भव्य जीव तो इन सब सङ्कटोसे मुक्त हो सकते हैं अभव्य जीव इन सब सङ्कटोसे मुक्त नही हो पाते, तो कर्मविपाकके कारणसे कामादिक भाव होते हैं। इन कामादिक भावोकी हेतुता बतानेसे यह स्पष्ट निराकृत हो जाता है कि ये रागादिक विभावससार महेश्वरकृत नही हैं।

क.म राग,द्वेष सुख दुख आदि कार्य एकस्वभावी महेश्वर द्वारा कृत

नही है इसका अनुमान प्रयोग द्वारा समर्थन—इसका साधक अनुमान प्रयोग है कि यह विचित्र भाव ससार एक स्वभाव वाले ईश्वरके द्वारा किए गए नही हैं, क्योकि ये कार्य सुख दु ख आदिक नाना प्रकारके हैं । जो जो नाना प्रकारके कार्य होत हैं, जिनमे कार्यकी विचित्रता होती है वे वे सब किसी भी एक स्वभाव वाले कारणके द्वारा किए गए नही होते । जैसे कि अनेक प्रकारके अनाजोके अकुर हैं ये विचित्र कार्य हैं वे सब भिन्न-भिन्न धान्यादिक बीजोके कारणसे हैं तो इस प्रकार सुख दु खादिक जो नाना प्रकारके कार्य है वे सब अनेक कारणसे हैं, एक स्वभाव वाले ईश्वरके द्वारा किए गए नही हैं । यहाँ हेतु दिया गया है कि कार्य चूकि सुख दु खादिक नाना हैं और नाना कार्य जहाँ होते हैं वहाँ यह समझना चाहिए कि एक स्वभाव वाले कारणसे नही होते । तो हेतु निर्दोष है क्योकि साध्यके अभावमे साधनका न हो सकना इस बातको सिद्ध करने वाला प्रमाण है अर्थात् अनेक कारणोके बिना अनेक प्रकारके कार्य न हो सकनेकी बात लोकमे स्पष्टतया देखी जाती है । कारण यदि एकरूप हो तो वहाँ नाना कार्य न दीखेंगे । जैसे कि केवल एक धानके बीज ही बोये गए हो तो वहाँ गेहू, मसूद, चना आदिक नाना अकुर न बन सकेंगे । इससे सिद्ध है कि यहाँ भी जो रागद्वेषादिक विचित्र अनेक कार्य देखे जा रहे हैं वे सब एक स्वभाव वाले ईश्वरके द्वारा किए गए नही हैं । हेतुकी प्रमाणता तो विपक्षमे बाधा आये उससे हुआ करती है । तो यहाँ साध्य है वैचित्रके हेतु द्वारा सिद्ध किया जाने वाला एक स्वभावके कारण द्वारा कृत होनेका प्रतिषेध सो उसके अभावमे एकस्वभावी कारण द्वारा कृत होना बनता है । सो जहाँ केवल एक ही कारण है वहाँ जैसे देखा जा रहा है कि अनेक प्रकारके कार्य नही हो पा रहे तो इस प्रमाणसे यह सिद्ध हो जाता है कि अनेक प्रकारके जो कार्य हो रहे हैं ये एक स्वभाव द्वारा कृत नही हो सकते

महेश्वरकी एकस्वभावताका विवरण—यहाँ महेश्वरको एक स्वभाववाला माना गया है और मानना ही चाहिए, क्योकि विरोध और विचित्रताये उपाधि होनेपर ही सम्भव होते हैं । और जो उपाधिसहित जीव हो वह कभी महेश्वर-ईश्वर प्रभु परमात्मा नही हो सकता । ससारी प्राणी नाना प्रकारके विभाव भावोको लिए हुए हैं उनकी वहाँ नाना प्रकृतियाँ पड़ गई हैं । तो वे प्रभु नही कहला सकते । यदि एक अपने विशुद्ध स्वभावसे चिग गया हो कोई, तो उसे ईश्वर या प्रभु कैसे कहा जा सकेगा ? प्रभुका स्वरूप है अपने विशुद्ध परिणमनमें बर्तते रहना । शुद्ध ज्ञान, शुद्ध दर्शन, शुद्ध आनन्द, शुद्ध शक्ति इसका विलास है प्रभुमें, वह अनेक प्राणियोके प्रति कुछ करने और भुगानेका भाव रखता हो या इन ढङ्गोंकी आदत हो तो वहाँ फिर शुद्ध आनन्द नही रह सकता । नाना प्रकारके दु ख और सुख साथमे लगेंगे और जहाँ इतने विकल्प हो वहाँ प्रभुता कैसे ? विकल्प ही ससार है और विकल्प ही बन्ध तो प्रभु एकस्वभाव है, शुद्ध प्रकृति है उसके अनुसार ही शुद्ध परिणमन होता है

प्रभुताका स्वरूप है, ऐसा माने बिना कोई प्रभुताकी सिद्धि न कर सकेगा। यो प्रभु एकस्वभाव वाले हैं और शङ्काकारने तो महेश्वरको अपरिणामी मानकर एकस्वभाव वाला मान लिया है। तो भला बतलाओ! ऐसे एकस्वभाव वाले ईश्वरके द्वारा सुख दुःख रागद्वेषादिक कैसे किए जा सकेंगे। ये विचित्र कार्य भी बनते रहें और एक स्वरूप वाले कारणके द्वारा किये जाते रहे यह सम्भावना कभी भी नहीं हो सकती। एक कारणसे विचित्र कार्य बने यह बात सम्भव नहीं हो सकती। यदि कार्योंमें विचित्रता है तो समझना चाहिए कि कारण भी अनेक हैं अथवा अनेक स्वभाव वाला कारण है। एक स्वभाव वाले कारणके द्वारा कार्य वैचित्र्य नहीं बन सकता अन्यथा एक स्वभावता ही समाप्त हो जायगी।

कालादिकके साथ कार्यवैचित्र्य हेतुकी व्यभिचारिताका प्रतिपादन—शङ्काकारका यहाँ कहना है कि 'वैचित्र्यात्' यह हेतु काल आदिक पदार्थके साथ व्यभिचारी हो जाता है अर्थात् एक स्वभाववान होनेपर भी कालके कारणसे विचित्र कार्य देखा जाता है। नया बना, पुराना मिटा, कितनी तरहके पदार्थमें परिणमन चलते हैं और वे सब परिणमन चल रहे हैं कालके निमित्तसे। तब यह हेतु भी व्यभिचरित हो गया कि जो जो विचित्र कार्य होते हैं वे सब एक स्वभाव वाले कारणके द्वारा किये गए नहीं होते। तो प्रतिसमयके परिणमन विचित्र कार्य तो हैं ही। प्रत्येक पदार्थ कैसे कैसे नवीन और पुरानी परिणतियोंमें चलते रहते हैं और वह सब चल रहा काल द्रव्यकी कृपा से। समय न गुजरे तो ये परिणतियाँ बने कहाँसे? तो कालके साथ यह हेतु व्यभिचरित होता है, इस कारण एक स्वभाव वाले ईश्वरके द्वारा किए गये नहीं हैं।

उक्त व्यभिचरिताका निराकरण करते हुए शङ्काका समाधान—उक्त शङ्काके समाधानमें कहते हैं कि प्रकृत हेतुमें दोष नहीं आ सकता। कालके साथ जो यह बात बताई गई है कि काल एक स्वभाव वाला है और कार्य उससे नाना प्रकारके होते हैं सो बात असिद्ध है। कालमें स्वभावकी एकता कहाँ सिद्ध है। काल भी नाना स्वभाव वाला है। एक स्वभाव वाला तो सर्वथा उसको कहा गया है शङ्काकारके सिद्धान्तमें कि जो अपरिणामी हो। अगर कोई परिणमन कर रहा है पदार्थ तो अपने आप उसमें नानापन आयगा। परिणमन बनता है, और जितना परिणमन है पर्याय दृष्टिमें वह अनेक स्वभाव है। तो परिणमन करने वाला पदार्थ एक स्वभाव वाला कैसे कहा जायगा? इसी दृष्टिको रख करके शङ्काकारने अपरिणामी माना है उसे एक स्वभाव वाला स्वीकार किया है। तो जो अपरिणामी पदार्थ हो उससे अर्थ क्रिया किसी भी प्रकार सम्भव नहीं हो सकती। दूसरी ओरसे यह देख कि परिणामी मानकर अगर एक स्वभाव वाला स्वीकार किया जाता है अर्थात् परिणाम है पर्याय

है और वही सर्वस्व है, एक समयमे जो पर्याय है वह पूर्वापर निरपेक्ष है, इसका कोई आगे पीछे अन्वय नही है, वही परिपूर्ण है, तो जब एक समयकी परिणतिको ही परिपूर्ण पदार्थ मान लिया तो वह भी अपरिणामी कहा जा सकता है। इस दृष्टिको रखकर यदि सर्वथा क्षणिक स्वीकार किया जाता है तो वहाँ भी अर्थक्रिया नही बन सकती। तात्पर्य यह है कि कारण यदि अपरिणामी है चाहे सर्वथा नित्य ध्रुव मान कर अपरिणामी माना हो या सर्वथा क्षणिक मानकर एक समयकी पर्यायको सर्वस्व मानकर अपरिणामी माना हो, अपरिणामीमे सर्वथा अर्थक्रिया सम्भव नहीं है और वस्तुका लक्षण ही अर्थक्रिया है। जब अर्थक्रिया सम्भव न हो सकी तो वस्तुका सद्भाव भी नही बन सकता। न तो कारणमे अर्थक्रिया रही और न कार्यमे अर्थक्रिया रही। अर्थक्रियाके मायने है उसका परिणमन होना, कार्य होना, अवस्था बनना और उसमे लोकव्यवहारकी बात भी सिद्ध न होना। सो न वस्तुत्व रहेगा और न एक स्वभाव वाले कारणके द्वारा किया गया कुछ बन सकेगा।

सत्त्वकी अर्थक्रियासे व्याप्तिका प्रतिपादन—यहाँ शङ्काकार कहता है कि सत्त्वकी अर्थक्रियाके साथ व्याप्ति बनाना असिद्ध है। जो यह सिद्धान्त स्थापित किया गया है कि सत्का लक्षण अर्थक्रिया है। जहाँ अर्थक्रिया न पाई जाय वहाँ सत्त्व ही न समझना चाहिए। सो यह बात सिद्ध नही होती, क्योंकि अर्थक्रियाके साथ सत्त्वकी व्याप्ति ही नहीं बनती। ऐसी व्याप्ति न हो सकेगी कि जहाँ जहाँ अर्थक्रिया हो सो सत्त्व है और जहाँ अर्थक्रिया न हो वहाँ सत्त्व नही है। इस व्याप्तिको सिद्ध नही किया जा सकता और जब सिद्ध न अविनाभाव हुआ तो यह कहना कि चूंकि अपरिणामी है, काल एक स्वभाव वाला है काल, इस कारण उसकी अर्थक्रिया नहीं बनती, यह बात कहकर फिर यह सिद्ध करना कि क्रियावैचित्र्य हेतुका काल आदिकके साथ व्यभिचार नही आता, ये सब मनोरथ सिद्ध न हो सकेंगे। इस शङ्काके समाधानमे कहते हैं कि सत्त्वमें अर्थक्रियाके साथ व्याप्ति असिद्ध है, यह कथन ठीक नहीं है क्योंकि देखा जा रहा है कि जो अर्थक्रियासे रहित हो उसका सत्त्व नही होता। आकाश पुष्प, खरगोशके सींग आदिकमे अर्थक्रिया कहाँ है उनका कोई काम ही नही, कोई परिणमन ही नही, तो वह सत् कहाँ है? असत् ही तो है। तो अर्थक्रियासे जो रहित हो उसमें आप असत्त्व ही पायेंगे इसलिए अर्थक्रियाके साथ सत्त्वकी व्याप्ति सिद्ध होती है।

असत्मे असदितिप्रत्ययकारणता होनेसे असत्मे अर्थक्रियाकी सिद्धि करके शङ्काकारका सत्की अर्थक्रियासे व्याप्ति होनेका विघात करनेका प्रयत्न और उसका निराकरण—शङ्काकार कहता है कि असत् होनेपर भी खरगोशके सींग आदिक असत् हैं, इस प्रकारके ज्ञान करानेरूप अर्थक्रियाका करने वाला तो बन ही गया याने आकाशका फूलके बाबत इतना ज्ञान तो हो रहा है कि आकाशका फूल असत् है। तो असत् है, इस प्रकारका ज्ञान होना यह भी तो एक अर्थक्रिया है

और असत्‌रूपसे अपना ज्ञान करा देनेकी अर्थक्रिया जब असत्‌मे पाई गई तब अर्थक्रिया की सत्त्वसे व्याप्ति तो न रह सकेगी। अर्थक्रिया तो असत्‌मे भी पहुच गई। समाधान में कहते हैं कि इस तरह शङ्कित न होना चाहिए, क्योंकि व्याप्य अर्थक्रिया सत् व्याप्यमे निष्ठ हो अथवा असत् व्याप्यमे निष्ठ हो तो भी असत् व्याप्यका अभाव होनेपर व्यापकके सद्भावका अविरोध है। प्रकृत बातको देखिये। यहाँ व्यापक है अर्थक्रिया और अर्थक्रिया सत्त्वमे पाई गई और असत्त्वमें पाई गई। जैसे कि अभी शङ्काकार कह रहा है उसके अनुसार बात कही जा रही है लेकिन असत् तो असत् ही है। सत्‌में अर्थक्रिया पाई जा रही है यह व्याप्ति तो असिद्ध नहीं हुई। अथवा इसे दूसरी तरहसे समझिये कि एक जगह भी व्यापकके अवयवभूत व्याप्यमें यदि व्यापकरूप रह जाता है तो उस व्यापककी व्याप्यके साथ व्याप्ति अखडित हो जाती है। यदि व्यापकको हम व्याप्यमे सब प्रदेशोमे ही निरखनेका आग्रह रखे तब तो किसी भी अनुमानमे व्याप्ति सिद्ध न हो सकेगी। अग्नि और धूमकी व्याप्ति मानी गई है। जहाँ जहाँ धूम होता है वहाँ अग्नि होती है जहाँ अग्नि नही होती वहाँ धूम नही होता। यह व्याप्ति सबको सम्मत है, लेकिन यहाँ भी कोई यो कहने लगे कि धूम पूरी अग्निमें तो नही दीखता, वह तो अग्निके ऊपरी कोनोपर या कही पाया जाता है या जहाँ अग्नि है वहाँ धूम कहाँ है? अग्निसे ही तो धूम निकला, तो धूमके रहनेकी जगह और है अग्निके रहने की जगह और है। तो यहाँ भी धूम अग्निके बिना रह गया व्यापक व्याप्यकी व्याप्ति वहाँ भी न बनेगी। यो तो समस्त अनुमानोका उच्छेद किया जा सकता है। तब तो निष्कर्ष यह निकलना चाहिए कि व्यापकके अवयवभूत व्याप्यमें यदि व्यापकरूप प्रवृत्त होता है, व्यापकता सिद्ध होती है तो वह व्याप्ति अखण्डितरूपसे प्रसिद्ध समझना चाहिये।

क्रम व यौगपद्य दोनों प्रकारसे अर्थक्रियाकी असम्भवताका शङ्काकार द्वारा कथन— शङ्काकार कहता है कि अर्थक्रियाकी व्याप्ति न तो क्रमसे सिद्ध होती है न युगपत् सिद्ध होती है किसी भी जगह व्यापकके अवयवभूतमें भी सही, पर अर्थक्रिया तो सिद्ध ही न होगी, क्योंकि न उसका बनाव क्रमसे है न उसका बनाव एक साथ हो सकता है। इस शङ्काके उत्तरमे कहते हैं कि अर्थक्रिया तो अन्य ढगसे हो नहीं सकती, वह तो क्रमसे होगी, युगपत होगी। अर्थक्रियाकी प्रकृति ही, यों ही उसकी सम्भूति ही इस प्रकार है कि क्रमसे भी होगी और युगपत भी होगी शङ्काकार कहता है कि देखिये! कोई एक पदार्थ एक ही अर्थक्रियाका तो सम्पादन करेगा तो एक पदार्थ जब एक ही अर्थ क्रियाका सम्पादन करेगा, एक पदार्थ जब एक ही अर्थक्रियाको उत्पन्न कर सकता है तो उसमे क्रम भी कहाँ रहा? और, यौगपद्य भी कहाँ रहा, क्योंकि क्रम और यौगपद्य तो वहाँ माना जायगा जहाँ अनेक क्रियाओंको विषय किया जा रहा हो। जहाँ कार्य अनेक हो वहाँ कह सकते कि ये क्रमसे हो रहे हैं, जहाँ

कार्य अनेक हो वहाँ कह सकते कि ये सब एक साथ हो रहे हैं किन्तु जब एक वस्तु एक ही अर्थ क्रियाको उत्पन्न करती है तो उस एकमे क्रम क्या और यौगपद्य क्या ? तो यो एक ही अर्थ क्रियाके साथ न तो क्रम बन सकता न यौगपद्य बन सकता। तो फिर अर्थक्रियाकी व्याप्ति क्रममे भी न रही, यौगपद्य भी न रही तो इसका निष्कर्ष यह है कि अर्थ क्रिया होती ही नही, सत्त्वके साथ अर्थक्रिया व्यापक ही नही है।

वस्तुमे अनेक अर्थक्रिया होनेसे क्रम व यौगपद्य दोनो प्रकारसे अर्थ क्रिया होनेका प्रतिपादन करते हुए उक्त शङ्काका समाधान—उक्त शङ्काके समाधानमे कहते हैं कि ऐसी शङ्का करना यो निरर्थक है कि एक ही अर्थ क्रियाको उत्पन्न करने वाली वस्तु है नही। वस्तुमे अनेक अर्थक्रियायें होती हैं। शकाका आधार ही कुछ नही है। शकाकारने अपनी शकाका यह आधार बनाया था कि एक पदार्थ एक ही अर्थक्रियाको करता है पर बात यो है ही नही। पदार्थमे अनेक अर्थक्रियायें होती हैं, एक ही अर्थक्रियाको करने वाली वस्तु सम्भव ही नही है। देखिये! सभी पदार्थ अपनी बाह्य अर्थक्रियाको कर रहे हैं, याने जो प्रकट उनका काम है उस अर्थ-क्रियाको वे कर रहे हैं और इस तरह कोई यो समझे कि देखो पदार्थने एक अर्थक्रिया की ही तो की लेकिन एक ही अर्थक्रिया वहाँ नहीं है। वस्तु बाह्यमे अर्थक्रिया कर रहा है और उसे एक मान भी लो लेकिन प्रत्येक पदार्थ अतरङ्ग अर्थक्रियाको भी अवश्य कर रहा है। यह क्या ? अतरङ्ग अपने स्वरूपका ज्ञान करानेरूप अर्थक्रियाके कराने वाले हैं समस्त पदार्थ। तो आप देख लीजिए कि अपने अन्तरङ्ग स्वरूपका ज्ञान करानेरूप अर्थक्रियाको भी प्रत्येक पदार्थ कर रहा है, तब एक अर्थक्रिया तो न रही, वे अनेक हो गई। यदि इस तरह अन्तरङ्ग अपना ज्ञान करानेरूप अर्थक्रियाका कारण उस पदार्थमे न माना जायगा तो योगी पुरुषके असर्वज्ञताका प्रसग आ जायगा, क्योकि पदार्थमे अब प्रमेयत्वकी अर्थक्रिया तो मानी नही जा रही। केवल एक बाह्य अर्थक्रिया ही माना जा रहा शकाकारके मतमे। तो जब पदार्थोंमे अपना ज्ञान करानेरूप अर्थ-क्रिया न मानी जायगी तो कोई सर्वज्ञ ही नही हो सकता, कैसे जाने? बाह्य पदार्थ या कोई भी पदार्थ अपने ज्ञान करानेरूप अर्थक्रियाको तो कर ही नही रहा। तो यो एक पदार्थकी अनेक क्रिया न मानने पर योगीमे असर्वज्ञताकी आपत्ति आ जायगी।

पदार्थमे अनेक स्वकीय अर्थक्रिया होनेका द्वितीय प्रकारसे समर्थन—पदार्थमे अनेक अर्थक्रियाओके बाबत और भी सुनो, पदार्थ अनेक क्षणोमे स्थित रहता है, क्योकि वह सत् है। जो सत् होता है, वह स्वत सिद्ध होता है। तो जब पदार्थ शाश्वत् है, अनेक क्षणोमे रहा करता है तो उनमें क्रमसे भी अर्थक्रिया करनेकी बात सिद्ध होती है, और एक साथ भी अनेक कार्योंके करनेकी बात सिद्ध होती है। पदार्थ शाश्वत है और कदाचित् इसी आग्रहको भी पकड़ ले कोई कि एक पदार्थ एक अर्थ-

क्रिया करता है तो उसने एक समयमें एक अर्थक्रिया की दूसरे समयमें दूसरी क्रिया की तो उस पदार्थमें क्रमसे अनेक अर्थक्रियाओंके साथ व्याप्ति तो बन गई। पदार्थ एक है और वह प्रतिसमय अपना परिणमन करता चला जा रहा है, तो उस पदार्थके अनेक परिणमनोंके साथ क्रमसे व्याप्ति रही। और पदार्थ चूंकि अनन्त शक्त्यात्मक है अतः एवं सभी शक्तियाँ निरन्तर परिणमन कर रही हैं तो उन अनेक परिणमनोंकी व्याप्ति एक साथ भी उस पदार्थमें पायी गई तो जहाँ पदार्थ अनेक क्षणोंमें रहने वाला स्वीकार किया जा रहा हो वहाँ क्रमसे भी और अक्रमसे भी वह अनेक कार्योंको करने वाला है यह सिद्ध हो जाता है। एक ही क्षणमें पदार्थ रहता हो यह बात तो नहीं मानी गई है और नहीं भी ऐसी प्रतीति होती है कि कोई भी सत् केवल एक ही क्षणमें रहता हो। तो जब पदार्थ अनेक क्षणोंमें रहता है तो उनमें अर्थक्रियाकी व्याप्ति क्रमसे भी है युगपद भी है।

क्रम और यौगपद्यकी परिणामित्वके साथ व्याप्तिका कथन — शंकाकार यहाँ कहता है कि क्रम और यौगपद्यकी परिणामित्वके साथ व्याप्ति असिद्ध है। जो परिणामी हो उसके साथ क्रमसे अर्थक्रिया लगे या युगपत् लगे या परिणामीमें क्रम और यौगपद्य बने यह कुछ भी व्याप्ति सिद्ध नहीं होती। उत्तरमें कहते हैं कि आप उल्टी बात कर रहे हैं। यदि अपरिणामी हो कोई तो उसमें क्रम और यौगपद्य दोनों का विरोध है। जैसे कि सर्वथा क्षणिक हो कुछ तो उसमें न कोई क्रम रह सकता न कुछ यौगपद्य रह सकता। क्षणिक तो है। एक समयमें रहा, न पहिले कुछ न बाद कुछ। क्रम किसका बताया जाय? यौगपद्य किसका दिखाया जाय? तो जैसे क्षणिक पदार्थमें क्रम और यौगपद्य नहीं बनता इसी प्रकार जो सर्वथा नित्य है, अपरिणामी है उसमें परिणमन कुछ भी न माना जाय तो परिणमन ही कुछ न रहा, कूटस्थ हो वहाँ क्रम कैसे बने? और यौगपद्य कैसे बने? तो अपरिणामीमें क्रम और यौगपद्य न बनेंगे, किन्तु परिणामीमें क्रम और यौगपद्य सिद्ध हो जायगा, इस कारण यह कहना अयुक्त है कि क्रम और यौगपद्यका परिणामित्वके साथ व्याप्ति नहीं बनती। जो कथंचित् परिणामी है उसमें ही क्रम और यौगपद्य बनता है और जहाँ क्रम और यौगपद्य है वहाँ अर्थक्रिया है, परिणमन है। जहाँ परिणमन है वहाँ ही सत्त्व है इस तरह अर्थक्रियाकी सत्त्वके साथ व्याप्ति निर्बाध सिद्ध होती है।

परिणामित्वका अभाव माननेपर वस्तुत्वकी असम्भावना — क्रम और यौगपद्यकी व्याप्ति परिणामित्वके साथ सिद्ध होती है और क्रम यौगपद्यके साथ परिणामित्वकी व्याप्ति सिद्ध होनेपर अर्थक्रियाकी सिद्धि होती है। अर्थक्रिया सम्भव है वह सत् होता है, इसी प्रकार यदि काल आदिक द्रव्यको सत् मानना इष्ट है तो वहाँ अर्थक्रिया माननी होगी। जहाँ अर्थक्रिया होगी वहाँ एक

स्वभाव न रहेगा। यों सत्त्वकी अर्थक्रियासे व्याप्ति सिद्ध हो जानेपर कार्य वैचित्र्य हेतुसे काल आदिकके साथ व्यभिचारी बताना अब पूर्णतया असगत सिद्ध हो जाता है, निष्कर्ष यह है कि किसी भी पदार्थका परिणामित्व न माननेपर क्रम और यौगपद्यका अभाव हो जायगा। और तब अर्थक्रिया भी न बन सकेगी। जब अर्थक्रिया न बनी तो सत्त्व भी सिद्ध न होगा और सत्त्वकी अनुपपत्तिसे वस्तुकी सम्भावनाका ही अभाव हो जायगा। फिर तो सारा लोक शून्य हो जायगा। इस कारण यह बात माननी होगी कि यह कार्यवैचित्र्य जो दिख रहा है इससे यह सिद्ध है कि ये सब अनेक कारणोंसे उत्पन्न हुए हैं। एक स्वभाव वाले महेश्वरके कारणसे इसकी सृष्टि नहीं है।

काल देश अवस्था स्वभावकी अपेक्षा विभिन्न शरीर इन्द्रिय लोक आदिका एकस्वभावी महेश्वरको कर्ता माननेकी असगतता—और भी देखिये। ये समस्त दृश्यमान पदार्थ शरीर इन्द्रिय लोक सस्थान तथा अन्य भी अदृश्य पदार्थ गुण कर्म आदिक ये सभी काल, देश स्वभावकी अपेक्षासे विभिन्न हैं। जैसे शरीर इन्द्रियाँ स्पष्ट दिख रही हैं कि काल अपेक्षासे भिन्न-भिन्न हैं, कोई किसी समयमें कोई किसी समयमे अपना अपना कैसा ही कैसा परिणमन लिए हुए हैं। देशकी अपेक्षासे ये भिन्न हैं ही कोई किसी जगह है, कोई किसी जगह है। अवस्था भी उनकी न्यारी न्यारी है जो कि स्पष्ट दृष्टिमे आरही है। कोई कैसे ही शरीर वाला है, कोई किसी तरहसे जीर्ण-शीर्ण है। नो यो अवस्थाओंकी अपेक्षासे भी ये सब भिन्न नजर आ रहे है, स्वभाव भी सबका भिन्न-भिन्न है, फिर भी नाना विधियोंसे भिन्न-भिन्न इन सब क्रियाओका कर्ता कोई एक स्वभाव वाला महेश्वर माना जाय, यह बडा आश्चर्य है। क्योकि महेश्वरके सृष्टिकर्तृत्वके सम्बन्धमें प्रमाणसे बाधा आती है सो कहा गया है।

महेश्वरसिसृक्षाको कार्यवैचित्र्यकारण माननेकी अयुक्तता—अब जब एक स्वभाव वाला ईश्वर इन रागादिक विचित्र कार्योका सृष्टा न बन सका तो इसी निराकरणसे ईश्वरकी इच्छाको उन समस्त द्रव्यभाव ससारका कारण बताना निराकृत हो जाता है। ईश्वरकी इच्छाको भी नित्य एक स्वभावी माना है। यदि उसे अनित्य अथवा एकस्वभावी न मानकर अनेक स्वभाव वाली माना जाय तब तो शङ्काकारके सिद्धान्तका ही विघात होता है सो वे सिसृक्षाको नित्य एक स्वभाव वाली है। सिसृक्षाका अर्थ है सृष्टि करनेकी इच्छा एक नित्यस्वभाव वाले महेश्वरकी मानते सिसृक्षासे कार्यवैचित्र्यकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। जैसे कि इस सम्बन्धमे पहिले बता दिया गया है कि एक स्वभाववाले कारणसे विचित्र नाना कार्य उत्पन्न नहीं होते और फिर जो नित्य एक स्वभाव वाली सिसृक्षा मानी जा रही है उसमे वस्तुत्वकी सम्भावना भी नहीं बन सकती, क्योकि जो एक स्वभाव है वह अपरिणामी होगा। अपरिणामीमें अर्थक्रिया सम्भव नही होती और सत्त्वका लक्षण ही अर्थक्रिया है। तब उस

सिसृक्षामें वस्तुत्वकी सम्भावना भी नहीं बनती, इस कारण महेश्वरकी इच्छाका कार्य वैचित्र्यकी सृष्टि करने वाला मानना अयुक्त है। उसे तो महेश्वरकी इच्छाका कार्य
वैचित्र्यकी सृष्टि करने वाला मानना युक्त ही है।

नित्य एक स्वभावभूत महेश्वरके अनर्थान्तर व नित्य एक स्वभावभूत सिसृक्षाके सम्बन्धकी अनुपपत्ति—और भी देखिये! अब यहाँ दो बातें कही गई हैं—ईश्वर और इच्छा। तो यहाँ ईश्वर भी नित्य एक स्वभाव वाला है और सिसृक्षा भी नित्य एक स्वभाव वाली है। अब इन दो के सम्बन्धमें यह बतलाओ कि सिसृक्षा का ईश्वरसे सम्बन्ध कैसे बना? वह सिसृक्षा ईश्वरसे अभिन्न है या भिन्न? यदि कहो कि सिसृक्षा ईश्वरसे भिन्न है तो एक स्वभाव वाले ईश्वरसे नित्य एक स्वभाव वाले सिसृक्षाका कुछ उपकार ही सम्भव नहीं हो सकता, क्योंकि जो नित्य है उसमें परिणमन परिवर्तन, उपकार यह कुछ भी बात नहीं बन सकती उपकार माना जाय तो नित्यपनेका विरोध हो जाता है। और तब ईश्वर नित्य नहीं रह सकता है। तो नित्य ईश्वरका और उसकी सिसृक्षाका कोई सम्बन्ध नहीं बन सकता, क्योंकि ईश्वरकृत उपकारकी अपेक्षा है अब न रही सिसृक्षा भी अपने आपमें नित्य एक स्वभाव वाली है, ईश्वर भी एक स्वभाव वाला और जब अनर्थान्तर मान लिया गया तब तो उपकार और सम्बन्धकी बात सम्भावनामें भी नहीं आ सकती।

महेश्वर और सिसृक्षाको भिन्न-भिन्न माननेमें भी महेश्वरसे सिसृक्षाके सम्बन्धकी अनुपपत्ति—यदि कहो कि ईश्वर और सिसृक्षा ये अर्थान्तर हैं, भेदरूप हैं, भिन्न-भिन्न तत्त्व हैं तो जहाँ बिल्कुल ही अर्थान्तर भेद मान लिया गया, पदार्थ ही दूसरा मान लिया गया तो उनमें सम्बन्ध सम्भव ही नहीं हो सकता, क्योंकि अत्यन्त भिन्न पदार्थका एक दूसरेपर कुछ उपकार ही नहीं, परिणमन कुछ हो ही नहीं सकता, यदि कहो कि उपकारान्तरसे उनका उपकार मान लिया जायगा तो इससे अनवस्था दोष आता है। वह उपकारान्तर भी ईश्वरसे भिन्न है अथवा अभिन्न? यदि कहो कि उपकारान्तर ईश्वरसे अभिन्न है तब ईश्वरकी नित्यता न रही, क्योंकि वह उपकारान्तर अनित्य है। उससे अभिन्न ईश्वर है तो वह भी अनित्य बन गया। यदि कहो कि वह उपकारान्तर ईश्वरसे भिन्न है तो वहाँ उन दोनोंका सम्बन्ध सिद्ध नहीं हो सकता, अर्थान्तरभूत पदार्थमें परस्पर उपकारकी सम्भावना न होनेसे सम्बन्ध नहीं हुआ करता है। तब यह व्यपदेश भी न हो सकेगा कि सिसृक्षाका ईश्वरमें समवाय है इस कारण वहाँ व्यपदेश हो जाता है कि यह सिसृक्षा ईश्वरकी है। इसके समाधानमें कहते हैं कि जो सर्वथा एक स्वभावी है जैसे कि नैयायिक जनोंने महेश्वरको सर्वथा नित्य एक स्वभाव माना है तो ऐसे एक स्वभाव अपरिणामी ईश्वरमें समवायपना आ जाना,

निमित्त कारणपना आ जाना इन नाना स्वभावोका विरोध है। यदि ये नाना स्वभाव ईश्वरमे माने-जाते हैं तो ये सर्वथा नित्य फिर न कहलायेंगे। इस कारण समवाय सम्बन्धसे भी ईश्वरकी सिसृक्षा है, ऐसा व्यपदेश न किया जा सकेगा।

महेश्वरकी सिसृक्षाको अनित्य मानकर भी सगतताका अभाव—अब शङ्काकार कहता है कि महेश्वरकी जो सिसृक्षा है, लोकसृष्टि रचनाकी इच्छा है, वह तो अनित्य है। तो सिसृक्षा जब अनित्य हुई तो उसमे नाना स्वभाव बन गए तब समवाय भी बना। सब कार्य भी बन जायेंगे। इसके उत्तरमे कहते हैं कि महेश्वरकी सिसृक्षाको अनित्य माननेपर भी अनेक दोष बताये हैं—जैसे कि नित्य माननेपर दोष आते थे वे ही सब दोष अनित्य माननेपर भी आयेंगे, क्योकि अर्थान्तरभूत ईश्वरसे उस ईश्वरकी सिसृक्षाका सम्बन्ध कैसे बनाया जा सकेगा? क्योकि जो अर्थान्तरभूत है सर्वथा पृथक है उसे अनित्य भी माना तब भी सम्बन्ध तो न बन सकेगा क्योकि भिन्न पदार्थमे एक दूसरेके द्वारा उपकारकी अपेक्षा नही बनती। तो जब ईश्वरकृत उसमे न बना, उसकी अपेक्षा न रही तो यह व्यपदेश भी नही बन सकता कि यह सिसृक्षा ईश्वरकी है।

महेश्वरसिसृक्षाको एकरूप या अनेकरूप माननेपर भी उससे लोकरचनाकी असम्भवता—और भी सुनो! कि समस्त कार्योकी उत्पत्ति और विनाश मे महेश्वरकी इच्छाको एक रूप माना जाय कि वह सिसृक्षा एक स्वरूप है, तब समस्त पदार्थोकी एक साथ ही उत्पत्ति विनाशका प्रसङ्ग हो जायगा। और, जब सभी पदार्थ एक साथ उत्पन्न हुए और हुए वे उस एक स्वभाव वाली महेश्वर सिसृक्षाके कारण तो फिर उन समस्त कार्योमे विचित्रता भी नहीं बन सकती है। अब यहा शङ्काकार यदि यह आशय रखे कि महेश्वरकी सिसृक्षामे तो अनेकता है, एक स्वभाव रूप नही है तो इसके समाधानमे सोचियेगा कि महेश्वरकी सिसृक्षामे यदि अनेकरूपता है तो वह अनेकरूपता क्रमसे बनेगी या अक्रमसे? यदि कहा जाय कि उस सिसृक्षामें अनेकरूपता अक्रमसे बन जाती एक साथ ही अनेकरूपता है तब ये ही सब दोष यहाँ आते हैं कि फिर तो समस्त कार्योकी उत्पत्ति एक साथ हो जाना चाहिए, क्योकि महेश्वर सिसृक्षामे जो अनेकरूपता पडी है वह भी अक्रमसे है याने सारी सिसृक्षा एक साथ महेश्वरमे मौजूद हैं तब सारे कार्य भी एक साथ उत्पन्न हो जाने चाहिए। इससे यह न कहा जा सकेगा कि महेश्वरकी सिसृक्षामे अनेकरूपतायें तो हैं पर हैं वे अक्रमसे यदि कहो कि महेश्वरकी सिसृक्षा क्रमसे होती है तब तो जिस पदार्थके करनेकी इच्छा है वह पदार्थ ही बन पायगा, अन्य कोई पदार्थ न बन पायगा। लोकमे अनेक कार्योकी जो एक ही समयमे उत्पत्ति आदिक देखी जा रही है फिर तो किन्हीं भी कार्योकी एक साथ उत्पत्ति न बन सकेगी। और तो क्या? एक ही पदार्थमे अनेक कार्योकी

वाली है। तब नित्य और एक स्वभाव वाली बुद्धि अनेक प्रकारकी सिसृक्षाके उत्पन्न करनेका कारण क्रमसे बनेगा या युगपतसे बनेगा ? ईश्वरकी बुद्धि तो करती है सिसृक्षा को उत्पन्न और पदार्थ चू कि अनन्त हैं तो उन अनन्त पदार्थोंको भिन्न भिन्न रूपसे सृष्टि करते हैं तब सिसृक्षा भी अनेक हो गयी, तो वह एक बुद्धि जो नित्य एकस्वभाव वाली है वह क्रमसे अनेक सिसृक्षाओंको उत्पन्न कैसे करे और एक साथ भी अनेक सिसृक्षाओंको कैसे उत्पन्न करें ?

पूर्व पूर्व सिसृक्षासे उत्तरोत्तर सिसृक्षाके होनेका सिद्धान्त माननेकी असंगतता—शङ्काकार कहता है कि पूर्व पूर्व सिसृक्षाकी वजहसे उत्तरोत्तर सिसृक्षा की उत्पत्ति होती है और नित्य एक स्वभाव ज्ञान वाले महेश्वरके वह बात विरुद्ध नहीं पड़ती याने उस महेश्वरकी जिसका नित्य एक स्वभाव वाला बोध है वहाँ भी जो उत्तरोत्तर सिसृक्षाकी उत्पत्ति होती है वह पूर्व पूर्व सिसृक्षाके वशसे होती है। और तब उस समयमे अनेक शरीरादिको की उत्पत्ति हो जाती है, क्योंकि पूर्व सिसृक्षासे उत्तर सिसृक्षा बनती है और उस ही समान समयमे शरीरादिक अनेक कार्योंकी भी उत्पत्ति होती है। तो कार्यकारणका प्रवाह यों अनादि होनेसे वहाँ अनवस्था दोष न आयगा। सिसृक्षासे सिसृक्षा और शरीरादिक ये सभी उत्पन्न होते रहते हैं। पहिले जो सृष्टि करनेकी इच्छा हुई है उस समयमें उस समयके शरीरादिककी उत्पत्ति होगई अब उस सिसृक्षासे तीसरे समयमें तीसरी सिसृक्षा उत्पन्न होती है सो उस समयमे फिर और शरीरादिक कार्योंकी उत्पत्ति हो गई। तो यों कार्यकारणप्रवाह अनादिसे चला आ रहा है, इस कारण इसमें कोई अनवस्था दोष नही आता, क्योंकि यह तो अनादि प्रवाहकी बात है। इसके समाधानमे कहते हैं कि एक स्वभाव वाले ईश्वर ज्ञानके प्रथम तो पहिली सिसृक्षाकी अपेक्षा करनेका ही विरोध है याने जब बुद्धि एक स्वभाव वाली है तो एक स्वभाव वाले ईश्वरका ज्ञान पहिली सिसृक्षासे उत्पन्न हुआ या ईश्वर ज्ञान सिसृक्षाको उत्पन्न करे तो अपेक्षाकी ही तो बात आई और नित्य एक स्वभाव वाले पदार्थोंमें अपेक्षा किसीकी हुआ नही करती। यदि अपेक्षा मान ली जाती है तो वहाँ सर्वथा नित्य नहीं रहता, क्योंकि यदि ईश्वर ज्ञानने पूर्व पूर्व सिसृक्षाकी उत्पत्ति की तो उस ज्ञानमें स्वभावभेद पड गया ना, कि किसी सिसृक्षाकी ज्ञानने अपेक्षा की, किसी ज्ञानने किसीकी अपेक्षा की और अपेक्षा करनेसे स्वभावभेद आजाता है। तब ईश्वर ज्ञान अनित्य बन जायगा सो नैयायिक सिद्धान्तमे माना नही गया।

नित्य एकस्वभावी ज्ञानमें सिसृक्षानिमित्तत्वकी अनुपपत्ति—अब शङ्काकार कहता है कि सिसृक्षा व शरीरादिक कार्योंकी उत्पत्तिमे ईश्वरज्ञान अन्य सिसृक्षाकी अपेक्षा नहीं रखता है, किंतु सिसृक्षा और शरीरादिक कार्य ही ईश्वरज्ञान की अपेक्षा रखते हैं, ईश्वरज्ञान यदि सिसृक्षाकी अपेक्षा रखे यह बात बतायें तब तो

स्वभावभेदकी बात कह सकते हो और यदि यह मान लिया जाय कि ईश्वर बोध सिसृक्षाकी अपेक्षा नहीं रखता किंतु अन्य सिसृक्षायें और शरीरादिक कार्य ही ईश्वर ज्ञानकी अपेक्षा रखा करते हैं तब तो ईश्वर ज्ञानमें अनित्यता आपत्ति न आयगी। इसके समाधानमें कहते हैं कि यदि इस तरहसे नित्य ईश्वर ज्ञान माना जाता है जिसमें परिणमन ही कुछ न हो और किसीकी अपेक्षा भी न रखे तो वह शरीरादिक कारणोंका निमित्त भी नहीं बन सकता। निमित्तका अर्थ क्या रहा? जब ईश्वरज्ञानमें कुछ बात अनुकूल नहीं हुई, अन्य अन्य कार्योंके उत्पादके अनुरूप परिवर्तन नहीं हो रहा तो उसको निमित्त कहनेका अर्थ ही क्या है? जो अपरिणामी हो, नित्य हो, वह किसी भी कार्यका निमित्त होता है।

ईश्वर ज्ञान व कार्यमें शङ्काकाराभिमत अन्वयव्यतिरेक सकल आत्माओंमें सिद्ध होनेसे सकल आत्मा स्रष्टा हो जानेकी सिद्धि—यदि यह कहो कि ईश्वर ज्ञानके अभाव होनेपर शरीरादिक कार्योंका उत्पाद नहीं हुआ करता याने ईश्वर ज्ञान नहीं होता तो शरीरादिक कार्योंका भी अभाव होता, यों व्यतिरेक बन जायगा इस कारणसे शरीरादिक कार्योंका निमित्तपना ईश्वर ज्ञानमें सिद्ध हो जाता है। इस शङ्काके उत्तरमें कहते हैं कि इस तरह याने ईश्वरज्ञानके अभावमें शरीरादिक कार्योंका अभाव होता है, इस कारणसे यदि ईश्वरको या ईश्वरज्ञानको सृष्टिका कारण मानते हो तो यों ही सकल आत्माओंको शरीरादिक कार्योंका निमित्त मान लेना चाहिए। नैयायिक सिद्धान्तमें जितने शरीर इन्द्रिय आदिक कार्योंकी सृष्टि होती है उसका निमित्त कारण ईश्वर ज्ञानको माना है और जितने समस्त जीव हैं उन जीवोंको निमित्त नहीं माना। अब इस प्रसङ्गमें यह माना जा रहा है कि ईश्वर ज्ञानके अभावमें चूंकि शरीरादिक कार्योंका अभाव है या यों कह लीजिए कि न ईश्वर ज्ञानका कभी अभाव होता क्योंकि वह नित्य एक स्वभाव वाला है और न शरीर इंद्रिय आदिक कार्योंका कभी अभाव होता है तो ईश्वर ज्ञानके होनेपर कार्य हुए ना। इस कारणसे शरीरादिक कार्योंका निमित्तपना ईश्वरज्ञानमें मान लिया जायगा। तो यही बात सब जीवोंमें भी लागू होती है। सभी जीव भी हमेशा हैं और शरीर इंद्रियादिक कार्य भी तो सदैव होते रहते हैं, तो समस्त जीवोंके अभावमें शरीर इन्द्रिय आदिक कार्य नहीं होते हैं, तो यों समस्त कार्योंका निमित्तपना सब जीवोंमें आ पड़ेगा क्योंकि व्यतिरेकका घटन दोनों जगह समान है। जैसे न कभी ईश्वर ज्ञानका अभाव होता और न शरीरादिक कार्योंका अभाव होता। यों ही संसारके सभी प्राणियोंका भी कभी अभाव नहीं है। अन्वय व्यतिरेक दोनों जगह समान रूपसे घट गया तो समस्त जीवोंको इन शरीर इंद्रिय आदिकका भी करना मान लेना चाहिए, सो माना नहीं गया है नैयायिक सिद्धान्तमें, सो यह भी नहीं कह सकते कि नित्य ईश्वर ज्ञान शरीरादिक कार्योंका निमित्त हो जायगा।

ईश्वरज्ञानको असर्वज्ञ मानकर उससे लोकरचना सिद्ध करनेका का शङ्काकारका प्रस्ताव—अब शङ्काकार कहता है कि ईश्वरज्ञान असर्वगत नित्य है यानि ईश्वरका ज्ञान है तो सर्वथा शाश्वत नित्य लेकिन जितनेमे ईश्वरका शरीर है, जितनी जगहमे यह ईश्वर रह रहा है, उतने ही प्रदेशमे उसका ज्ञान है, इस कारण ज्ञान है, इस कारण ज्ञान तो सर्वव्यापी न रहा । समस्त कालव्यापी तो हो गया, क्योकि ईश्वरज्ञान नित्य मान लिया गया है तो नित्य माननेसे ज्ञान समस्त कालव्यापी तो बन गया लेकिन वह ज्ञान है असर्वगत, ईश्वरके शरीर प्रदेशोमे ही रहने वाला है तो ज्ञान जब अव्यापी हो रहा तो देशका व्यतिरेक सिद्ध हो जाता है, कालका व्यतिरेक तो सिद्ध नही हो सका कि ईश्वर ज्ञान न हो तो शरीरादिक कार्य भी न हुए, ऐसी स्थिति कालव्यतिरेक वाली तो न बन सकी, लेकिन कहीं ईश्वर ज्ञान है, कही नही है। तो जहाँ ईश्वर ज्ञान नहीं है, वहाँ शरीरादिक कार्य न हो यो देशव्यतिरेककी बात बन जायगी और कालव्यतिरेक देशव्यतिरेक इनमेसे कोई एक व्यतिरेक सिद्ध हो जाय तो उससे ही ईश्वरके ज्ञानका शरीर इन्द्रिय आदिक समस्त कारणोको निमित्त माना जा सकता है। और इस स्थितिमे जो यह आपत्ति दी थी कि यो तो समस्त जीव भी नित्य सर्वगत हैं तो वहाँ भी व्यतिरेक सिद्ध नही होता सो ठीक है। समस्त आत्माओंका देश व्यतिरेक भी सिद्ध नहीं होता। ईश्वर ज्ञानमें कालव्यतिरेक तो सिद्ध नहीं होता पर व्यतिरेक सिद्ध हो जाता है। और यो समस्त आत्मा शरीर इन्द्रिय आदिकके निमित्त हो जायें यह बात न बनेगी। और, ईश्वर ज्ञान शरीर इन्द्रियादिक समस्त कार्योंका कारण बन जाय यह बात बन जायगी।

असर्वगत ईशज्ञानसे भी सृष्टि व्यवस्थाकी असम्भवता तथा युक्त सिद्धान्तका निर्णय—उक्त शङ्काकारके उत्तरमे कहते हैं कि यदि इस रीतिसे सकल आत्मा चूकि नित्य भी है और सर्वगत भी है, इस कारणसे कालव्यतिरेक वहाँ नहीं बन पाता है और इस कारण समस्त जीव शरीर इन्द्रिय आदिकके कारण नहीं हो सकते, ऐसा जो मान लिया गया है तो उससे यह आपत्ति आती कि फिर तो दिशा, काल, आकाश में भी सर्व उत्पत्तिमान पदार्थका निमित्तकारणपना न बनेगा। तो यों अनेक आपत्ति प्रसङ्गोंसे यह सिद्ध हुआ कि ईश्वर ज्ञान नई-नई सिसृक्षाका और शरीर इन्द्रिय आदिक कार्योंका कारण नहीं है और न ईश्वरकी इच्छा, शरीर इन्द्रिय आदिक कार्योंका कारण है। ये सभी पदार्थ अपने-अपने उपादानसे अनुकूल निमित्त सन्निधानको पाकर उस उस स्वत परिणमते रहते हैं। इस जगतको इन समस्त कार्य समूहोका करने वाला ईश्वर है अथवा ईश्वरकी सिसृक्षा है अथवा ईश्वरका ज्ञान है, ये सब बातें युक्तिसङ्गत नही बैठतीं। और, तब यह मान लेना चाहिए कि इच्छा, रागद्वेषादिक भाव ससार कर्मबधके कारणसे होता है, ईश्वरके कारणसे नहीं होते। अर्थात् रागद्वेषादिक भावोका निमित्त कारण कर्मविपाक है न कि कोई महेश्वर

अथवा महेश्वरका ज्ञान अथवा महेश्वरकी सिसृक्षा।' जब ये कामादिक वैचित्र्य का निमित्त कारणसे सिद्ध हो गए तब उस प्रसिद्ध रागद्वेषादिक भावोंमें यह निर्णय बना कि जो परिणाम संक्लेशके अङ्गभूत हैं वे तो पापके कारण बनते हैं, उनसे पापबंध होता है और जो परिणाम विशुद्धिके अङ्गभूत हैं उनसे पुण्यबंध होता है।

ईशदेहस्थ ज्ञानको ही बाह्यक्षेत्रस्थ कार्योंका निमित्त मान लेनेपर भी ईशज्ञानमें सृष्टिकर्तृत्वकी सिद्धिकी अशक्यता—जिस प्रकार ईश्वरकी सिसृक्षा और ईश्वरकी निमित्तकारणता सिद्ध नहीं होती उसी प्रकार ईश्वरके ज्ञानमें भी शरीर इन्द्रिय आदिक कार्योंके प्रति निमित्त कारणता सिद्ध नहीं होती। ईश्वरका ज्ञान माना गया है नित्य और असर्वगत अर्थात् ईश्वरका बोध ईश्वरके प्रदेशमें है और वह उतने स्थानमें है जितने कि वह शरीरमें है। तो उससे बाहर ईश्वरका ज्ञान तो है नहीं और फिर भी संसारके समस्त पदार्थोंके कार्यमें ईश्वरके ज्ञानको निमित्त कारण माना जा रहा तो इसका अर्थ यह होगा कि जितनी जगह ईश्वरज्ञान है उतनी ही जगहमें यदि कोई पदार्थ पड़े हों तो उनकी रचना भले ही हो जाय, किंतु समस्त स्थानोंमें उत्पन्न होने वाले कार्योंकी उत्पत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि ईश्वर ज्ञान सब जगह तो रहा नहीं। यदि यह कहो कि ईश्वर ज्ञान यद्यपि शरीरके प्रदेशमें ही रह रहा है, जो ईश्वरका शरीर है उस शरीरके प्रदेशमें ही ईश्वर ज्ञान रह रहा है और वहाँ ही रहते हुए सब जगह बाह्य निमित्त कारण बन जायगा अर्थात् जगतमें जितने भी स्थान हैं, जितने भी पदार्थ हैं वे शरीर प्रदेशसे बाहर हैं फिर भी उन कार्यों का निमित्त कारण ईश्वर हो जायगा। सो यह बात भी नहीं बनती, कारण कि इस मन्तव्यमें देशव्यतिरेक न बन सका। जब शरीर प्रदेशमें रहकर भी ईश्वरज्ञान और सब जगतके पदार्थोंके कार्यका निमित्त कारण बना तो वहाँ यह कभी न कहा जा सकेगा कि ईश्वरके ज्ञानके न होनेपर कार्य नहीं होता। जब तक कोई व्यतिरेक सिद्ध नहीं होता, तब तक साधनमें साध्य सिद्ध करनेकी क्षमता नहीं आती।

सर्वगत नित्य ईशज्ञानमें, देशकालव्यतिरेकका अभाव होनेसे लोकरचनानिमित्तत्वकी असिद्धि—देश व्यतिरेक न होनेसे फिर अन्वय मात्रसे ईश्वर बोधमें शरीरादिक कार्योंके प्रति कारणता नहीं कही जा सकती। ईश्वर ज्ञानको असर्वगत माननेपर कार्यकी कारणता नहीं रहती। यह सोचकर यदि कहा जाय कि वह ईश्वर ज्ञान नित्य तो है ही पर सर्वगत भी मान लिया जाय तो विश्वके समस्त प्रदेशों में वह ईश्वरज्ञान व्यापक है तब तो दोष न होगा। समाधानमें कहते हैं कि नित्य ईश्वर ज्ञानको सर्वगत मान लेनेपर भी बाह्य पदार्थोंके निमित्त कारणको सिद्ध करते समय यह ही दोष आ जायगा। जब ईश्वर ज्ञान नित्य है तब तो काल व्यतिरेक नहीं बनता, यह नहीं कहा जा सकता कि जिस समय ईश्वर ज्ञान न हो उस समय कार्य

नही होते जिस व्यतिरेकसे यह सिद्ध किया जा सकता हो कि ईश्वर ज्ञान समस्त कार्योका निमित्त कारण है तो जैसे नित्य माननेपर ईश्वर बोध और कार्य इनमे काल व्यतिरेक नही बनता। जब दोनो ही व्यतिरेक न बने तो अन्वयमात्रसे कारणताकी सिद्धि नही की जा सकती।

ईशज्ञानको अनित्य व असर्वगत मानकर भी उससे लोकरचनाकी सिद्धि करनेकी अशक्यता—शङ्काकार कहता है कि ईश्वरका बोध अनित्य है और असर्वगत है। न हम उसे नित्य मानेगे और न सर्वव्यापी मानेंगे, तब तो काल व्यतिरेक और देश व्यतिरेक दोनो सिद्ध हो जायेंगे। ईश्वरज्ञानको नित्य नहीं माना तो यह कह सकेंगे कि जब ईश्वरज्ञान नहीं है तब कार्य भी नही होते और ईश्वरज्ञानको हम सर्वगत न मानेंगे तब यह कह सकेंगे कि जहाँ ईश्वरज्ञान नही है वहाँ कार्य नहीं होते और यो देशव्यतिरेक काल व्यतिरेक दोनो सिद्ध हो जायेंगे और दोनो व्यतिरेक सिद्ध हो जानेसे फिर शरीर इन्द्रिय पृथ्वी आदिक पदार्थोंकी उत्पत्तिमें ईश्वरज्ञान निमित्त कारण बन जायगा। इस शङ्काके समाधानमे कहते हैं कि यदि ईश्वरज्ञानको नित्य असर्वगत मानकर अपने अभिप्रायकी पुष्टि करना चाह रहे तब तो वहाँ स्पष्ट दोष यह है कि ईश्वरज्ञान तो अनित्य रहा। इसके मायने यह कि किसी समय ईश्वरके पास ज्ञान भी नही रहा। ईश्वरज्ञानको असर्वगत माना तो इसके मायनें यह हुआ कि किसी जगह ईश्वरका ज्ञान भी न रहा, तो किसी समय किसी जगह ईश्वरमे बोध-रहितपना आयगा, फिर वह ईश्वर सर्वज्ञ कैसे कहलायगा ? सबका जाननहार है ईश्वर और सभी समय जाननहार है यह तो न बनेगा। शङ्काकार कहता है कि हम ऐसा मान लेंगे कि अपरापर अन्य अन्य अनेक सर्व पदार्थोंके ज्ञानका विच्छेद नहीं होता। बहुतसे समस्तज्ञान जाने तो जा रहे हैं इस कारणसे वे सदा ही सर्वज्ञ सकल वेदी सिद्ध हो जायेंगे। उसमे कोई विरोध नही आता। उत्तरमे कहते हैं कि फिर तो वही बात प्रसगकी यहाँ आती है कि उसका भी व्यतिरेक कैसे सिद्ध होगा ? जिस किसी भी अपेक्षासे ईश्वरको सकलवेदी माना तो सभी जगह रहा, सभी समय रहा, तो देश व्यतिरेक, काल व्यतिरेक फिर वहाँ सिद्ध कैसे होगा ?

ईशज्ञानको अन्य ईशज्ञानकी अपेक्षा न रखकर या अपेक्षा रखकर दोनो विकल्पोमें निष्पन्न सिद्ध करनेकी अशक्यता—अब और विचार कीजिए कि यह बतलाओ कि जो ईश्वरज्ञान शरीर इन्द्रिय पृथ्वी आदिक कार्योका कारण बन रहा है वह ईश्वर बोध, अन्य बोधकी अपेक्षा रखता है अथवा नही ? याने ईश्वर बोध भी अन्य बोधके कारणसे रचा जाता है या वह ईश्वर बोध स्वय रचा हुआ है, क्योकि सृष्टि कर्तृत्वके आग्रहमे तो प्रत्येक बातमे प्रश्न हो सकता है कि यह भी उस कारणसे रचा गया है या नहीं ? तो जो ईश्वरज्ञान द्वारा शरीरादिक समस्त कार्योका

कारण बन रहा है सबको रच रहा है तो यह ईश्वरज्ञान किसके द्वारा रचा गया? क्या यह भी अन्य ईश्वर ज्ञानके द्वारा रचा गया या अन्य ज्ञानकी अपेक्षा न रखते हुए स्वयं रचा हुआ है? यदि कहो कि यह अनित्य बोध ईश्वरके अन्य ज्ञानकी अपेक्षा न रखकर ही बन गया है तो पहिले तो इसी बातका विचार करो कि ईश्वर ज्ञान है अनित्य और जो भी अनित्य पदार्थ हैं वे अकारणक नहीं होते, उनका कोई कारण होना चाहिए। जो परिणमन जो पदार्थ नष्ट होते हुए देखे जाते हैं, कह सकोगे कि उनका उत्पाद भी कारणपूर्वक था। सो कारणके अभावमें कार्य भी दूर हो गया। तो जब ईश्वर ज्ञानको अनित्य माना जा रहा है तो उसे अनपेक्ष न कह सकोगे। किसी कारणकी अपेक्षा रखकर उत्पन्न हुआ कहा जायगा। और मान लो कि यहाँ यह आग्रह ही रखा जाय कि ईश्वरका वह अनित्य ज्ञान अन्य ईश्वर ज्ञानकी अपेक्षा न रखकर ही उत्पन्न हुआ तो बतलाओ कि वह ईश्वर ज्ञान तो ईश्वर ज्ञानके बिना ही स्वयं उत्पन्न हो गया तो फिर सिसृक्षा, शरीर, इन्द्रिय, पृथ्वी आदिक समस्त कार्य क्यों न ईश्वर ज्ञानकी अपेक्षा किए बिना ही हो जायँ? ईश्वर ज्ञान तो बिना ईश्वर ज्ञानके निमित्त कारणके हो जाय और शरीर इन्द्रिय, पृथ्वी आदिक समस्त पदार्थ ईश्वर ज्ञानके निमित्त कारण बिना न हों, इसमें कोई विशेष हेतु नहीं दीखता है। इस कारण यह पक्ष भी युक्त न रहा कि अन्य ज्ञानकी अपेक्षा न रखकर ईश्वर ज्ञान की उत्पत्ति होती है। अब यदि दूसरा पक्ष मानते हो कि अन्य ईश्वर ज्ञानकी अपेक्षा रखकर वह ईश्वर ज्ञान शरीरादिक कार्योंका कारण बनता है तब तो इसमें अनवस्था दोष आ जाता है। प्रथम ईश्वर ज्ञानने सारे संसारकी रचना की और वह प्रथम ईश्वर ज्ञान द्वितीय ईश्वर ज्ञानसे बनता तो द्वितीय ईश्वर ज्ञान तृतीय ज्ञानसे बनेगा। यों अनवस्था दोष हो जायगा। जो भी ईश्वर ज्ञान बताओगे वह ही अन्य ईश्वरज्ञान से बना कहना पड़ेगा। तो इस कथनकी कहीं भी समाप्ति नहीं हो सकती। तो ईश्वर ज्ञानको यदि अन्य ईश्वरज्ञानकी अपेक्षा रखने वाला कहोगे तो इसमें अनवस्था दोष आता है।

पूर्व पूर्व ज्ञानकी सिसृक्षामें उत्तर उत्तर ज्ञानकी सृष्टि माननेमें दोषापत्तियाँ—अब यहाँ शंकाकार कहता है कि देखिये! पूर्वज्ञानके रचनेकी इच्छा के वशसे उत्तरोत्तर ज्ञानके रचनेकी इच्छा और शरीर इन्द्रिय आदिक कार्योंकी उत्पत्ति हो जाती है। क्योंकि कार्यकारण भाव अनादि है। अनादिसे इसी तरह चला आरहा है कि उत्तरोत्तर ज्ञानकी सिसृक्षा पूर्व पूर्व ज्ञानकी सिसृक्षासे होते जाते हैं, इस कारण कार्यकारण भाव अनादि है और यहाँ अनवस्था दोष नहीं आता। जैसे बीज और अंकुर। पहिले बीजसे अंकुर बना, अब इस अंकुरसे बीज बना। पहिले बीज जो अंकुरसे बना था, पहिला अंकुर बीजसे बना था। इस तरह यहाँ यद्यपि उत्तरकी समाप्ति नहीं हो सकी कि पहिले क्या बना था लेकिन इसे अनवस्था दोष न कहेंगे,

इसे कहेंगे अनादि प्रवाह। तो ऐसे ही पूर्व पूर्व ज्ञान सिसृक्षासे उत्तरोत्तर ज्ञान सिसृक्षा और शरीरादिक कार्य उत्पन्न होते रहते हैं इसमें अनवस्था दोष नहीं, किंतु अनादि प्रवाहकी बात है। तब यह दोष न आयगा। समाधानमें कहते हैं कि इस प्रकार ईश्वर बोधका अनादि प्रवाह मानकर कारण कहा जानेसे तो ईश्वरकी कल्पना ही निरर्थक बन जाती है। हुआ क्या ? पूर्व पूर्व पदार्थ परिणमनसे उत्तरोत्तर पदार्थ परिणमन होते जाते हैं। सीधा उन पदार्थोंमें ही उनमें ही क्यों न कारण कार्य भाव समझा जाय ? फिर उन पदार्थोंको रचने वाला कोई स्वतन्त्र ईश्वर है, एक निरर्थक कल्पना ही क्यों की जाती है? शङ्काकार कहता है कि उस ईश्वर ज्ञानके होनेपर अन्य ज्ञान और शरीरादिक कार्योंका सद्भाव होता है। इससे ईश्वर ज्ञानमें कारणपना सिद्ध है और इसी कारण ईश्वरकी कल्पना अनर्थक नहीं है। तो इसके समाधानमें कहते हैं कि तब तो व्यतिरेक सिद्ध नही हो सकता, क्योंकि ईश्वर नित्य है, सर्वगत है, तो न तो काल व्यतिरेक बनता और न ईश्वर व्यतिरेक बनता। कार्य कारणपने का निर्णय तो व्यतिरेकसे बनता है। जैसे घड़ेका कारण कुम्हार चक्र दंड आदिक हैं, तो वहाँ यह देखा जाता है कि जब कुम्हार आदिक नहीं होते तो घड़ा नहीं बनता। जिस जगह कुम्हार घड़ा व्यापार न हो तो घड़ा नही बनता। तो देश व्यतिरेक काल-व्यतिरेकसे ही तो कारण कार्यपनेका निश्चय है। अब ईश्वर ज्ञान नित्य और सर्वव्यापक है तब तो व्यतिरेक न बनेगा और अन्वयमात्रसे उन्हें कारण मान लिया जाय तो समस्त आत्मा भी सदा रहते हैं और उन्हें कारणरूपसे नहीं माना गया, तो वे भी कारण बन बैठेंगे, इस कारण ईश्वर और ईश्वरके ज्ञानको समस्त कार्योंका कारण नहीं कहा जा सकता।

नित्य एकस्वभाव वाले ईशसे ईशज्ञानसे ईशसिसृक्षासे लोकसृष्टि होनेकी असिद्धि—यदि यहाँ शङ्काकार कहे कि एक स्वभाव वाले बोधसे काम, रागादिक विचित्रतायें क्रमसे बन जायेंगी सो बात युक्त नहीं बैठती, कारण यह है कि जैसे शङ्काकार नित्य और एक स्वभाववान है तो उसका सदा ही अन्वय रहेगा, फिर जगतके समस्त कार्य क्रमसे क्यो होंगे ? या तो सब एक साथ हो जाने चाहिए या न ही होना चाहिये ? एक साथ होना भी नहीं बनता, क्योंकि यह प्रत्यक्ष बाधित बात है, और एक स्वभाव होनेसे एवं नित्य होनेसे क्रमसे भी नही बनता अन्यथा उस निमित्तमे निमित्तताका विघात हो जायगा, इसी प्रकार महेश्वरकी सिसृक्षासे भी कार्य वैचित्र्य क्रमसे नहीं हो सकता, इसके सम्बन्धमे ऊपर दोषापत्तियाँ विस्तारपूर्वक बतायी गई हैं, इसी प्रकार एकस्वभाव वाले ईश्वर ज्ञानसे कामादिक कार्योंकी विचित्रता क्रमसे भी नही हो सकती, याने ये रागद्वेषादिक कार्योंकी उत्पत्ति एक स्वभाव वाले ईश्वर ज्ञानसे क्रमसे भी नही बन सकते, एक साथ भी नही बन सकते, अतः इस सम्बन्धमे तर्क वितर्क चिन्ता किए जानेसे कोई लाभ नहीं है।

कर्मवैचित्र्यसे कामादि वैचित्र्यकी निष्पत्तिका सिद्धान्त—शङ्काकारका कहना है कि महेश्वर और महेश्वरकी सिसृक्षा एक स्वभाववान है तो भी कर्मकी विभिन्नताके कारण कामादिक कार्योकी विभिन्नता हो जाती है और ऐसी ही बात ईश्वरज्ञानसे लगा लेना चाहिए कि ईश्वर ज्ञान भी एक स्वभाववान है, तिसपर भी जिन जीवोने जिन-जिन प्रकारके कर्म किये हैं उन कर्मोकी विभिन्नतासे काम कषायादिककी विभिन्नता उत्पन्न हो जाती है, तो इसके समाधानमे बात यही कहनी रह गई कि तुम्हारा कहना बिल्कुल ठीक है और यह बात युक्त है कि जीवोंके जैसे-जैसे कर्म होते हैं उन कर्मोकी विचित्रताके अनुसार कामादिक कार्योकी विचित्रता बन जाती है। अब ईश्वर और ईश्वरकी इच्छा या ईश्वर ज्ञान इनने कोई प्रयोजन न रहा, क्योंकि कर्मोकी विचित्रतासे ही कामादिक संसारकी विचित्रतायें सम्पन्न हो जाती हैं। और यहाँ अन्वय व्यतिरेक सही बन जाता है कि कर्मोकी विचित्रता होनेपर रागादिक कार्योकी विचित्रता होती है और कर्मोकी विचित्रता न होनेपर कामादिक कार्योकी विचित्रता नहीं होती। कैसा ही शरीर मिला, कैसी ही इन्द्रियां मिली, कैसी ही किसी की कषाय जगी आदिक जो भाव ससार और द्रव्य संसार जो कुछ बन रहा है वह कर्मोकी विचित्रता होनेपर बन रहा है इस कारण जो अभी सिद्धान्त बताया गया था कि कर्मबन्धके अनुसार यह नाना प्रकारका कामादिक संसार बनता है। यह सिद्धान्त बिल्कुल प्रमाणसिद्ध हो जाता है और एक स्वभाववान नित्य ईश्वर आदिक मानकर फिर उनमे कारणकी कल्पना करनेका परिश्रम भी समाप्त हो जाता है। जिसको अन्वय और व्यतिरेक निश्चित नहीं है ऐसा ईश्वर या ईश्वरकी इच्छा, ईश्वरका ज्ञान किसीको भी द्रव्यसंसार, भावससारका कारण माननेपर इसमे अनेक दोषापत्तियां आती है, फिर क्यों न संसारके जीवोको ही इस ससारका कारण मान लिया जाय? क्योंकि जब अन्वय व्यतिरेकके बिना महेश्वर या इच्छा या ज्ञानको संसारका कारण मान लिया गया तो अन्वय व्यतिरेकके बिना दिशा, आकाश, काल आदिक सब जो चाहे जो सदा रहने वाले हो सभीको ही कारण मान लीजिए। तो इन सब कहो-पोहोसे यह बात सिद्ध होती है कि जितने इच्छादिक भाव ससार है और शरीर इंद्रिय आदिक द्रव्य संसार हैं ये सब कर्मकी विचित्रताके कारण निष्पन्न हुआ करते हैं यहाँ तर्क यह बताया गया कि कर्मकी विचित्रता कारण है, निमित्त है कि जिनके अनुरूप ये नाना प्रकारके शरीर इंद्रिय कषाय इच्छायें उत्पन्न हुआ करती हैं।

विरूप्य प्रवृत्ति, सन्निवेशविशिष्टत्व आदि हेतुओसे भी महेश्वरकी लोककर्तृताकी असिद्धि—महेश्वर और सिसृक्षा इनका एक स्वभाव होनेपर भी कर्मविचित्रतासे कामादिककी विचित्रता है, ऐसा शङ्काकारने जो अभी मान रखा था उससे यह बात सिद्ध हुई कि कर्मकी विचित्रता ही निमित्त कारण है उस भाव ससार की रचनामे और इसी प्रकार यह भी सिद्ध होता है कि जैसे महेश्वर और सिसृक्षा

और ज्ञान संसारका कारण नही बना इसी प्रकार विरम्य प्रवृत्ति, सन्निवेशविशिष्टत्व आदि हेतुओंसे भी ईश्वरकी निमित्तकारणता सिद्ध नही होती। हेतु शङ्काकारकी ओरसे यह हो सकता है या ससारकी ओरसे यह हो सकता है कि ससारकी एक एक रुकके प्रवृत्ति हो रही है। तो जो रुक रुककर विराम ले लेकर प्रवृत्ति होती है उससे सिद्ध होता है कि इन पृथ्वी आदिक पदार्थोंकी निष्पन्नताका कोई बुद्धिमान ईश्वर कारण है। जैसे कि यहाँपर किसी कार्यके सन्निधानमें घट बनाया, पट बनाया, कोई आभूषण बनाया गया तो वहाँ रुक रुक करके वह काम होता है तो उनसे यह सिद्ध होता है कि कोई बनाने वाला सुनार, कुम्हार, जुलाहा आदिक तो है तो इसी प्रकार इस जगतके पदार्थ भी रुक रुककर प्रवृत्त होते हुए देखे जाते हैं। इससे सिद्ध किया जाता है कि इसका कारण कोई बुद्धिमान महेश्वर है। इसी प्रकार सन्निवेश विशेष अर्थात् पर्वत शरीर इंद्रिय आदिककी कोई रचना विशेष है। इससे सिद्ध होता है कि उनके बनाने वाला कोई बुद्धिमान है। जैसे घट पट आदिकका आकार विशेष होता है तो उससे सिद्ध होता कि उनके बनाने वाला कोई अक्ल वाला है। यो ही पृथ्वी, पर्वत आदिक भी रचना विशेष पाये जाते हैं, उनसे सिद्ध होता है कि इनके बनाने वाला बुद्धिमान महेश्वर है। तो इन हेतुओंसे भी ईश्वरकी निमित्त कारणता सिद्ध नही होती, कारण यह है कि ये सब होनेपर भी आखिर मानना तो यह पडेगा कि जैसी जैसी कर्म विचित्रता है उस उस प्रकारसे शरीर इंद्रिय आदिक और इच्छा कषाय आदिक कार्योंकी विचित्रता निष्पन्न होती है।

दृश्यमान सन्निवेशोंमे जीवोंकी निमित्त कारणता— जगतमे जो कुछ भी यह दिख रहा है चाहे वह आज अचेतन क्यो न हो, इन सब सन्निवेशोका कारण कर्मों की विचित्रता है। जो रागद्वेषादिक भाव उत्पन्न होते हैं ये भाव कर्मके उदयके निमित्तसे होते हैं, यह तो साक्षात् निमित्तपनेकी बात कही जा रही है और जीवोंके शरीर इंद्रिय आदिककी जो रचना होती है उसमे भी साक्षात् कर्म निमित्त है। अब यह जीव जिस पृथ्वी वनस्पति आयुका क्षय करके भवान्तरको प्राप्त होगा तो अब यह शरीर विर्जीर्ण हो गया तो ये पृथ्वी पर्वत आदिक जो इतने विशाल सन्निवेशमे नजर आ रहे हैं इनका यह सन्निवेश जीवके सम्बन्धसे बना था और बनते बनते जब कर्मके उदयका निमित्त पाकर तो जितने भी सन्निवेश हैं यह दृष्टगत हो रहा है, इसका भी कारण परम्परया और साक्षात् कर्मका उदय है।

विरम्य प्रवृत्ति आदि साधनोंसे भी महेश्वरकी लोकरचनामे अकर्तृता— तात्पर्य यह है कि पुण्य पापके अनुसार ही जीवके शरीर इंद्रिय बुद्धि इच्छा आदिक कार्योंकी उत्पत्ति हुआ करती है। बुद्धिमान महेश्वरके कारण पूर्वकताके बिना ही पदार्थोंके परस्पर निमित्तनैमित्तिक सम्बन्धसे ये सब साधन जो बताये गए हैं, उत्पन्न

होते हैं, विरम्य प्रवृत्ति सन्निवेश विशेष, कार्यत्व, अचेतन उपादानत्व, अर्थक्रियाकारित्व यह सारा जगत ईश्वरने रचा है यह सिद्ध करनेके लिए इतने हेतु और दिये जा सकते हैं। विरम्य प्रवृत्ति अर्थात् रुक-रुक करके प्रवृत्त हो रही है तथा सन्निवेश विशेष चूंकि ये समस्त पदार्थ किसी संस्थान विशेषमे है, आकार विशेषमें है। कार्यत्व चूंकि ये सब कार्य हैं, उत्पन्न हुए हैं, अचेतन उपादानत्व चूंकि इन सब दृश्यमान पदार्थोंकी उपादान अचेतन है। अर्थक्रिया, कारित्व चूंकि उन सबमें क्रिया नजर आती है और उसका प्रयोजन भी निष्पन्न होता है। उन सब कारणोंकी उत्पत्ति तो महेश्वरकी कारणता बिना भी बन सकती है और वह सब बन रही है कर्मोंकी विचित्रतासे। अतएव इन हेतुओंसे भी उन पृथ्वी आदिक कार्योंको बुद्धिमान कारणपूर्वक सिद्ध नहीं किया जा सकता, किन्तु सर्वत्र यही सिद्ध होगा कि जो कुछ भी विभिन्नता नजर आती है वह सब कर्मोंकी विचित्रतासे नजर आती है। कोई पुरुष श्रीमान है कोई दरिद्र है, कोई सुखी है दुःखी है, किसीके किसी प्रकारकी इच्छा जगती है और किसीका किसी प्रकार परिणमन होता, ये समस्त बातें कर्मकी विचित्रतासे हैं। जिन जीवोंने शुभ अशुभ भावोंसे जिस प्रकारका पुण्य पाप कर्मबंध किया उसके उदयमे उस प्रकारकी घटना उपस्थित हो जाती है।

शरीर इन्द्रिय आदिकी उत्पत्तिसे पहिले अचेतनवत् होनेसे चेतनाविष्टित होनेकी आशंका—अब यहाँ शङ्काकार कहता है कि देखिये! शरीर और इन्द्रियकी उत्पत्तिसे पहिले तो आत्मा अचेतन है। पुण्य पापकर्म भी अचेतन हैं, इस कारण पुण्य पापकर्मोंमें नाना प्रकारके उपभोगके योग्य शरीर इन्द्रिय आदिकका सम्पादन नहीं हो सकता है। उनमे यह चतुराई नही है कि वे शरीर इन्द्रिय आदिककी रचना कर सकें इस कारण शरीर इन्द्रिय आदिककी उत्पत्तिमें निमित्त कारण कोई आत्मान्तर ही होना चाहिए। जैसे कि मिट्टीके पिण्डसे घट बनता है तो उसका निमित्त कारण कोई होता ही है जैसे कुम्हार आदिक निमित्त हुए बिना घट नहीं बन जाया करता, इसी प्रकार शरीर और इन्द्रियकी उत्पत्तिसे पहिले आत्मा स्पष्ट अचेतन है। कारण यह है कि नैयायिक सिद्धान्तमे आत्माको स्वरूपसे चेतन नहीं माना गया, किन्तु चेतना अथवा ज्ञान सम्बन्धसे आत्मामें चेतना जगती है, तो उसमे चेतनाका व्यवहार इन्द्रिय और शरीर बननेके बाद बनता है। उससे पहिले तो वह आत्मा इस प्रकार है जैसे कि मृत्पिण्ड। मृत्पिण्ड जैसे किसी कुम्हार आदिक जीवकी प्रवृत्ति बिना नहीं बन सकता इसी प्रकार इन्द्रिय शरीरादिककी उत्पत्ति और आत्मामें भी इच्छा आदिककी उत्पत्ति किसी बुद्धिमान आत्मा याने महेश्वरके कारण बिना नहीं बन सकती, क्योंकि पुण्य पापकर्ममे स्वयं अचेतन होनेके कारण नाना उपभोगके योग्य शरीर इन्द्रियका सन्निधान करनेका सामर्थ्य नहीं है। सो जैसे मृत पिण्डसे घट बननेमें कुम्हार कारण है उसी प्रकार इस समस्त संसारकी रचनामें बुद्धिमान महेश्वर

कारण है।

सृष्टिहेतुके लिये आत्मान्तरकी खोज सिद्ध करनेपर भी प्रकृत साधनो का व्यतिरेक न होनेसे महेश्वरके सृष्टि निमित्तत्वकी असिद्धि—अब उक्त शङ्काके समाधानमे कहते हैं कि उक्त कथन भी उपयुक्त नही है। कारण कि युक्तिके बलसे आत्मान्तरकी खोज करनेका यत्न होनेपर भी जो कुछ भी प्रकृत साधन दिये जा रहे हैं जैसे ब्रह्म प्रवृत्ति सन्निवेश विशेष आदिक इनके व्यतिरेकका निश्चय न होगा। याने ईश्वरके होनेपर कार्य हो और ईश्वरके न होनेपर कार्य न हो इस प्रकारसे व्यतिरेक यहाँ नहीं बनता और केवल अन्वय मात्रसे कार्य कारणका विधान नहीं बनाया जा सकता। सदा ईश्वर है। सका कार्य हो रहे तो उसमे कार्य कारणकी पहिचान तो तब होती है कि कारण न हो तो कार्य न हो, ऐसा देखा जाय। जैसे धूम होनेसे अग्निका ज्ञान किया जाता है तो धूम कार्य है अग्नि कारण है तभी तो ज्ञान किया गया। अब यह कैसे जाना कि धूम कार्य है अग्नि कारण है? यह यो जाना कि जहाँ अग्नि नही होती वहाँ धूम नही होता। तो व्यतिरेकके द्वारा ही कार्य कारणका विधान बनाया जा सकता है, सो विरम्य प्रवृत्ति आदिक कारणोको देकर भी चूंकि व्यतिरेक नही बनतो इस कारणसे महेश्वरको या उसकी इच्छाको या उसके ज्ञानको इस भाव संसार और द्रव्यसंसारका निमित्त कारण सिद्ध नहीं किया जा सकता है।

शङ्काकार द्वारा प्रयुक्त अनुमानका व्याप्तिपूर्वक सामर्थन करनेका प्रयास—अब यहाँ नैयायिक सिद्धान्तानुयायी कहते हैं कि शरीर इन्द्रिय पर्वत लोकादिक जो विवादापन्न हैं वे सभी पदार्थ बुद्धिमत् कारणपूर्वक होते हैं क्योकि उनकी रुक-रुक कर प्रवृत्ति होनेसे, आकार विशेष युक्त होनेसे, अचेतन उपादान होनेसे, अर्थ क्रियाकारिता होनेसे और कार्यरूप होनेसे घटकी तरह इस अनुमान प्रयोगमे ५ साधन बताये गए हैं और उन सब साधनोका व्यतिरेक भी सिद्ध होता है। व्यतिरेक यो सिद्ध होता है कि बुद्धिमान कारण यदि न हो तो इन नाना प्रकारके भोगोपभोगके योग्य शरीर इन्द्रिय लोक आदिकके निर्माण नही हो सकते, क्योकि बुद्धिमान कारणके बिना ये स्वय अचेतन ससारी प्राणी और पुण्य पापकर्म इनमें यह कुशलता नहीं है कि नाना प्रकारके उपभोगके योग्य शरीर इन्द्रिय आदिकका निर्माण कर सके इससे सिद्ध होता है कि वह बुद्धिमान कारण ईश्वर ही है। इस तरहसे उन सब साधनोंका व्यतिरेक भी समर्थित होता है और व्यतिरेक दृष्टान्त भी पाया जाता है, जैसे कुलालके बिना मृत्पिण्ड दडादिक जो अचेतन हैं, घटादिक पदार्थोंकी उत्पत्ति करनेमें कुशलता नहीं रख सकते, यो व्यतिरेक दृष्टान्त भी सिद्ध होता है और इससे अन्वयका भी समर्थन मिलता है जैसे दृष्टान्तमें कुलालके होनेपर दडादिक मृत्पिण्ड घटादिकके

सम्पादनमे अपनी सामर्थ्य रखते है ऐसे ही बुद्धिमान कारणके होनेपर ही जो कुछ भी प्रश्रय कारण है वह अपने कार्य सम्पादनमे सामर्थ्य रखता है, तो जब अन्वय भी सिद्ध हो गया, व्यतिरेक भी सिद्ध हो गया तब यह अनुमान प्रयोग समीचीन क्यो न माना जायगा कि जो कुछ शरीर इद्रिय आदिक ससार हैं है सब बुद्धिमान महेश्वरके कारणसे हुए हैं।

अन्यथानुपपत्ति न होनेसे सृष्टिकर्तृत्वके सम्बन्धमे प्रयुक्त अनुमानकी असिद्धि—उक्त शङ्का विवरणके समाधानमे कहते हैं कि व्यतिरेक व्याप्ति बताना और शरीर इन्द्रिय आदिके महेश्वर कारण पूर्वक सिद्ध करना यह सब ठीक नही कहा जा सकता, क्योकि वहाँ अन्यथानुत्पत्ति नही पायी जाती। जो भी साधन अन्यथानुत्पत्ति पूर्वक होगे वे ही निर्दोष साधन कहलायेंगे। साध्यके अभावमे साधनके न होनेको अन्यथानुपपत्ति कहते हैं। यदि साध्य न हो तो साधन हो नही सकता। जैसे अग्नि न हो तो धूम हो नही सकता, इस प्रकारका कोई व्यतिरेक उस बुद्धिमान कारणमे नही घटाया जा सकता कि बुद्धिमान महेश्वर न हो तो यह कार्य नही बन सकता ऐसी घटना सिद्ध तो करें। तो अन्यथानुत्पत्ति जब सिद्ध नही होती तो यह सब बताना कि ये इन्द्रिय आदिक बुद्धिमान कारण पूर्वक हैं और, उसमे प्रवृत्ति आदिक हेतुओका विवरण देना यह सब सगत नही बैठता।

शकाकार द्वारा स्वप्रयुक्त सृष्टिकर्तृत्वके सिद्ध करनेका व्यर्थ प्रयास—शङ्काकार कहता है कि अनुमानमे साधनमे अन्यथानुपपत्ति इन साधनोमे पायी जाती है क्योकि बुद्धिमान कारणके, बिना रुक रुककर प्रवृत्ति होना आकार विशेष युक्त होना आदिक जो भी हेतु कहे गए हैं, वे हेतु असम्भव हो जाते है, तो बुद्धिमान कारणके बिना अर्थात् साध्यके बिना विरम्य प्रवृत्ति आदिक हेतु याने साधन असंभव होता है इस कारण अन्यथानुत्पत्ति तो है ही। इसके समाधानमें कहते हैं कि यह कथन अनुमान बाधित है, ईश्वर शरीर इन्द्रिय लोकादिकका निमित्त कारण नहीं हो सकता क्योकि शरीर, इन्द्रियरहित होनेसे। वह महेश्वर खुद शरीर इन्द्रिय रहित है। तो जो स्वयं अशरीर है वह किसी कार्यको नही कर सकता है। इन्द्रिय शरीर रहित महेश्वरके इस लोककी कृति असम्भव है काल आदिककी तरह। जैसे काल शरीर इन्द्रिय रहित है तो उसे तो सृष्टिकर्ता नही माना, ऐसे ही शरीर इन्द्रिय रहित मनेश्वर माना गया है तो वह भी इस लोकका करने वाला नही हो सकता। अथवा मुक्त आत्माकी तरह जैसे जो आत्मा मुक्त हो गए हैं उनके शरीर इन्द्रियाँ नही हैं, उन्हें सृष्टिकर्ता भी नही माना है। यौगमतमे एक महेश्वरको तो अनादि अनन्त माना है अशरीर माना है और जो ससारी आत्मा धर्मध्यान करके कर्मोसे छूट जाते हैं शरीर रहित भी हो जाते है। तो जो मुक्त आत्मा हैं उनके शरीर इद्रियाँ नहीं हैं,

और मुक्त आत्माओको इस सृष्टिका करने वाला नही माना गया है । तो शरीर इन्द्रिय रहित होनेसे मुक्त आत्मा जैसे सृष्टिकर्ता नही हो सकते इसी प्रकार शरीर इन्द्रिय रहित होनेसे महेश्वर भी सृष्टिकर्ता नही हो सकता । यदि कहो कि शरीर रहित भी रहा आये महेश्वर फिर भी वह इस लोकका निमित्त कारण है । तो जब शरीर इन्द्रिय रहित पदार्थको इस लोकमें कारण मान लिया गया तो कर्म भी तो शरीर इन्द्रिय रहित हैं । सो कर्मोंको यदि इस लोक रचनामें निमित्त मान लिया जाय तो इसमे कौन सी निषेध योग्य बात बनेगी ? शरीर इन्द्रिय रहित महेश्वरको निमित्त कारण माननेपर कर्मोंमे भी अचेतन होनेपर भी इन समस्त कार्योंमें निमित्तपना बन जाय ।

शकाकार प्रयुक्त अनुमानमें दृष्टान्त व्यतिक्रमका वर्णन—शकाकार द्वारा प्रयुक्त अनुमान प्रयोगके सम्बन्धमे अब यह भी सोचिये कि यहाँ सर्वथा दृष्टान्तका व्यतिक्रम भी हो रहा है । जैसे कह तो रहे हैं यह कि शरीर इन्द्रिय रहित महेश्वर इस समस्त जगतका कर्ता है और दृष्टान्त दे रहे हैं कुम्हार आदिकका, तो कुम्हार आदिक तो सब शरीर सहित हैं । शरीर रहित महेश्वर इस लोकका कर्ता है यह सिद्ध करनेके लिए दृष्टान्त ऐसा ही देना चाहा था जो कि शरीर रहित होता । तो इसमे दृष्टान्त जो दिया गया है वह शरीर सहित कुम्हार आदिक दिया गया । और, इस तरहके दृष्टात तो मिल ही न सकते थे । तो शरीर रहित कुम्हारके दृष्टान्तसे भी यह सिद्ध होता है कि शरीर सहित ही कोई कारण बनता तब शरीर रहित महेश्वर कैसे कारण बन जायगा । देखिये ! जैसे ही शरीर इन्द्रिय वाले कुम्हार आदिक घड़ा आदिक कार्योंके प्रयोजक हैं, इनके करने वाले हैं, ऐसा दृष्टान्तमे कहा है तो ठीक है । अब शरीर इन्द्रिय लोकादिकका कोई शरीर इन्द्रिय रहित ईश्वर कर्ता है ऐसी कल्पना करना व्यर्थ है । और कल्पना अगर करते हो तो दृष्टान्तका उल्लंघन कर दिया । दृष्टान्त जैसा दिया जा रहा है वैसी ही तो दार्ष्टान्तिमे बात पायी जाना चाहिए । तो यहाँ दृष्टान्त का उल्लघन कर दिया । तो जब शरीर रहित महेश्वरका कारण मान करके बात कर रहे हो तो कर्मोंमे क्यो न यह बात घटा दी जाय कि कर्म भी तो शरीर इन्द्रिय रहित हैं, उनमे इन सब रचनाओंका कारणपना आ जाय । भले ही यह चेतन है लेकिन जब दृष्टान्तका उल्लघंन करनेकी ही आदत बना रहे हो तो जैसे वहाँ सशरीरता का उल्लघन कर दिया ऐसे ही यहाँ अचेतनताका उल्लघन करके बाकी अन्य बातें घटा लीजिए । कर्म भी शरीर इन्द्रिय रहित है, वह भी शरीर इन्द्रिय आदिकका कारण बन जाय । तो तात्पर्य यह है कि जो शरीर इन्द्रिय रहित हो वह इन समस्त पदार्थोंका रचने वाला नहीं हो सकता ।

बुद्धिच्छा प्रयत्नवत्त्वकी दृष्टान्तके साथ समता दिखाकर दृष्टान्त

उक्त शंकाके समाधानमें शरीर रहितके बुद्धि, इच्छा व प्रयत्न होने की अशक्यताका प्रतिपादन—उक्त शङ्काके समाधानमें कहते हैं कि शङ्काकी पुष्टि उक्त प्रकारसे करना अयुक्त है क्योंकि जो इन्द्रिय और शरीर रहित हैं उस जीवकी बुद्धि इच्छा प्रयत्न बन ही नहीं सकता। कुम्हारके जो बुद्धि इच्छा और प्रयत्न बने तो शरीर-सहित होनेके कारण बने पर जो शरीर रहित है, इन्द्रिय रहित है महेश्वर, उसमें बुद्धि इच्छा प्रयत्न उत्पन्न हो ही नहीं सकते। जैसे मुक्त आत्माओंके शरीर इन्द्रिय नहीं हैं तो उनकी बुद्धि इच्छा, प्रयत्न भी नहीं बन पाते, अथवा शरीरसे बाहर जो संसारी आत्मा पड़ा हुआ है वहाँ बुद्धि, इच्छा, प्रयत्न नहीं हुआ करते। योगमतमें आत्माको व्यापक माना है। अब शरीर सहित जो संसारी प्राणी है उसका आत्मा जितने शरीरमें है उतनेमें तो बुद्धि इच्छा प्रयत्न हो जाते हैं पर उसके बाहर जो आत्मा है वहाँ तो बुद्धि इच्छा प्रयत्न नहीं देखे जाते अथवा काल आदिककी तरह समझिये कि जैसे काल दिशा आदिकमें शरीर इन्द्रियाँ नहीं हैं तो इसी कारण वहाँ बुद्धि इच्छा प्रयत्न भी नहीं हुआ करते। तात्पर्य यह है कि शरीरेन्द्रियरहित है उसमें बुद्धि इच्छा और प्रयत्न नहीं हुआ करते और महेश्वरको माना है अशरीरी तो वहाँ बुद्धि इच्छा प्रयत्न हो ही नहीं सकते। अतएव दृष्टान्तका उल्लंघन हमने नहीं किया, ऐसा समर्थन करना युक्तिसङ्गत नहीं है।

मरणके बाद विग्रहगतिमें भी जीवके सशरीर होनेके कारण बुद्धि इच्छा प्रयत्नके संभव होनेका प्रतिपादन—अब यहाँ शङ्काकार कहता है कि यह बात कहना कि शरीर इन्द्रियरहितकी बुद्धि इच्छा प्रयत्न नहीं बनती, इस कथनमें तो व्यभिचार आता है। उस आत्माके साथ जो शरीर इन्द्रिय आदिककी उत्पत्तिसे पहले है अर्थात् शरीर इन्द्रिय आदिककी उत्पत्तिसे पहिले आत्माके साथ हेतुका व्यभिचार है उस आत्मासे जिसने कि शरीर इन्द्रिय अभी ग्रहण नहीं किया, उसके भी बुद्धि, इच्छा प्रयत्न देखा जाता है। तो यहाँ यह कहना कैसे सही होगा कि जो शरीर इन्द्रिय रहित है उसके ज्ञानमें इच्छा प्रयत्न नहीं हुआ करते। इस शङ्काके समाधानमें कहते हैं कि शरीर-इन्द्रिय आदिककी उत्पत्तिसे पहिले आत्माको तो स्वयं शङ्काकारने अपने सिद्धान्तके अनुसार ज्ञान इच्छा और प्रयत्नसे रहित माना है, अन्यथा उसके कथनसे उसके ही मतका विरोध आ जायगा। यदि यह कहो कि जैन सिद्धान्तमें तो मरण करनेके बाद याने पूर्वभवके छोडनेके बाद-उत्तर शरीर ग्रहण करनेसे पहिले विग्रहगति में शरीररहित होनेपर भी वहाँ ज्ञान, इच्छा, प्रयत्न पाये जाते हैं ऐसा माना है फिर अनेकान्त दोष कैसे नहीं हुआ? इसके उत्तरमें कहते हैं कि जैन सिद्धान्तमें विग्रहगति में रहने वाले जीवको भी सशरीर माना गया है। भले ही स्थूल शरीर छोड़कर जीव चला और नया शरीर ग्रहण नहीं कर पाया लेकिन उस बीच भी तैजस और कार्माण शरीर साथ है तो वहाँ जो बुद्धि इच्छा प्रयत्न हुए वे सशरीर आत्माके ही हुए, इस

कारण विग्रहगतिको प्राप्त जीवके साथ हेतुका व्यभिचार नहीं बताया जा सकता।

ईश्वरकी धर्मीरूपसे प्रतिपत्ति व अप्रतिपत्तिके विकल्प उठाकर महेश्वरके सृष्टिकर्तृत्वके निषेधक अनुमानको अप्रकृत बतानेका शङ्काकार द्वारा प्रयास—शङ्काकार यहाँ कहता है कि ईश्वरको यहाँ धर्मित्वरूपसे मानते हो अथवा नहीं? याने ईश्वरकी प्रमाण द्वारा प्रतिपत्ति, जानकारी स्वीकार करते हो अथवा नहीं? यदि ईश्वरकी जानकारी ही नहीं कर रहे, ईश्वरको प्रमाणसे सिद्ध मानते ही नहीं हो यहाँ धर्मीरूपसे तब तो "महेश्वर सृष्टिकर्ता नहीं है, क्योंकि शरीर इन्द्रियसे रहित है" यों शरीर इन्द्रियसे रहितपना हेतुकी बात कहना आश्रयासिद्ध है। जब अनुमानमें महेश्वरको धर्मीरूपसे मानते ही नहीं हो, तो इन्द्रिय, शरीररहित है, ऐसा हेतु किसमें बताते हो, आश्रय ही नहीं। अत धर्मी ईश्वरकी प्रतिपत्ति न मानने पर आश्रयासिद्ध दोष होता है। जैसे कि कोई कहे कि ईश्वर सृष्टिकर्ता नहीं है तो यह बात यदि है तो खण्डन क्या करते? और नहीं है तो खण्डन किसका करते? इसी प्रकारके आश्रयमें यह पक्ष उठ रहा है कि ईश्वरके धर्मीरूपसे प्रमाणसे जानकारी यदि नहीं रख रहे हो तो हेतु आश्रयासिद्ध है और यदि हम लोगोंसे विलक्षण ईश्वरकी धर्मीरूपसे प्रतीति करते हो तो इस ही मंतव्यसे हेतु बाधित हो जाता है अर्थात् महेश्वर अब सृष्टिकर्ता सिद्ध हो जाता, क्योंकि वह हमसे विलक्षण है। हम लोग अकर्ता हैं और उससे विलक्षण है प्रभु याने वह कर्ता है। तो यदि ईश्वरको नहीं मानते तो हेतु आश्रयासिद्ध है और यदि मानते हो तो अपने आप सृष्टिकर्ता सिद्ध हो जाता है अत समाधानमें दिया गया जो यह हेतु है कि ईश्वर शरीरेन्द्रिय-रहित है इस कारण वह सृष्टिका कारण नहीं है, यह अनुमान असिद्ध हो जाता है।

सृष्टिकर्तृत्वनिषेधक अनुमानको असंगत बतानेकी शंकाका समाधान—अब उक्त शङ्काके समाधानमें कहते हैं कि शङ्काके दोनों पक्षोंमें से जो यह पक्ष पहिले दिया गया कि ईश्वरको धर्मीरूप यदि नहीं मानते तो आश्रयासिद्ध हेतु है, यह कहना असंगत है, क्योंकि जब प्रसंगके साधन आये अर्थात् अनिष्ट बात सिद्ध होनेका समय आये उस समय याने असत् बातको सिद्ध करनेके कालमें आश्रय अपेक्षणीय नहीं होता जब किसी चीजको असत्‌रूपको सिद्ध किया जा रहा हो, बात सही नहीं है और उस बातको कोई शङ्काकार प्रस्तुत कर रहा है तो, वहाँ तो युक्ति चलेगी आश्रयकी खोज न चलेगी, और दूसरी बात यह है कि अगर आश्रयके भी खोजकी बात कहते हो, तो ईश्वरकी सत्ता, ईश्वरकी जानजारी बराबर हम लोगोको है ईश्वरका सद्भाव है और वह अनन्तज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्तशक्ति, अनन्त आनन्दमय है। वह सदैव आनन्द-स्वरूप है, तो ईश्वर उत्कृष्ट अवस्थामें है न कि वह क्षुब्ध दशामें, और किन्हीं बाह्य पदार्थोंकी किसी रचना आदिकके झगड़ेमें … ईश्वरकी सत्ता है और वह … आनन्द-

स्वरूपके उत्कृष्ट विकासरूप । इस कारण प्रथम पक्षका विकल्प उठाकर हेतुको बाधित नही कर किया जा सकता । अत यह बात सिद्ध ही है कि शरीर रहित व इन्द्रिय-रहित होनेसे ईश्वरमे कर्तृत्व नही आ सकता । अब दूसरे पक्षकी बात सुनो । जो यह कहा गया कि यदि ईश्वर धर्मीको प्रमाणसे सिद्ध मानते हो तो हमसे विलक्षण है वह ईश्वर धर्मी, उसका जानकारी की तो इसीसे यह सिद्ध हो गया कि शरीर और इन्द्रिय से रहित होनेपर भी ईश्वर सृष्टिका कर्ता है यह बात भी बाधित है, क्योंकि सामान्य रूपसे ईश्वर नामके आत्मान्तरको हमने धर्मी बनाया है, किन्तु समस्त कारकोंका प्रयोक्ता है इसरूपसे अथवा वह बुद्धि, ज्ञान, इच्छा, प्रयत्न वाला है इसरूपमें तो अब भी विवादापन्न है और उसीके सम्बन्धमे अनुमान बनाया गया है कि जो शरीरेन्द्रिय रहित होता है वह ज्ञान इच्छा प्रयत्न वाल नहीं बन सकता । यो महेश्वर शरीररहित होकर ज्ञान इच्छा प्रयत्न वाला न हो सकेगा और ज्ञान, इच्छा प्रयत्न वाला न होनेपर शरीर इद्रिय लोकादिकका कर्ता भी नही हो सकता ।

महेश्वरको अनाद्यनन्त अशरीर बुद्धीच्छा प्रयत्नवान् व लोकसृष्टि निमित्त सिद्ध करनेका शकाका का प्रयास—अब शङ्काकार कहते हैं कि देखिये! हमारा एक अनुमान है जिस प्रमाणसे ईश्वरमे बुद्धि ज्ञान इच्छाकी समवायात्मकता है यह बात सिद्ध होती है ये शरीरादिक पदार्थ जिनके सम्बन्धमे अभी विवाद चल रहा है ये सभी पदार्थ चेतनाधिष्ठित हैं किसी चेतनके द्वारा अधिष्ठित हुए हैं क्योंकि रुक रुककर प्रवृत्ति होनेसे, आकार विशेपसे विशिष्ट होनेसे, आदि इन सब हेतुओंसे वह समस्त कारकोका प्रयोक्ता सिद्ध हो जाता है और बुद्धि आदिकसे युक्त है यह भी सिद्ध हो जाता है । जब महेश्वह समस्त कारकोका प्रयोक्ता बन गया और ज्ञान, इच्छा, प्रयत्नसे सम्पन्न सिद्ध हो गया तो शरीर रहित और इन्द्रिय रहितपना भी उसका सिद्ध हो जाता है क्योकि अनादि अनन्त यह शरीरादिक कार्योंकी सतान है, जिसका निमित्त कारण ईश्वर है तो उस ईश्वरके अनादि अनन्तपना सिद्ध होता है । तो ऐसा अनादि अनन्त सृष्टिके निमित्त कारणभूत ईश्वरमे शरीरित्वका विरोध है । जो अनादि अनन्त होता है वह शरीर सहित नही होता । अशरीरपना भी उसके रहा आयगा और अनादि अनन्तपना भी रहा आयगा और अनादि अनन्त अशरीर महेश्वर के बुद्धि इच्छा प्रयत्न भी रहे आयेंगे, इसमे कोई विरोध नही है । तो महेश्वर शरीर रहित है, क्योकि अनादि अनन्त होनसे और शरीर रहित होकर भी वह शरीर इद्रिय आदिक समस्त पदार्थोंका वह प्रयोक्ता है । यो अनादि अनन्त सदाशिव अशरीरी महेश्वरके समस्त द्रव्य ससार और भाव ससारकी सृष्टिका कर्तापन सिद्ध हो जाता है ।

श. ग्रोकी असगतता अब उक्त शङ्काके समाधानमें कहते हैं कि ये सब कथन प्रमाणबाधित हैं। देखिये ! अनुमान प्रयोग है कि ईश्वरमें अशरीरपना अनादि अनन्त नहीं है क्योंकि अशरीरी होनेसे। शरीर रहित जो भी होगा वह अनादिसे शरीररहित हो यह बात नहीं बनती, क्योंकि शरीर रहित ही तो कहा जा रहा है, और दृष्टान्त भी देखिये। शङ्काकारके सिद्धान्तके अनुसार कि जब शरीर और इंद्रियकी उत्पत्ति नहीं हुई उस उत्पत्तिसे पहिले हम सब संसारी जीवोंका जैसा अशरीरपना है, शरीर इद्रियकी उत्पत्तिसे पहिले हम अशरीरी थे, उससे पहिले किसी भवमें शरीरी थे तो अशरीरीपनेका आदि अन्त भी आ गया। और भी देखिये। अशरीर मुक्तात्मा होता है, पर वह क्यों अनादिसे अशरीरी है ? अशरीरीका अर्थ ही है जो शरीर रहित हो। शरीररहितका भाव यही है कि पहिले शरीर सहित थे, अब शरीरसे मुक्त हुए हैं। और, भी देखिये ! कि ईश्वरके बुद्धि आदिक नित्य नहीं होते, अनादि अनन्त नहीं होते, क्योंकि बुद्धि आदिक हो तो हैं वे, जैसे हम लोगोंकी बुद्धि बुद्धि है इस लिए अनादि अनन्त नहीं है। तो ईश्वरकी भी जो बुद्धि है वह अनादि अनन्त नहीं है और इस कारण जो आगममें ईश्वरको अशरीरत्व सिद्ध किया है वह भी निराकृत हो जाता है, क्योंकि वह आगम वचन बाधित है। कोई भी सृष्टिका कारणभूत पुरुष शरीर रहित न हो सकेगा। और, सृष्टिका कारणभूत कोई एक अन्य पदार्थ भी न हो सकेगा, सृष्टियोंके होते रहनेका यह स्वाभाविक प्रबंध है कि विकारी पदार्थ, विकृत होने योग्य पदार्थ अनुकूल निमित्तको पाकर स्वय विकृत हो जाते हैं तो जितने भी ये रागद्वेषरूप भावसंसार हैं अथवा शरीर इन्द्रिय आदिक द्रव्यसंसार हैं वे सब संसार इस कर्म विचित्रतासे उत्पन्न हुए हैं। वहाँ भी कर्म केवल निमित्त मात्र है, इन कर्मोंने परद्रव्य-का परिणमन करा दिया हो सो बात नहीं। प्रत्येक पदार्थ स्वभावसे उत्पन्न होता है, विलीन होता है और बना रहता है। ऐसे ही ये समस्त पदार्थ उत्पन्न होते हैं विलीन होते हैं, बने रहते हैं, अब उनमें जो विकारकी विशिष्टता आती है वह उपाधि का सन्निधान पाकर आती है सो यह भी एक सहज सम्बन्ध है कि किस निमित्तको पाकर कैसा पदार्थ स्वतः की परिणतिसे किसरूप परिणम जाता है? तो यों शरीररहित होकर महेश्वर बुद्धि इच्छा प्रयत्नवान नहीं बन सकता।

महेश्वरको सशरीर माननेपर भी उसमें सकललोकसृष्टिनिमित्तकर्ताको असिद्धि—यदि शङ्काकार यह कहे कि फिर महेश्वरको शरीर सहित ही मानलो, तब सुनो ! कि महेश्वरका भी शरीर वह है ? बतलाओ महेश्वरशरीर किसी बुद्धिमत्कारणपूर्वक हुआ है या बुद्धिमत्कारणपूर्वक नहीं हुआ ? आखिर ईश्वरका शरीर भी तो एक पदार्थ है, कार्य है वह शरीर किसी बुद्धिमान ईश्वरके निमित्तसे बना है या बिना निमित्तके बना है ? यदि कहो कि बिना निमित्तके ही बना महेश्वरका शरीर, किसी बुद्धिमान कारणके बिना ही हो गया है तो लो इतनी ही बातसे कर्तृत्व

आदिक हेतुओमें व्यभिचार आ गया कि देखो, यह है महेश्वर, शरीर, कार्य और वह किसी बुद्धिमान कारणपूर्वक न हो तो यो ही यह भी समझ लिया जायगा कि ससार के शरीर इद्रिय आदिक अनेक कार्य भी किसी एक बुद्धिमानके कारणसे न होंगे, उन सबमे अपनी अपनी योग्यता है सो अनुकूल निमित्त पाकर परिणमते रहते हैं । यदि कहो कि महेश्वरका शरीर भी बुद्धिमान कारणपूर्वक हुआ है तो फिर नये नये अनेक शरीरोकी कल्पना की जानी पडेगी, फिर उस बुद्धिमानका शरीर किसी अन्य बुद्धिमान के कारणसे हुआ है, फिर उस बुद्धिमानका शरीर किसी अन्य बुद्धिमानके कारणसे हुआ है । यो ऊपर-ऊपर शरीरकी कल्पना करनेमे अनवस्था दोपका मिटानेके लिए शङ्काकार कहता है कि पूर्व पूर्व अपने शरीरके द्वारा उत्तर-उत्तर अपना शरीर उत्पन्न होता जाता है और यो वह महेश्वर समस्त पदार्थोका निमित्तकारण बन जाता है, तो सुनो ! फिर तो यो समस्त ससारके विषयमें भी पूर्व पूर्व सस्कारोंसे नवीन नवीन शरीर इद्रियकी उत्पत्ति मानते जाइये ! फिर ईश्वरकी कल्पना करना व्यर्थ है क्योकि अपने उपभोगके योग्य भवन आदिककी उत्पत्तिमे भी, केवल अपने शरीरकी ही उत्पत्तिमें नहीं, उन सबकी उत्पत्तिमे भी ससारी जीवोंमे निमित्तकारणता आ जाती है । तब यो भी महेश्वरकी कारणता सिद्ध नही होती ।

महेश्वरको सशरीर व अशरीर माननेके दोनों विकल्पोंमे भी लोक-स्रष्टृत्वकी असिद्धि—महेश्वर शरीर सहित माना जानेपर भी लोककी रचना करने वाला सिद्ध नही होता और शरीररहित माना जानेपर भी लोकरचनाका कर्ता सिद्ध नहीं होता । महेश्वर तो महान ऐश्वर्य सम्पन्न ही माना जा सकता है, पर ऐश्वर्य उसे ही कहते हैं कि जो स्वय ऐश्वर्यमे समर्थ हो जिस ऐश्वर्यके लिए किसी परकी अपेक्षा न करनी पडे, ऐसा ऐश्वर्य होना है वस्तुमे रहने वाला सहज स्वरूप । तो परमात्मा, महेश्वर, प्रभु अपने ही ज्ञानानन्द स्वरूपका भोक्ता होता है और उस ही विलासमें तृप्त रहा करता है, किंतु सभी वाह्य पदार्थोमें बुद्धि लगाये अथवा उनके रचनेकी इच्छा करे अथवा किसी प्रकारकी कोशिश करे यह सब मोहके सद्भावकी बात है । राग बिना इस प्रकारकी वृत्ति नही बन सकती । यह तो हुई महेश्वरके स्वभावकी बात, लेकिन कर्तृत्वकी बात तो शरीरसहित माना जानेपर भी नही बनती और शरीररहित माना जानेपर भी नहीं बनती । यो कार्यत्वहेतु अचेतनोपादानत्व हेतु सन्निवेश विशिष्टत्व हेतु, ये सभी ईश्वरकी सृष्टिके कर्तृत्वके गमक नहीं बन सकते हैं अर्थात् महेश्वर कर्तृत्वकी सिद्धि नहीं होती ।

विरम्य प्रवृत्ति अर्थक्रिया आदिको चेतनाधिष्ठानके कारण माननेपर प्रकृत महेश्वरमे दोषापत्तियाँ—और भी सुनो, रुक रुक करके प्रवर्तन करना, अर्थ-क्रिया करना ये बातें चेतन के अधिष्ठानसे होती हैं, ऐसा नियम बनानेपर तो फिर

प्रवृत्ति अर्थक्रिया ये ईश्वर आदिकके भी न हो सकेंगे, क्योंकि ईश्वर चेतनाधिष्ठानसे रहित है। ईश स्वयं अचेतन है, किसी भी जीवको स्वयं चेतन योगसिद्धान्त मे नहीं माना है। चेतना गुणके सम्बन्धसे ईशको व प्रत्येक जीवको चेतन कहा गया है। तो सम्बन्धसे ही तो कहा गया है। तो स्वयं कैसा है आत्मा यह सोचा जाय तो उसके सहज स्वरूपमे चेतना तो न पायी जायगी। तो चेतना रहित ईश्वर भी रुक रुक करके प्रवृत्ति न कर सकेगा, अथवा कोई अर्थक्रिया न कर सकेगा, अन्यथा यदि चेतना के बिना ही रुक रुक करके प्रवृत्ति मानी जाय और अर्थक्रिया मानी जाय याने उस ईशमे ये रुक कर प्रवृत्तियाँ और कुछ करनेका श्रम माना जाय तो ईश्वर दिशा, काल आकाश ये सब चेतनाधिष्ठित हो जायेंगे, अर्थात किसी चेतनासे प्रेरित कहलाने लगेंगे, क्योंकि समस्त कार्योंमें जो कि क्रम क्रमसे उत्पन्न हो रहे हैं उनमे रुक रुक करके परिणति होनेसे उनमे अर्थक्रिया होनेसे ये सब चेतनाधिष्ठित हो जायेंगे। जैसे बढईका बसूला यह रुक रुक कर ही तो चलता है और यह बसूला कोई काम करता है, गिरता है, काठको चीरता है, तो इन बातोके निरखनेसे सिद्ध होता है कि बसूलेका कोई अधिष्ठाता है, वह बढई चेतन। उसके अधिष्ठानमे आकर इस बसूलेकी ऐसी प्रवृत्ति होती है। तो जब सर्व कार्यक्रमसे उत्पन्न हो रहे हैं तो क्रमसे उत्पन्न होनेके कारण एव रुककर प्रवर्तन हो रहे हैं, कोई एक प्रवर्तन रहा, फिर दूसरा हुआ फिर तीसरा तो यह रुक रुककर जो प्रवर्तन हुआ, हो होकर होनेकी जो बात पदार्थोंमें देखी जा रही है उससे सिद्ध किया जाता कि यह सभी चेतनाधिष्ठत है। तो जिससे नही माना गया है कि ईश्वरने बनाया ऐसे दिशा, काल आकाश और ईश्वर, ये स्वय किसी चेतनाके अधिकारमे आ जायेंगे, और ऐसा माननेपर अर्थात् ये सभी चेतनसे अधिष्ठित हैं यो स्वीकार करनेपर वह ईश्वर भी किसी अन्य ईश्वरके द्वारा अधिष्ठित हो जायगा। फिर वह अन्य ईश्वर भी किसी अन्य ईश्वरके द्वारा अधिष्ठित होगा, यों अनवस्था दोष आ जायगा, और यदि अन्य ईश्वरके द्वारा प्रकृत ईश्वरको अधिष्ठित न माना तो इस ही ईश्वरके साथ विरम्य प्रवृत्ति आदि हेतुमे व्यभिचार दोष आता है, याने व्याप्ति तो यह बनायी थी कि जो रुक रुक करके प्रवृत्ति हो उसे चेतना द्वारा अधिष्ठित मानना चाहिये, लेकिन यह ईश्वर स्वयं चेतनाके द्वारा अधिष्ठित नही माना गया और रुक करके प्रवृत्ति हो रही है। तो यो स्वयंके पक्षसे स्वयंके हेतुमे दोष आ जाता है।

बुद्धिमत्त्व हेतुसे महेश्वरमे अनवस्थादोषका प्रसंग न आना माननेपर प्राणियोंके निकृष्ट शरीर इन्द्रिय आदिकी सम्भवताकी अनुपपत्ति—अब शङ्काकार कहता है कि ऐसा अनवस्था दोष कि ईश्वर किसी अन्य ईश्वरके अधिष्ठानमे है और वह किसी अन्य ईश्वरके अधिष्ठानमे है यो अनवस्था दोष आयगा, यह प्रसंग यहाँ नही हो सकता क्योंकि ईश्वर स्वयं चेतन है। जो अचेतन चीज है वह किसी

चेतना द्वारा अधिष्ठित हुआ करती है, पर ईश्वर तो स्वय चेतन है, बुद्धिमान है इस कारण यहाँ अनवस्था दोष न आयगा। इस शङ्काके उत्तरमें कहते हैं कि यदि वह ईश्वर स्वय बुद्धिमान है और इस वजहसे अन्य ईश्वरकी उसे अपेक्षा भी नही रहती तो इस बुद्धिमत्ताके हेतुसे फिर तो किसी भी प्राणीको खोटा शरीर इद्रिय न देनी चाहिए। जब वह ईश्वर बुद्धिमान है और अनन्त शक्तिमान है अन्यथा ईश्वरता न रहेगी। तब फिर किसी भी प्राणीसे विशिष्ट शरीर जैसे बौना, लगडा, कुरूप अथवा निकृष्ट इन्द्रियाँ किसी भी प्राणीके न बनना चाहिए। जैसे कि बुद्धिमान ईश्वर किसी अन्य अधिष्ठाता चेतनकी अपेक्षा नही रखता, क्योंकि वह स्वय बुद्धिमान है व शक्तिशाली है तो फिर हीन कुब्डा आदिक शरीर इन्द्रियको भी मत रचे वह महेश्वर, क्योंकि जो बहुत सातिशय विद्यावान है वे हीन कार्य नहीं कर सकते हैं। तो जो छोटे कीडे मकोडे कुबडे आदिक शरीर रचे जाते हैं तो ये तो हीन कार्य हो गए। बुद्धिमान पुरुष कभी भी हीन कार्योंको नही किया करते हैं। जो किसी कार्यकी विधिमें सातिशय जानकार है और बुद्धिमान है, दयालु है, क्रूर नही हैं, ऐसे पुरुष कभी भी हीन कार्य न करेंगे।

कर्मोंकी विचित्रतासे निकृष्ट शरीर इन्द्रियोंकी निवृत्ति माननेपर महेश्वर निमित्तत्वकी असिद्धि—शङ्काकार कहता है कि खोटे शरीर और इद्रिय प्राणोको जो प्राप्त होते हैं वे उनके कर्मोंकी विचित्रतासे होते हैं। जिस प्राणीके जैसे कर्म होते हैं उस कर्मके अनुसार उसको शरीर इद्रिय आदिक प्राप्त होती हैं। तो इसके समाधानमे कहते हैं कि इसका अर्थ सीधा फिर यह हुआ कि जो कुछ प्राणियोको इष्ट अनिष्ट समागम प्राप्त होते हैं वे सब उनके किए गए शुभ अशुभ कर्मोंके अनुसार होते हैं। फिर महेश्वरको सृष्टिकर्ता सिद्ध करके उसे रागी, इच्छावान संसारी प्राणियो जैसा बना देना यह व्यर्थका प्रयास क्यो किया जा रहा है। और, फिर देखिये ! जो उन प्राणियोंके कर्म हैं, जिन कर्मोंकी विचित्रतासे प्राणियोके खोटे शरीर, इद्रियादिक रचे जाते हैं वे कर्म भी ईश्वरज्ञानके निमित्तसे बने हैं अथवा नही, ? जैसे शङ्का निवारणके लिए शङ्काकारने यह कहा कि प्राणियोको जो खोटे शरीर इद्रिया प्राप्त होती हैं वे उनके कर्मोंकी विचित्रतासे, इस कारण ईश्वर उनको खोटे शरीर इद्रियके देनेको इन्कार नही करता। तब यह बतलाओ कि वे खोटे कर्म भी ईश्वर अथवा ईश्वरके ज्ञानके निमित्तसे बने कि नहीं ? यदि प्राणियोंके पुण्य पाप कर्मका कर्ता ईश्वर है तब तो वही दोष फिर आता कि उस ईश्वरने हीन शरीर इद्रिय बननेके कारणभूत कर्मोंको ही क्यो रचा ? क्यो नहीं प्राणियोंसे अच्छे कर्म कराता है जिससे कि उनको खोटे इन्द्रिय शरीर न मिल सकें। यदि कहो कि प्राणियोंके जो कर्म होते हैं उनमे ईश्वर या ईश्वरका ज्ञान कारण नहीं है तब फिर शरीर इन्द्रिय आदिककी निष्पत्तिमे भी ईश्वर कारण मत रहो। तब पुण्य पाप कर्मकी रचनामे ईश्वर कारण

दिक भाव ससार उत्पन्न होता है और कामादिक भावससारसे नाना प्रकारके कर्मबंध होते तो यह तो निमित्तनैमित्तिक योगका स्वभाव ही है वस्तुत उसमे उपालम्भ न करना चाहिए, किसी प्रकारकी आशङ्का और उलाहना न रखना चाहिए। क्योंकि फिर तो ईश्वरमे भी अनेक प्रकारके ऐसे उपालम्भ दिए जा सकते हैं।

प्रमाणसिद्ध निमित्तनैमित्तिक सम्बन्धमे पर्यनुयोग व उपालम्भकी अनुपपत्ति—और देखिये ! प्रत्यक्षमे विषयभूत हुए धतूरे आदिक पदार्थोंमे जो अचेतनोको परतत्र बना देनेकी बात देखी जाती है वहाँ भी कोई प्रश्न करने लगे कि ऐसा क्यो होता है ?' फिर तो प्रत्येक जगह स्वभावमे उलाहना दिया जा सकेगा। नीम कडवा क्यो होता ? मदिरा बेहोश करनेका कारण क्यों बन जाता ? तो ऐसे पदार्थों के स्वभावमे उपालम्भ नही दिया जा सकता। जैसे ये अचेतन कर्मबंध नाना प्रकारके रागद्वेषादिक भावससारको करते है अथवा कामादिक चैतन्य स्वभाव जीवके परिणाम कर्मवैचित्र्यको करते हैं तो क्यो कैसे करते हैं ? सो जैसे यहाँ जीव परिणाम और कर्मबन्ध इन दोनोके सम्बन्धमे भाव स्वभावमे उलाहना दी जा सकती है, ऐसे ही यहाँ भी तो उलाहना दी जा सकती है कि बताओ अचेतन धतूरा आदिकका भोजन बेहोशी पागलपन आदिककी विचित्रताको कैसे कर देता है ? अथवा उस धतूरेको खाने वाला पुरुष चेतन इस मिट्टी आदिकको भी पीला पीला क्यो देख लेता है ? तो यो यहाँ भी उपालम्भ दिया जा सकता है। यदि कहो कि इन लौकिक प्रसङ्गोंमे बात ऐसी ही देखी जा रही है इससे यहाँ कोई उलाहना नही दी जा सकती, तो बस ठीक है, यही बात कामादिक भावससार और कर्मबन्धके स्वरूपमें भी देखी जा रही है। यहाँपर भी उपालम्भ नही दिया जा सकता। और, इस सम्बन्धमें तो पहिले बहुत स्पष्टरूपसे भी सिद्ध किया गया है कि कामादिक ससार और कर्मबन्ध ये परस्पर एक दूसरेके निमित्त कारण हुआ करते हैं। इससे किसी महेश्वरको लोककर्ता न मानकर यह सब लौकिक विचित्रता कर्मबन्धके निमित्तसे मानना चाहिए।

सामान्यतया बुद्धिमन्निमित्तकत्व सिद्ध होनेपर भी एक महेश्वरनिमित्तत्वकी सिद्धि—यदि शङ्काकार यह कहे कि जैसे कामादिक भावससार और कर्मबन्धमे परस्पर अचेतनता और चेतनताके कारणरूपसे अनुमान बनाते हैं तो इसी प्रकार ईश्वर भी सृष्टिकर्ता है इस प्रकारका अनुमान बनाया जाय तब तो उलाहनेका प्रसग न आयगा'। तो उत्तरमे सुनो ! ऐसी शङ्का दुहराना उचित नहीं है, क्योंकि ईश्वरके सृष्टिकर्तृत्वके सम्बन्धमे जो अनुमान दिया गया है वह अनेक दोषोंसे दूषित है। अनुमानमे यही तो कहा गया है कि शरीर इन्द्रिय लोकादिक बुद्धिमत्कारणपूर्वक हैं कार्यत्व आदिक होनेसे। तो हम यहाँ पूछते हैं कि कार्यत्व आदिक साधन जो शरीर इन्द्रिय आदिकको किसी बुद्धिमानके द्वारा रचा गया सिद्ध कर रहा है तो क्या यह

सिद्ध किया जा रहा है कि एक बुद्धिमानके कारणसे हुआ है ? या यह किया जा रहा है कि अनेक बुद्धिमानोके कारणसे हुआ ? यदि कहो कि हम तो एक बुद्धिमानके निमित्तमे यह सब लोक हुआ है, यह सिद्ध कर रहे हैं तो इसमे तो अनेकान्तिक दोष आता है । देखिये ! महल आदिकके निर्माण अनेक सूत्रधार; बुद्धिमानोके द्वारा होते हैं तो जब यह बात दीख रही है कि ये सब कार्य जिनको सपक्ष बनाया है शङ्काकार ने वे सब एक बुद्धिमानके द्वारा नही बने हैं, अनेक बुद्धिमानोके द्वारा रचे गए हैं। इस कारण उन हेतुवोमे अनेकान्तिक दोष सिद्ध होता है । यदि कहो कि अनेक बुद्धिमानोके कारणसे ये शरीर इद्रिय आदिक बने हैं तो ठीक है, सिद्ध साधन है। ठिकानेपर अब आया समझिये । क्योकि नाना प्राणियोके कारणसे ही उनके उपभोगके योग्य शरीरादिक बन गए हैं, उनके शरीर इद्रिय आदिक उनके ही अदृष्टके द्वारा किए गए हैं अर्थात् जो प्राणी जिस प्रकारका शुभ अशुभ परिणाम करता है, उसके अनुकूल शरीर इद्रिय आदिक पदार्थोंका समागम प्राप्त होता है, उनकी रचना होती हैं। तो अनेक बुद्धिमान कारणोके द्वारा यह समस्त लोक रचा गया है, ऐसा सिद्ध मानते हुए बुद्धिमान कारण यह सामान्य सिद्ध कर रहे हो तो यह बात युक्त है, इसमे हम दोष नही दे सकते हैं। किंतु शङ्काकार द्वारा अभिमत जो एक बुद्धिमान ईश्वर विशेष सिद्ध किया जा रहा था वह तो यहाँ भी सिद्ध नही हुआ। और अधिकरणसिद्धान्त न्यायसे भी लोककी महेश्वरनिमित्तता सिद्ध नही होती है। अधिकरण सिद्धान्त कहते हैं उसे कि किसी एक अर्थकी सिद्धि होनेपर प्रस्तुत प्रकरणकी सिद्धि बन जाय याने कुछ भी बात ऐसी सिद्ध हो जिससे कि प्रकरणकी सिद्धिकी झाकी भी हो जाय, उसे अधिकरणसिद्धान्त कहते है। इस न्यायसे भी एक बुद्धिमान कारण सिद्ध नही होता ।

बुद्धिमत्सामान्यसहित विशेषको सृष्टिकर्ता माननेकी शका और उसका निराकरण—शङ्काकार कहता है कि हम तो बुद्धिमान सामान्यसे सहित विशेषको साध्य बना रहे हैं याने हेतुसे बुद्धिमत्व सामान्य सिद्ध हुआ और उससे विशिष्ट एक महेश्वरको साध्य बना रहे कि वह लोकको करता है, तो इसके समाधानमे कहते है कि यदि सामान्यसहित विशेषको याने विशेषका आश्रय रखने वाले सामान्यको साध्य बना रहे हैं तो यह बतलाओ कि दृष्टि विशेषके आश्रयभूत सामान्यको यहाँ कहते हो या अदृष्ट विशेषके आश्रयभूत सामान्यको साध्य बना रहे हो याने जैसे लोक मे कुम्हार जुलाहा आदिकविशेष बुद्धिमान कर्ता देखे गए है ऐसे दृष्ट विशेषोके आधारभूत एक महेश्वरको सिद्ध कर रहे हो या जो धर्म देखे ही नही जा रहे हैं ऐसे अदृष्ट विशेषोके आधारभूत बुद्धिमान सामान्यको सिद्ध कर रहे हो यदि कहोगे कि दृष्ट विशेष के आश्रयभूत सामान्यको साध्य बना रहे तो इसमे तो शङ्काकारके सिद्धान्तका विघात होता है, याने जो दृष्ट विशेष है उनसे महेश्वरकी सृष्टिकर्तृता सिद्ध नही होती ।

कुम्हारमे विशेष क्या देखा जा रहा कि वह सर्वज्ञ नही, कुछ कारकोका ही प्रयोग कर सकने वाला है। तो ऐसी दृष्टिका आधार महेश्वरको बनाओगे तो वह असर्वज्ञ बन गया, कुछ ही कार्य कर सकने वाला बन सकेगा। तो दृष्टविशेषाश्रय बुद्धिमत्सामान्य को निमित्त माननेपर उनके सिद्धान्तका घात होता है। यदि कहो कि अदृष्ट विशेषके आश्रयभूत सामान्यको साध्य बना रहे तो इसका तो कोई दृष्टान्त ही न मिलेगा, और जो भी दृष्टान्त देगा वह साध्य शून्य होगा, अदृष्ट विशेष ये हुए जैसे समस्त कारकों का प्रयोक्ता है, सर्वज्ञ है, पूर्ण शक्ति वाला है, व्यापक है। अशरीरी है ऐसा तो तुम सामान्य बुद्धिमान सिद्ध कर रहे और दृष्टान्त दे रहे ऐसा कि जो कुछ ही कारकोंका प्रयोक्ता है सर्वज्ञ नही, जिसकी शक्ति व्यापक नहीं, शरीर सहित है। तो दृष्टान्तमें भी साध्य नहीं आया और साध्यके लिए दृष्टान्त भी नही मिल रहा, तो नही कह सकते अदृष्ट विशेषाश्रय बुद्धिमत्सामान्यको भी निमित्त और दृष्ट अदृष्ट विशेषके आश्रयभूत सामान्यको सिद्ध करेंगे तो उसमे भी शङ्काकारके अभिमतकी सिद्धि नही होती।

अधिकरणसिद्धान्त न्यायसे भी दृष्टादृष्ट विशेषाश्रय सामान्य बुद्धिमन्निमित्तके पक्षकी असिद्धि—अधिकरण सिद्धान्तसे अगर सिद्ध मानते हो तो बतलाओ अधिकरण सिद्धान्तका नाम क्या है ? यही तो कहोगे कि जिस अर्थकी सिद्धि होनेपर अन्य प्रकरणकी सिद्धि हो जाय उसे अधिकरण सिद्धान्त कहते हैं। जैसे द्वणिक आदिककी रचना ईश्वर करता है। सिद्ध तो यह कर रहे हैं और, सर्वज्ञपना अपने आप सिद्ध होता है, ऐसे ही अधिकरण सिद्धान्त मानते हो ना, याने दृष्ट अदृष्ट विशेषका आश्रयभूत सामान्य मात्र बुद्धिमन निमित्तको प्रसिद्ध करना चाहते, तो कुछ लोग दृष्ट विशेषके आश्रयभूत देखे गए हैं। जैसे कुम्हार कुछ कारकोका प्रयोक्ता है, असर्वज्ञ है, निर्बल है, सशरीर है वह कर्ता देखा गया तो इतने मात्रसे ऐसे कर्ताको सिद्ध करना चाह रहे हो कि जो समस्त कारकोका प्रयोक्ता हो, सर्वज्ञ हो, पूर्ण शक्तिमान हो, विभु हो, शरीर रहित हो। तो समाधान दे रहे हैं कि जब समस्त जगतके निर्माणमे समर्थ और समस्त कारकोका प्रयोक्ता सर्वज्ञ विभु अशरीर इन विशेषणोंसे सहित यदि यहाँ कोई एक घटनामें भी सिद्ध हो जाय या एक भी उदाहरण मिल जाय तब आपका दृष्ट और अदृष्ट विशेषोंका अधिकरण महेश्वर द्वारा लोकका करना सिद्ध हो सकेगा, पर यह तो सिद्ध ही न हो सका, क्योंकि जो कुछ अनुमान किया गया है उससे बुद्धिमान कारण सामान्य ही सिद्ध होना। एक हो, सर्वज्ञ हो, समस्त कारको का प्रयोक्ता हो, अशरीर हो ऐसा कारण सिद्ध नहीं हो पाता। अनुमानसे तो अनेक बुद्धिमान कारण हैं और उनके ही द्वारा उनके उपभोगके योग्य शरीरादिक बन गए हैं ऐसा ही निमित्त नैमित्तक सम्बध है यह बात सिद्ध होती है न कि किसी एक सर्वज्ञ महेश्वर द्वारा बना है यह सिद्ध होता है।

वीतराग सर्वज्ञकर्तृकत्व व सरागासर्वज्ञकर्तृकत्व दोनों विकल्पोंमें भी बुद्धिमत्कारणताकी सिद्धिकी असम्भवता—और भी दूषण सुनो ! यहाँ बुद्धिमत् कारण पूर्वक यह लोक है, यह सिद्ध किया जा रहा है, तो बतलाओ कि बुद्धिमान कारणको सर्वज्ञ वीतराग मान रहे हो या सरागी असर्वज्ञ मान रहे हो ? यदि कहो कि वीतराग सर्वज्ञ बुद्धिमानके द्वारा ये शरीर इंद्रिय रचे गए हैं, सब कुछ रचे गए हैं, तो लो घटादिक पदार्थोंके साथ अनैकान्तिक दोष आता है। ये घट पट कुम्हार, जुलाहे, द्वारा रचे गए हैं, वे रचयिता सर्वज्ञ नहीं, वीतराग नहीं, और सर्वज्ञ वीतरागको कर्ता साध्य बनाते हो तो इसका कोई उदाहरण भी नहीं मिलता, और जो भी उदाहरण दोगे वह साध्यसे रहित होगा। याने यह लोक सर्वज्ञ वीतराग बुद्धिमानके द्वारा रचा गया है यह सिद्ध करनेमें कुम्हार, जुलाहा, बढ़ई आदिकके ही तो दृष्टान्त दोगे तो उनमें साध्य नहीं पाया जा रहा। सपक्ष ही क्या बनेगा ? यदि यह कहो कि रागी और असर्वज्ञ द्वारा यह लोक रचा गया, हम यह साध्य बनावेंगे तो इसमें तो शङ्काकार का सिद्धान्त ही खतम हो जाता है और उसमें शङ्काकारकी फिर शङ्कामें कोई दम ही नहीं रहा। रागीद्वेषी अल्पज्ञ एक बुद्धिमानने बनाया है यह तो कुछ मानने योग्य भी बात नहीं रही। हाँ अनेक बुद्धिमानों द्वारा बना है ऐसा स्वीकार करोगे तो सिद्धान्त सही बन बैठेगा कि प्रत्येक प्राणी अपने कर्मके अनुसार शरीर इंद्रिय आदिक समागमों को प्राप्त करते हैं और कर्मके उदयमें यह सब रचना चलती है।

सर्वथा कार्यत्व हेतु व कथंचित्कार्यत्व हेतु दोनों विकल्पोंमें भी शंकाकारके सिद्धान्तकी असिद्धि—और, भी सुनो ! कि बुद्धिमत कारण पूर्वक यह लोक है, कार्यत्व आदिक होनेसे इस अनुमान प्रयोगमें जो कार्यत्व साधन दे रहे हो सो सर्वथा कार्यत्व हेतु कह रहे हो या कथंचित् कार्यत्व हेतु कर रहे हो याने यह पदार्थ सर्व प्रकारसे कार्य है यह मन्तव्य या किसी दृष्टिसे ये सब पदार्थ कार्य हैं यह हेतुका तात्पर्य है यदि कहो कि सर्व प्रकारसे कार्यपना है यह हेतुका तात्पर्य है तो यह साधन तो शरीर आदिकमें असिद्ध है, क्योंकि शरीर कथंचित कार्यरूप है किसीका तो कथंचित् कारणरूप भी है किसीका। ये सभी पदार्थ केवल कार्यमात्र तो नहीं हैं, कार्यरूप भी है और किसीके कारणरूप भी है। जैसे घड़ा कुम्हारके व्यापारका कार्य है तो वह मिट्टी लोधामें कुम्हारके हाथ चलनेका कारण भी तो है। कुम्हारके हाथ तो उस घड़े के आश्रयसे ही चल रहे हैं। किसी भी पदार्थको केवल कार्यरूप नहीं कह सकते तो सर्वथा कार्यरूप तो शरीरादिक नहीं है। वे कथंचित् कारणरूप भी है और यदि कहोगे कि हम कथंचित कार्यपना है ऐसा साधन बना रहे तो यह स्वयं विरोध हो गया, क्यों कि सर्वथा बुद्धिमन्निमित्तक है ऐसा तो बनाया था साध्य और उससे विपरीत बात सिद्ध हो बैठे कि कथंचित् बुद्धिमन्निमित्तक है, तब ये सब पदार्थ कथंचित् कार्यरूप हैं तो उससे यह ही तो सिद्ध हुआ कि यह कथंचित् बुद्धिमन्निमित्तक है। इस कारण

कार्यत्व हेतु द्वारा महेश्वरको सृष्टिकर्तृत्व सिद्ध नही होता ।

शकाकारके एक बुद्धिमन्निमित्तकत्व पक्षकी अनुमानबाधितता—और भी देखिये ! कि आपका पक्ष ही अनुमान बाधित है । बाधक अनुमान प्रयोग यह है कि यह सारा लोक अकृत्रिम है किसीके द्वारा किया गया नही है, क्योकि दृष्टकर्तृक से विलक्षण है याने जिन कार्योंका कर्ता यहाँ देखा जा रहा है उन कार्योंसे विलक्षण है देहादिक । जैसे आकाश । यहाँ महल घडा कपडा आदिक कार्योंका कर्ता कुम्हार, जुलाहा आदिक देखे जा रहे हैं तो उनके द्वारा जो कार्य बने हैं उन कार्योंसे विलक्षण हैं शरीर इन्द्रिय पर्वत, पृथ्वी आदिक, इस कारण अकृत्रिम हैं । जैसे कि आकाश कुम्हार आदिकके कार्यसे विलक्षण है तो यह अकृत्रिम है आकाश ऐसे ही सारा लोक सर्व सत् अकृत्रिम है । वस्तुत कुम्हार आदिकने भी किया क्या ? जिस माटीमे जिन अणुओसे घडा बना वह अकृत्रिम है, वह किसीके द्वारा नहीं बनाया गया है । हाँ, यहाँके अवस्थापरिवर्तनरूप किन्हीं कार्योंमे कोई निमित्त हो जाया करते हैं । तो यह सारा जगत अकृत्रिम है जिनके कर्ता यहाँ देखे गए ऐसे कार्योंसे विलक्षण होनेसे आकाशकी तरह । यह अनुमान भी एक बुद्धिमत्कारणपूर्वकताका बाधक है । इससे यह सिद्ध हुआ कि ये कामादिक वैचित्र्य ईश्वरके द्वारा किए गए नहीं हैं, किंतु कर्मबधको कारणसे ये सब रागादिकरूप भावससार और शरीरादिक पदार्थ उत्पन्न होते हैं ।

शुद्धि व अशुद्धि शक्तिके विभागसे मुक्ति व ससारके प्रतिनियमकी व्यवस्था—अब यहाँ शङ्काकार कहता है कि यदि कर्मबन्धके अनुरूपसे अर्थात् कर्मोदयके कारणसे ससार होता है तब तो फिर किन्हींको मुक्ति हो और किन्हींको ससार हो, यह व्यवस्था नही बन सकती है, क्योकि कर्मबन्ध निमित्त सबके लिए समान है और कर्मबन्ध हो तो उसके उदयमें फिर उसी प्रकारका कामादिक भाव हो । कामादिक भाव होनेपर फिर कर्मबन्ध हो, तो यो कर्मबन्धके निमित्तकी सर्व प्राणियोमे समानता होनेसे यह विभाग न बन सकेगा कि किन्हीं जीवोको मुक्ति हो और किन्हींको ससार हो इस कारणसे यह व्यवस्था ठीक नहीं जचती कि नाना प्रकारके रागद्वेषादिक जीव ससार अथवा इष्ट समागम आदिक कर्मबन्धके कारणसे होते हैं, कर्मोदयसे होते हैं । अब इस शङ्काके समाधानमें कहते हैं कि यह शङ्का यो सही नहीं है कि प्राणियोंमे शुद्धि और अशुद्धिके भेदसे मुक्त और ससारी सम्भव होते हैं । शुद्धि नाम है सम्यग्दर्शन आदिक परिणमन स्वरूप भावका और अशुद्धि कहते हैं मिथ्यादर्शन आदिक परिणाम स्वरूप भावको । तो सम्यग्दर्शन और मिथ्यादर्शन आदिक परिणामोंके भेदसे किन्ही को मुक्ति और किन्हींको ससार सम्भव है । जिनके मिथ्यादर्शन आदिक परिणाम रहते हैं उनको संसार रहता है और जिनको सम्यक्त्वादिक परिणाम हो जाते हैं उनको मुक्ति प्राप्त होती है ।

जीवोंको शाश्वत अशुद्धि स्वभावरूपमे व्यवस्थितताका अभाव—ऐसा नहीं है कि जीव अनादिसे सर्वथा अशुद्ध ही होते हो अर्थात् अशुद्ध स्वभाव वाले ही हों जीवोंका निरन्तर अनादि अनन्त सदाके लिए अशुद्धताका ही स्वभाव हो इस प्रकारसे जीव व्यवस्थित नहीं है स्याद्वादके सिद्धान्तमे यह तो याज्ञीकोके सिद्धान्तमें है कि जीव अशुद्ध स्वभाव वाला ही है, वह कभी शुद्धिको प्राप्त नही हो सकता, तपश्चरण यज्ञादिक क्रियाकाण्डोसे जीवकी अशुद्धि कम हो जाती है, पर जीवका स्वभाव अशुद्ध होनेका ही है ऐसा याज्ञिकोके सिद्धान्तमे माना गया है किन्तु स्याद्वाद शासनमें जीवोंको शाश्वत अशुद्ध नही समझा गया है, क्योंकि कामादिक स्वभावका निराकरण भी हो जाता है। बंधका कारण है कामादिक भाव और कामादिक भावोंसे विपरीत कोई सदाचार ग्रहण करे तो कामादिक भाव दूर होते हैं, बधका कारण भी खतम हो जाता है। तो जब बधका कारण न रहा तब अशुद्धि कायम नहीं रह सकती। इस कारणसे जीवका अशुद्ध होना स्वभाव नहीं है। यदि जीव अशुद्ध स्वभाव वाला मान लिया जाय तब तो किसी समय रंचमात्र भी उदासीनताकी उपलब्धि न हो सकेगी। देखा जाता है कि किन्ही जीवोंको कुछ थोड़ी उदासीनता भी है, वैराग्य है, रागमें तारतम्य देखा जाता है तो इतना भी तारतम्य न हो सकेगा, यदि जीवको शाश्वत अशुद्ध स्वभाव वाला मान लीजिएगा। तो जब जीव शाश्वत अशुद्ध रूपसे व्यवस्थित नही है तब वहाँ मुक्त होना सम्भव है उनमे शुद्धता जगना और पूर्णरूपसे शुद्ध हो जाना यह बात सम्भव है।

जीवोंको शाश्वत सर्वथा शुद्धिरूपसे व्यवस्थितताका अभाव—जीव साख्य सिद्धान्तकी तरह शाश्वत शुद्धरूपसे भी अवस्थित नही है। जैसे कि स्यावादियो ने जीवको अनादि अनन्त शुद्ध ही मा । है, अशुद्धि जो कुछ व्यवहारमे नजर आती है उसे प्रकृतिका धर्म माना है। जो लोग जीवको शाश्वत शुद्ध मानते हैं कि वह सदा काल ही शुद्ध है तो जैसे प्रकृतिका विनाश हो जानेपर मुक्ति प्राप्त होनेपर वहाँ शुद्ध माना है, कामादिक भाव नहीं माना है। तो प्रकृतिके सम्बन्धके समय भी जीवमे कामादिक भाव होनेका विरोध होना चाहिए अर्थात् जब जीव शाश्वत शुद्ध ही है, उसमें अशुद्धिका परिणमन होता ही नहीं है, अशुद्ध होती है प्रकृति, तो जब जीवमे अशुद्धता होती नही है तो प्रकृतिका कितना ही सम्बन्ध बना आये तब भी जीवमें कभी काम रागद्वेषादिककी अशुद्धि न आ सकेगी इस कारण जीव शाश्वत शुद्धरूपसे भी अवस्थित नहीं है।

कामादिक भाव जीवके अशुद्ध परिणमन होनेसे शाश्वत शुद्धिकी असिद्धि—यदि शङ्काकार यह कहे कि काम रागद्वेषादिक जो उत्पन्न हो रहे हैं वे प्रकृतिमें ही उत्पन्न होते हैं, वे प्रकृतिके धर्म हैं, उनसे जीवका कोई सम्बन्ध नहीं है

इस कारण जीव तो शाश्वत शुद्ध ही रह गया, रागादिक परिणमन यदि जीवके होते तब किसी दृष्टिसे कह सकते थे कि जीव शाश्वत शुद्ध नहीं है किन्तु उसमें अशुद्धता है, लेकिन यह अशुद्धता जीवकी है ही नही, प्रकृतिके धर्म हैं, प्रकृतिसे बुद्धि उत्पन्न होती है, बुद्धिसे अहंकार होता है, अहंकारसे फिर सभी दोष जगते हैं, तो यों ये सब दोष प्रकृतिसे ही उत्पन्न होते हैं, प्रकृतिमे ही उत्पन्न होते हैं। प्रकृतिके धर्म होनेके कारण रागादिककी उपलब्धि जीवमे नही मानी गई है, इस शङ्काके समाधानमें कहते हैं कि यदि इस तरह रागादिक परिणमनोंसे जीवका परिणमन न मानकर प्रकृतिमें ही माना जायगा तब तो पुरुषकी कल्पना करना ही व्यर्थ है जीव माननेकी आवश्यकता क्या रही यहाँ, क्योंकि रागद्वेषादिक भावोको प्रकृतिने किया, तो उनका उपभोग भी प्रकृतिमें ही सम्भव हो जायगा। जो कर्ता है सो ही भोक्ता होना है। अन्य कोई तो कामादि विकार करे और दूसरा कोई कामादिकका अनुभवन करे यह बात नहीं बन सकती है। प्रकृति तो रागद्वेष कामादिक विकारोंको उत्पन्न करे और जीव आत्मा उन रागादिक विकारोका अनुभव करे, यह क्यों होना चाहिए? प्रकृतिने किया प्रकृति ही अनुभव करे और वस्तु स्वरूप भी यही है कि जो परिणमन जिसमें होता है उसका अनुभवन उसीमे ही होगा, अन्यमें न हो सकेगा। तो यों प्रकृतिका परिणमन नहीं है रागादिक, किन्तु जीवका परिणमन है। यों जीव शाश्वत शुद्ध न रहो, किन्तु वर्तमानमे अशुद्ध है। कोई यह भी नही कह सकता कि सभी जीव विशुद्धि वाले बने रहे क्या हर्ज है, निरन्तर जीव शुद्ध ही रहा करे, उसमें कौन सी बाधा आती है। यह यो नही कहा जा सकता कि सब देख ही तो रहे हैं आगे कि दुःखी हो रहा, यह जगत यह प्राणी दुखका अनुभव करता है, रागादिक विकारोका अनुभव करता है, चेतनाके बिना रागादिक विकारोका आधार नही बन सकता है। आखिर राग करेगा, कामादिक विकार करेगा कोई तो समझ जिसमें है उसमे ही तो बन सकेगी। तो यो यह भी न कहा जा सकेगा कि सदा विशुद्ध ही जीव रहा करता है, यदि यो मान लिया जायगा तो ससारी ही न रहेगा कोई फिर जगतमे यह जगत ससारित्वसे शून्य हो जायगा।

शुद्धिकी योग्यतासे जीवोंको मुक्ति प्राप्त होनेका अवकाश इस चर्चा का मूल प्रसंग यह है कि शङ्का यह की गई थी कि जब कर्मबन्धके कारणसे कामादिक विचित्र भाव होते हैं तब किस प्रकार मुक्ति और संसार सम्भव हो सकते हैं प्राणियो के कि कोई प्राणी संसारी रहे आये कोई प्राणी मुक्त हो जावे। इस भेदका ऊहापोह पूर्वक वर्णन किया गया है तब इसका सिद्धान्त क्या व्यवस्थित होता है सो अब बताते हैं। इस ही कारिकामे बताया गया था कि शुद्धि और अशुद्धिसे ससार और मुक्तिकी व्यवस्था बनती है क्योकि जीव शुद्धि और अशुद्धिके भावसे दो प्रकारकी प्रकृतिके हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि जो शुद्धिके पात्र हैं उन आत्माओको तो मुक्ति होती है

और जो अशुद्धिके योग्य हैं उन जीवोंका संसार होता है। यों किन्हीं जीवोंकी मुक्ति अपने कालकी लब्धिपर प्राप्त होती है, इस प्रसंगमे यह शङ्का की जा सकती है कि जो जीव शुद्धिके पात्र हैं उनकी शुद्धि शाश्वत क्यों न मान ली जाय ? जो भव्य जीव हैं वे अनादि अनन्त शुद्ध ही क्यों न मान लिए जायें ? उसका समाधान इस काललब्धिके संकेतसे हो जाता है। जब उन जीवोंको क्षयोपशमलब्धि विशुद्ध लब्धि, देशनालब्धि, प्रायोग्यलब्धि व करणलब्धि प्राप्त होती है, जिस समय ये लब्धियाँ प्राप्त होती हैं वही उसके सम्यक्त्वकी काललब्धि है, उस समय जीवको सम्यक्त्व उत्पन्न होता है। जब जीवको चारित्रके योग्य कारणोंकी प्राप्ति होती है उस समयमे चारित्रकी शुद्धि होती है, और जब समस्त कर्मोंका अभाव हो जाता है तब साक्षात् मुक्ति प्राप्त होती है। इस प्रकरणमे यह बताया गया था कि जो भाग्य पुण्य और पापके रूपमे दो भागो मे बंटा हुआ है वह भाग्य बनता कैसे है ? बताया गया था कि कर्मबन्धके कारणसे दैव कामादिक भाव बनते हैं और कामादिक भावोंसे फिर दैव बनता है तो वहाँ यह प्रश्न हुआ था कि फिर मुक्ति कैसे सम्भव होगी ? कर्मोदय आये, रागादिक भाव हुए। रागादिक भाव हुए कि कर्मबन्ध हुए। अब यह धारा चलती ही रहेगी, तो मुक्तिका अवकास कैसे है ? समाधानमें संक्षेपरूपमे यह बताया गया है कि जो जीव निकटभव्य हैं, जिनका सम्यग्दर्शन आदिक परिणाम सम्भव हैं ऐसे जीवोंको सम्यग्दर्शन आदिक परिणाम होनेपर मोक्षमार्ग मिलता है और मुक्ति प्राप्त होती है।

हीनानुभागवाले कर्मनिषेकोंके उदय समय विशुद्धलब्धके सभव होनेसे शुद्धिपात्र जीवोंको मोक्षमार्गके लाभका अवकाश—यहाँ यह भी प्रश्न किया जा सकता है कि ऐसा जीव अनादिसे तो शुद्ध है नहीं, है तो अशुद्ध ही, और कर्मबंधका कारण चला आ रहा है तो यह भी मौका कैसे मिलेगा कि उनको सम्यक्त्व प्राप्त हो जायगा ? इसके समाधानमे इतना समझ लेना चाहिए कि कर्मबन्ध जब होता है उस समय कषायके अनुसार उन कर्मोंमे उत्कृष्ट स्थिति तक सर्व विभाग बन जाते हैं कि इतने परमाणु इतने समय उदयमे आयेंगे, वे परमाणु इस अनुभागवाले होंगे। उत्तरोत्तर समयोंमे परमाणुओंकी संख्या कम होती है और अनुभाग शक्ति अधिक होती है, और यों ही प्रतिसमय बन्ध होता रहता है और एक समयमे बंधे हुए कर्मोंकी प्रकृति प्रदेश स्थिति अनुभागका विभाग कोडी कोडी सागरो पर्यन्तकी स्थितिमें प्रतिसमयके लिए हो जाता है, तब एक समयमें जो कर्म उदयमे आ रहे हैं वे किसी एक बारमें बन्धके समयके ही कर्म उदयमें नहीं है, किन्तु अनगिनते भव और असख्याते समयोंके बंधे हुए कर्मोंका जितना जो कुछ विभागमे आया है वह सब एकत्रित उदयमे आया करता है। वह एकत्रित कर्म समूह किसी समय हीन अनुभाग वाला भी हो जाया करता है। तो ऐसी स्थितिमे जब कभी कर्मोंका ऐसा क्षयोपशम प्राप्त हो कि इसमे कुछ तत्त्व विचारकी शक्ति प्रकट हुई है तो बस क्षयोपशमलब्धि से प्राप्त हुई

और उस समय कुछ विशुद्धि जगी, उस विशुद्धिके जगनेपर फिर कोई तत्त्व विचार दृढ़ होने लगा उसका सिलसिला बनेगा कि अब इस चिन्तनकी कर्मक्षीणता आदिककी वृद्धि होती रहे और सम्यक्त्व आदिक परिणामोंमें वृद्धि बनती रहे, यों मोक्षमार्ग और मुक्ति सम्भव होती है। इस तरह यह बात निर्विवाद सिद्ध हो गयी कि शुद्धि और अशुद्धिके भेदसे जीवोंको मुक्ति और संसारकी स्थिति सम्भव है। यहाँ यह प्रश्न होता है कि वह शुद्धि और अशुद्धि जीवोंकी कहलाती क्या है जिसके भेदसे मुक्ति और संसारकी व्यवस्था बनती है? अब इस शुद्धि और अशुद्धिको बतला रहे हैं।

शुद्ध्यशुद्धी पुनः शक्ती ते पाक्यापाक्यशक्तिवत् ।
साद्यनादी तयोर्व्यक्ती स्वभावोऽतर्कगोचरः ॥ १०० ॥

शुद्धिशक्ति व अशुद्धिशक्तिका विवरण—शुद्धि और अशुद्धि ये दो प्रकार की शक्तियाँ होती है और ये शक्तियाँ पाक्य अपाक्य शक्तियोंकी तरह हैं। जैसे मूंगके कोई दाने कुडकू होते हैं जो कि कितना ही सिझाये जायें, पर सीझ नहीं सकते यानें कभी वे पक नहीं सकते। तो उन दानोंमें पकनेकी शक्ति नहीं है, चाहे दिनभर कितने ही गर्म पानीमें उसे उबाला जाय फिर भी वह पक नहीं सकती। कंकड़की भाँति वह अपनी वैसी ही प्रकृति रखेगी और अनेक मूंगके दाने आध घण्टे पकानेपर ही पक जाते हैं। तो जैसे उन मूंगके दानोंमें कुछ पाच्य शक्ति रखने वाले दाने हैं और कुछ अपाच्य शक्ति रखने वाले दाने हैं तब जैसे उनमें सीझ जाना और कभी न सीझ सकना ये दो भेद सम्भव हैं, इसी प्रकार जीवोंमें कुछ तो भव्य स्वभाव वाले जीव हैं और कुछ अभव्य स्वभाव वाले जीव हैं। जिनको सम्यग्दर्शन आदिक प्राप्त हो सकते हैं वे शुद्ध शक्ति वाले जीव हैं और जिनको कभी भी सम्यग्दर्शन आदिक प्राप्त नहीं हो सकते हैं वे अशुद्ध शक्ति वाले जीव हैं। तो यों शक्तियाँ दो तरहकी हुईं—शुद्धशक्ति और अशुद्धशक्ति।

शुद्ध शक्ति व अशुद्ध शक्तिकी व्यक्तिका काल—शुद्ध व अशुद्ध शक्तियोंकी व्यक्ति सादि अनादि है अर्थात् जीवमें अशुद्ध परिणतिकी धारा अनादिसे है, किंतु शुद्ध किसी समय होती है अथवा अशुद्धकी शक्ति तो सदैव अशुद्ध ही रहती है, उसकी व्यक्ति अनादि अनन्त है और शुद्ध शक्तिकी व्यक्ति किसी समय काल लब्धि आनेपर विशुद्ध होती है तो उसकी व्यक्तिकी आदि है। संसारमें जीव सभी अनादिसे अशुद्ध हैं। अशुद्ध हैं जीव, मगर अशुद्ध स्वभाव वाले नहीं हैं। अशुद्धिकी परिणति है और वह है कर्मोदयके कारण। और, ये कर्म, ये कामादिक भाव इनकी धारा अनादिसे है। तो यों अनादिसे ही जीव अशुद्ध परिणत होते चले आये हैं, लेकिन स्वभाव उनका अशुद्ध नहीं है। उन जीवोंमेंसे जिनमें शुद्ध शक्ति मौजूद है वे जीव कारण पाकर शुद्ध हो जाते हैं। जितने भी सिद्ध हैं अब तक वे सब पहिले कभी अशुद्ध थे,

किन्तु काललब्धि पाकर वे मुक्त हुए हैं तो उनकी मुक्तिकी आदि है, किन्तु जो अभव्य जीव हैं, जिनमे अशक्तिकी शक्ति है वे अनादिसे अशुद्ध तो सबकी भांति परिणत होते ही आ रहे हैं लेकिन ये कभी शुद्ध हो भी न सकेंगे, अनन्त काल तक ये अशुद्ध ही रहेंगे। तो यों शुद्धिकी व्यक्ति सादि है और अशुद्धिकी व्यक्ति अनादि अनन्त है।

भावस्वभावसे हुए भव्यत्व अभव्यत्व भावके विभागकी तर्कागोचरता—जीवोमे शुद्धि और अशुद्धिकी शक्तियोका क्यो यह भेद है ? क्यो ही कोई जीव भव्य है और कोई अभव्य है ? इस प्रकारका परिणमन तर्कसे बाहर है अर्थात् स्वभावमे तर्क न किया जाना चाहिये। जैसे यहाँ ही बहुतसे पदार्थ जिस स्वरूप वाले हैं वहाँ तर्क नही बनता। जैसे नीम कडवा ही क्यो है ? ऊटको नीमपत्र खानेकी रुचि क्यो जगती हैं ? तो जैसे यहाँ कितनी ही बातोमें तर्क नही चलता उसी प्रकार प्रत्येक पदार्थकी प्रकृतिमे तर्क नहीं किया जा सकता। कोई यों ही कहने लगे कि जीवका स्वभाव चेतन क्यो है ? जिसका जो स्वभाव है वह स्वत है, उसमे तर्कका अवकाश नही है। शुद्धिका अर्थ है जीवोका भव्यत्वभाव। किन्ही जीवोका सम्यग्दर्शन आदिक का योग हो सकना है, इस युक्ति द्वारा किन्ही जीवोका भव्यपना निश्चित किया जाता है। इसी प्रकार किन्ही जीवोमे सम्यग्दर्शन आदिकसे विपरीत भाव है अर्थात् मिथ्यात्व आदिकका योग है, उससे अशुद्ध अर्थात् जीवोका अभव्य ना निश्चित् किया जाता है। चू कि अभव्यपना अर्थात् मिथ्यात्व आदिकका योग किसीके सर्वदा भी प्रवर्तमान रहता है अथवा खुद यहाँ चल ही रहा है। तो यो छद्मस्थोंके द्वारा यह अभव्यत्व भाव जाना जाता है अथवा भव्यत्वभाव व अभव्यत्वभावको छद्मस्थ तो अनुमानत जानता है और अतीन्द्रियदर्शी अर्थात् सर्वज्ञदेव उसे प्रत्यक्षसे जानते हैं। इस तरह भव्य स्वभाव और अभव्य स्वभाव इनका ही नाम शुद्धि और अशुद्धि है और यही जीवोका सामर्थ्य असामर्थ्य है। इसीको शक्ति और अशक्ति कहते हैं। जो जीव सम्यक्त्व आदिक परिणामके पात्र हैं वे भव्य हैं तथा जो जीव सम्यक्त्वादिक परिणामके पात्र नहीं हैं वे अभव्य है। ये दो प्रकारकी शक्तियाँ इन जीवोमे सम्भव हैं। जैसे दाल आदिकमे पाक्य और अपाक्यकी शक्तियाँ सम्भव है। यह दृष्टान्त तो प्रत्यक्षसिद्ध हैं—सभी लोग जानते हैं कि जो कुडकू मूङ्गका दाना है उसे कितने ही में पानीमें कितना ही पकाया जाय पर वह नही पकता। इसी प्रकार जो जीव कितने ही धर्मके समागम वाले नही बन सकते, उन्हे अभव्य कहते है और जो सम्यक्त्व परिणामके योग्य हैं उन्हें भव्य कहते हैं।

जीवमे शुद्धि और अशुद्धिके विकसके समयका निर्णयन—अब शुद्धि और अशुद्धिका विकास कबसे है इस विषयका वर्णन कर रहे हैं। शुद्धकी व्यक्ति सादि हैं। जीवोंमें जो शुद्धि प्रकट हुई है मिथ्यात्व आदिक परिणामसे रहित होकर शद्ध

सम्यक्त्व सम्यन्तत्व हुआ है तो यह स्थिति उनकी किसी समयसे हुई है। ऐसा नहीं है कि जीवोकी शुद्धि अनादिसे पायी जाती हो। क्योकि शुद्धिको प्रकट करने वाले सम्यग् दर्शन आदिक परिणाम सादि हैं, ये किसी दिनसे ही आविर्भूत हुए हैं अत जीवोकी शुद्धि सादि ही समझो, कोई भी जीव चाहे वह कभी भी शुद्ध हुआ, तो उसकी शुद्ध सादि है और फिर भी ऐसा समय नही है कि जिस समय किसीको मुक्ति ही न थी। संसार अनादि है, मुक्ति भी अनादि है इतनेपर भी मुक्ति व्यक्तिश सबकी सादि ही मानी गई है। व्यक्तिश प्रत्येक मुक्त जीव पहिले अशुद्ध थे और उपायपूर्वक शुद्ध हुए हैं। शुद्धि अनादि नहीं है सादि है, क्योकि शुद्धिके अभिव्यञ्जक सम्यग्दर्शन परिणाम सादि हुआ करते हैं, इस कथनसे यह बात स्वय निराकृत हो जाती है कि सदाशिवकी शुद्धि अनादि है। एक सिद्धान्तानुसार सदाशिव, महेश्वर, स्थाणु जिस एकको समस्त विश्वका सृष्टिकर्ता कहते हैं वह सदाशिव अनादि माना गया है। यह मन्तव्य सगत नहीं है, उसकी शुद्धि अनादि नहीं है, क्योकि शुद्धिकी अनादितामें कोई प्रमाण नही है। जीव अशुद्ध ही अनादिसे हैं क्योकि शरीरादिकके द्वारा परतन्त्रता देखी जा रही है, तो इस समय भी अनेक (सभी) जीव वहाँ अशुद्ध नजर आ रहे हैं। इससे सिद्ध है कि यह परतन्त्रता उनकी अनादिसे है। यदि शुद्धि होती पहिले तो यह परतन्त्रता आ न सकती थी। तो प्रत्यक्षसे जीवोकी अशुद्धिता जानी जा रही है और अनुमानसे भी जानी जा रही है। जीव अशुद्ध न होते तो शरीरादिकसे परतन्त्रता इनमे न आती और आगम प्रमाणसे भी जाना जाता है। अब यहाँ किसी शिवरूपको, महेश्वररूपको शुद्धरूप अनादिसे मानना यह प्रमाणसे सम्भव नही है।

चेतनमे शुद्धिके अनादित्वकी असम्भवता—अशुद्धिताके अनन्तर शुद्धि होनेपर शुद्धिकी सादिता प्रमाणगोचर हो ही जाती है। तो यो किसीकी शुद्धि अनादि से हो इसमे कोई प्रमाण नही, दूसरे जो देखा जा रहा है प्रत्यक्षसे उसका भी उल्लघन हो जायगा। देखा जा रहा है कि यह जीव अशुद्ध है और यह अशुद्धि सादि नहीं हो सकती, क्योकि पहिले जीव यदि शुद्ध था तो फिर क्या कारण है कि जीवमें अशुद्धि लग जाय? तो इस दृष्टका अतिक्रम न किया जा सकनेसे भी यह सिद्ध होता है कि जीवोकी शुद्धि अनादि नहीं है शिवकी शुद्धिकी व्यक्ति सादि है, क्योकि विशुद्ध पर्याय होनेसे अन्य जीवोकी तरह। जैसे जो जीव मुक्त होते हैं उनकी शुद्ध पर्याय सादि है तो किसी भी जीवमें भी शुद्ध पर्याय है तो वह सादि होनी चाहिए। शुद्धि माननेसे ही यह सिद्ध हो जाता है कि वह शुद्धि सादि है। अशुद्धि शक्ति और शुद्धि शक्ति ये दोनो जीवमें अनादि है। सामान्यतया केवल अशुद्ध पर्यायको ही देखा जाय तो उस पर्यायकी सतति अनादि है, किन्तु भव्य जीवकी अशुद्धता तो मिट सकती है, अभव्यकी नही मिट सकती। तो अभव्यकी अशुद्धि अनादि और अनन्त है, पर यहाँ अनादिताकी बात कह रहे हैं कि अशुद्धिका अभिव्यञ्जन करने वाले मिथ्यादर्शन आदिक परिणामोकी सतति

अनादिसे न हो तो किसी भी समय मिथ्यात्व परिणाम आ नहीं सकता है। न था मिथ्यात्व तो इसका अर्थ होगा कि सम्यक्त्व आदिक शुद्ध परिणाम थे। तो ऐसे शुद्ध परिणाम तो विभावके कारणभूत नहीं हुआ करते, तो कभी भी मिथ्यात्व नहीं टिक सकता, किन्तु मिथ्यात्व आदिक अशुद्धि परिणाम स्पष्ट बुद्धिगोचर हो रहे हैं अतएव मानना होगा कि अशुद्धिकी व्यक्ति जीवमें अनादिसे है।

शक्तिकी सादिता व अनादिताका अपेक्षासे कथन—शङ्काकार यहाँ कहता है कि शक्तिको पर्यायकी अपेक्षा भी अनादि मान लिया जाय तो इसमें कौन सी हानि है? जैसे शक्तिको अनादि मान रहे हैं, अब पर्यायसे भी शक्तिको अनादि मान लो। जो दो प्रकारकी शक्तियाँ बतायी गई शुद्धि और अशुद्धि और उनकी व्यक्तियोंमें यह भेद डाला जा रहा कि शुद्धिकी व्यक्ति तो सादि है और अशुद्धिकी व्यक्ति अनादि है तो इन शक्तियोंको परिणमनकी अपेक्षासे भी अनादि मानो। इस शङ्काके समाधानमें कहते हैं कि शुद्धि और अशुद्धि शक्तिको द्रव्यकी अपेक्षा ही अनादि सिद्ध किया जा सकता है पर्याय अपेक्षासे नहीं, क्योंकि पर्याय परिणमन है हुआ और प्रति परिणमन पहिले नहीं होता। अशुद्धिकी धारा अनादिसे है, पर अशुद्धि परिणमन भी जो एक समयका परिणाम है वह पहिले और पश्चात् नहीं होता, व्यक्तियोंकी बात तो अनादि कह ही नहीं सकते हैं। तो शक्तिको द्रव्य अपेक्षासे ही अनादि कहा जा सकेगा। इस तरह शुद्धि और अशुद्धि दोनों प्रकारकी अपेक्षायें सादि हैं। अशुद्धि भी तो प्रत्येक उत्पन्न हुई अतएव प्रत्येक अशुद्धि भी सादि है। हाँ अशुद्धिकी धारा सादि नहीं है और शुद्धि शक्तिका भी प्रादुर्भाव किसी समय हुआ है अतएव शुद्धिका प्रादुर्भाव सादि है। इस तरह सिद्ध होता है कि शक्ति कथंचित् सादि है और कथंचित् अनादि है। शक्ति द्रव्यरूपसे अनादि है और पर्यायरूपसे सादि है। प्रत्येक शक्तिका परिणमन किसी समय ही तो होता है इस कारण प्रत्येक परिणमनको सादि कहा जायगा। इस तरह शक्ति के सम्बन्धमें स्वयं अनेकान्तसे अनादि है व कथंचित् सिद्ध होता है कि शक्ति कथञ्चित् सादि है अर्थात् द्रव्यरूपसे अनादि है और कथंचित् सादि है अर्थात् पर्यायरूपसे उसकी आदि है अथवा शक्ति उत्पत्तिकी अपेक्षासे सादि है।

शुद्धि और अशुद्धिके निर्देशमें समय और निमित्तका संकेत—यहाँ शुद्धिका अर्थ और अशुद्धिका अर्थ ही यह सिद्ध करता है कि वहाँ अभिप्राय नाना हैं। किसीका शुद्ध आशय है किसीका अशुद्ध आशय है। अब अपने निमित्तके सन्निधानमें सम्यग्दर्शन आदिक परिणामरूप अभिप्राय हो उसका नाम शुद्धि है और मिथ्यादर्शन आदिक परिणाम हो उसका नाम अशुद्धि है। सम्यग्दर्शनका घात करनेवाली ७ प्रकृतियाँ हैं—अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ, मिथ्यात्व, सम्यक्प्रकृति। इन ७ प्रकृतियोंका उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम हो, यह तो सम्यक्त्वकी उत्पत्तिका

निमित्त कारण है और शास्त्रोंका अभ्यास, आचार्योंका उपदेश अथवा जाति-स्मरण, वेदनानुभव, प्रभुदर्शन आदिक बाह्य कारण है। ये आश्रयभूत कारण हैं। तो अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग कारणोंका सन्निधान होनेपर जीवमें जो सम्यक्त्व आदिक परिणमन होता है उसको शुद्धि कहते हैं और मिथ्यात्वनामक दर्शन-मोहनीय प्रकृतिके उदयमें जो मिथ्यात्वरूप परिणाम होता है उसको अशुद्धि कहते हैं। अथवा समझिये कि शुद्धि तो दोष और आवरणकी हानिरूप है और अशुद्धि दोष और आवरणकी प्रकर्षतारूप है। इस तरह जीवोंमें शुद्धि और अशुद्धि शक्तिका भेद पड़ा हुआ है। भव्य और अभव्यमेंसे भव्यमें ही शुद्ध शक्तिका अभ्युदय होता है। सम्यग्दर्शन आदि की उत्पत्तिसे पहिले उस भव्य जीवमें जो अशुद्धि है वह अनादि है, पर वहाँ जो शुद्धि प्रकट होगी उसकी आदि है, इस कारणसे भव्य जीवकी शुद्धिको सादि कहते हैं। सामान्यतया शुद्धि और अशुद्धि दोनों ही भव्य जीवमें पाई जाती हैं। पहिले अशुद्धि पश्चात सम्यक्त्व परिणाम होनेके कारण शुद्धि। पर अभव्य जीवमें अनादिसे भी अशुद्धि है और अनन्तकाल तक भी अशुद्धि है। यद्यपि अनेक (अनन्त) भव्य जीव ऐसे हैं जो कभी भी सम्यक्त्व परिणामको न प्राप्त कर सकेंगे। फिर भी प्रकृतिका ऐसा भेद है कि उन भव्य जीवोंमें भी शुद्धिकी पात्रता कही जाती है। यद्यपि इस शुद्धिकी व्यक्ति कभी भी नहीं होनेकी, फिर भी जैसे किसी शीलवती विधवाके पुत्रप्रसव कभी न होगा लेकिन उसके पुत्रप्रसव करनेकी पात्रता कही जाती है। ऐसे ही जो दूरातिदूर हैं वे कभी भी सम्यक्त्व और मुक्ति न पा सकेंगे, फिर भी शक्तिकी अपेक्षा उन्हें भव्य कहा गया है। यहाँ भव्य अभव्यका और शुद्धि अशुद्धि का विवरण इसलिये किया जा रहा है कि कोई यह न जाने कि कर्मबन्धके कारण, अब कामादिक भाव संसार हुआ ही करता है और कामादिक भाव संसारके कारण जीवोंमें कर्मबन्ध होता है तो फिर कभी भी जीवोंकी मुक्ति न हो सकेगी। ऐसा संदेह न रहे इसके लिए शुद्धि और अशुद्धि आदिक शक्तियोंका विवरण किया है। जो पुरुष सम्यक्त्व आदिक परिणामके आविर्भावके पात्र हैं उन्हें भव्य कहते हैं और जो सम्यक्त्व परिणामके आविर्भावके पात्र नहीं हैं उन्हें अभव्य कहते हैं।

शुद्धि और अशुद्धिकी व्यक्तिमें कारणोंका निर्देशन – भव्य और अभव्यके विभागमें भीतरी पात्रता बताई है पर निमित्तपनेकी बात यह है कि मिथ्यात्व प्रकृतिका उदय सन्निधान होनेपर जीवोंमें मिथ्यात्व भावका विकार चलता है और सम्यक्त्व घातक ७ प्रकृतियोंका उपशम, क्षय क्षयोपशम होनेपर जीवोंमें सम्यक्त्व परिणामकी उत्पत्ति होती है। किसी भी कार्यके होनेमें दो कारणोंकी आवश्यकता होती है उपादान कारण और निमित्त कारण। उपादान कारण तो वह है जो स्वयं परिणमन कर रहा है और निमित्त कारण वह है कि जिसका सद्भाव होनेपर विशिष्ट कार्य बने और जिसका अभाव होनेपर वह विशिष्ट कार्य न बने ऐसे अन्य पदार्थको निमित्त

कारण कहते हैं, परन्तु जीवमें विकार परिणमन कार्य होनेके प्रसंगमें तीन कारण विचारे जाते हैं उपादान कारण, निमित्त कारण और आश्रयभूत कारण, क्योंकि जीव उपयोग स्वरूप है और उपयोग स्वरूप होनेके कारण यह अपनेमें किसी न किसी पदार्थ को विचारे रहता है और उस आश्रयभूत पदार्थके विचारके समय इसमें प्रभाव भी बनता है। तो जब जीव ऐसी स्थिति प्राप्त करता है कि ७ प्रकृतियोंका उपशम हो, क्षय हो, क्षयोपशम हो, ये तो है बाह्य निमित्त कारण और उस समय इस जीवका जहाँ भी उपयोग जा रहा हो समवशरणमें अथवा तत्त्वचिंतनमें जिस किसी भी विषय में उपयोग जाता हो तो वह उपाय बनता है आश्रयभूत कारण। तो यों अन्तरङ्ग निमित्त कारण पाकर बाह्य आश्रयभूका आलम्बन करते हुए यह जीव अपनेमें सम्यक्त्व परिणामको व्यक्त करता है, यों सम्यक्त्व सादि है और सम्यक्त्वके पश्चात् जो चारित्र विशेषता आती है वह चारित्र भी सादि है। यद्यपि सम्यक्त्व परिणाम बिना जीव को मुक्ति नहीं होती इस कारण वह मोक्ष मार्ग है, पर सम्यक्त्व होनेपर भी चारित्रकी पूर्णता बिना मुक्ति नहीं होती, इस कारण सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की एकताको मुक्तिका मार्ग कहते हैं।

तथा स्वभावसे जीवोंमें शुद्धि अशुद्धि शक्तिको प्रतिनियम—यहाँ यह जिज्ञासा होती है कि जीवोंमें शुद्धि और अशुद्धिकी शक्तिका नियम कैसे बन गया है? जब जीव जातिकी अपेक्षा सभी जीव समान हैं तब उनमें कोई जीव शुद्ध शक्ति वाले हैं कोई अशुद्ध शक्ति वाले हैं ऐसा प्रतिनियम किस कारणसे बनाया गया है? समाधानमें यहाँ यह जानना चाहिये कि उस ही प्रकारका उनका स्वभाव है। अशुद्धता अनादिसे ही है क्योंकि सादि माननेपर उससे पहिले शुद्धि सिद्ध हो जायगी कि जीव शुद्ध था, किन्तु जीवोंमें पहिलेसे शुद्धि नहीं होती है। यदि पहिलेसे जीवोंमें शुद्धि स्वीकार कर ली जाय तो फिर कभी उन जीवोंमें बन्ध सम्भव नहीं हो सकता। और बन्ध नहीं है यह कह नहीं सकते। प्रत्यक्षसे ही बंधके काम जैसे शरीरादिकके परतंत्र रहना ये सब बातें स्पष्ट दिख रही हैं और बन्ध चूंकि अशुद्धि दशामें ही होता है अतएव जीवोंकी अशुद्धि अनादिसे है, शुद्धि तो प्रयोगसे उत्पन्न होती है, तत्त्वचिन्तन स्वानुभव आदिक भीतरी प्रयोगसे शुद्धता प्रकट होती है, ऐसी शुद्धि सादि है। जैसे कि स्वर्ण पाषाणमेंसे स्वर्ण निकाला जाता है तो जो स्वर्ण निकला है वह बिल्कुल शुद्ध है उसकी आदि है, पर स्वर्णपाषाणमें वही स्वर्ण अशुद्धरूपसे रह रहा है तो स्वर्णपाषाणमें यह अशुद्धि कबसे है? इसकी आदि नहीं है कि पहिले शुद्धि हो पश्चात् अशुद्धि आयी हो। जैसे स्वर्णपाषाणमें स्वर्णकी शुद्धि अनादिसे है और उसकी शुद्धि सादि है इसी प्रकार से जीवमें अशुद्धि तो अनादिसे है और शुद्धि सादि है। अब रही शक्तिकी बात तो शुद्धिकी शक्ति ज[illegible] प्राप्त है और किसीमें अशुद्धिकी शक्ति है और इस प्रकारको शुद्धि और अशुद्धिकी शक्ति उनको प्राप्त होना उनके स्वभावसे है स्वभावमें तर्क नहीं

चलता है। स्वभाव तर्कगोचर नहीं हुआ करता और न स्वभावमे प्रश्न चलता है कि इस प्रकारका स्वभाव क्यो हुआ ?

अनुमानादिसे प्रतीत पदार्थकी शक्तिके सम्बन्धमें भी स्वभावके समाधानकी सङ्गतता—शङ्काकार कहता है कि प्रत्यक्षमे जो पदार्थ प्रतीत हो रहा हो उसमे तो उत्तर स्वभाव वाला लग सकता है। जैसे नीम कडवा है प्रत्यक्षमे जाना जारहा है, यहाँ कोई प्रश्न करे कि नीम कडवा क्यो है ? तो उसमे स्वभावकी बात कही जा सकती कि इसका ऐसा ही स्वभाव है, किंतु जो पदार्थ प्रत्यक्ष नहीं है अप्रत्यक्ष है उसके स्वभावके सम्बन्धमे प्रश्न बराबर किया जा सकता है। वहाँ यह नही कहा जा सकता कि स्वभाव ही ऐसा है, इसमे प्रश्न नहीं होता यदि परोक्षभूत पदार्थ मे भी स्वभावका ही उत्तर दिया जायगा तो इसमे बड़े प्रसङ्ग होंगे, बडी आपत्तियाँ आयेंगी। कोई भी पुरुष किसी भी पदार्थको जो प्रत्यक्ष नही है, मनगढ़त वर्णन कुछ भी कह डाले, यदि वहाँ कोई प्रश्न करे कि ऐसा क्यों है ? तो उत्तर दिया जायगा कि स्वभाव ही ऐसा है। परोक्ष बातें मनगढ़त कुछमे कुछ कही जा सकती हैं। और, प्रश्न न करनेके लिए जबान बन्द करनेकी बात रखी जा सकती है। समाधानमें कहते हैं कि ये शङ्कायें युक्त नही हैं क्योंकि अनुमान आदिक प्रमाणोंसे भी जो वस्तु प्रतीति मे आती है उसमें भी भाव स्वभावका उत्तर देनेमे कोई विरोध नहीं आता। कारण यह है कि प्रत्यक्षकी तरह अनुमान आदिक भी प्रमाण माने गए हैं। जैसे प्रत्यक्षसे जो पदार्थ जाना जा रहा है उसकी बातको हम स्वभाव कह देंगे। जैसे नीम कडवी क्यो? तो उत्तर दिया जायगा कि स्वभाव ही ऐसा है, तो जैसे प्रत्यक्षसे जाने गये पदार्थमें प्रश्न होनेपर हम स्वभावका उत्तर दे सकते हैं इसी तरह अनुमान आदिक प्रमाणोंसे भी जो पदार्थ समझा जा रहा है उसमें भी हम प्रश्न होनेपर यह उत्तर दे सकते हैं कि ऐसा ही उनके होनेका स्वभाव है। जीव जातिमे सभी जीव आ गए और जीवत्व की दृष्टिसे एक समान हैं फिर भी उन जीवोंमे कुछ जीव तो भव्य स्वभाव वाले हैं, कुछ जीव अभव्य स्वभाव वाले हैं अर्थात् कुछ शुद्धि शक्ति वाले हैं कि जिनकी शुद्धि होनेकी शक्ति है, कुछ अशुद्धि शक्ति वाले हैं। जो मिथ्यादर्शन परिणाममे ही सदा परिणत रहा करेंगे उनमे ऐसे अशुद्ध परिणमनकी ही शक्ति है। तो वहाँ जब यह प्रश्न किया जाता कि आखिर ऐसे अलग विभाग क्यों बन गए ? किन्हीं जीवोंमे शुद्ध शक्ति पायी जाती है किन्ही जीवोंमे अशुद्धि शक्ति पायी जाती है, यह नियम कैसे बन गया ? तो इसका उत्तर है कि ऐसा ही जीवोका स्वभाव है। यद्यपि यह जीव प्रत्यक्षमे दृष्टिगोचर नहीं हो रहा है लेकिन अनुमानसे और अपने स्वसम्वेदनसे उन सबका विज्ञान हो जाता है और भी सुनिये युक्तियोंसे भी ये सब बातें जानी जाती हैं कि हाँ दो प्रकारके जीव हो सकते हैं कि जिनमे किन्हींमे शुद्ध शक्ति है और किन्हींमें अशुद्ध शक्ति है। जैसे कि कुरडू मूंगके दानोमे जो कि कितने ही दिनों तक उबाले

जायें फिर भी सीझते नहीं हैं, उनमें ऐसी स्वभाव शक्ति क्यों आयी? तो उत्तर है कि उस दानेका ऐसा ही स्वभाव है, बाकी अनेक मूंगके दाने बराबर सीझ जाते हैं। उनमें सीझनेकी शक्तिका स्वभाव है। तो ऐसे ही जिन जीवोंसे मिथ्यादर्शन आदिक परिणामोंसे परिणत रहनेकी शक्ति है, शुद्धिकी शक्ति नहीं है उन जीवोंका संसार ही बना रहता है, और जिनके शुद्धिकी शक्ति है और काललब्धि पानेपर शुद्धिका विकास होता है उनकी मुक्ति हो जाती है। इस प्रसगमे मूल प्रश्न यह किया गया था कि कर्मोदयके कारण जब रागद्वेष भाव होते हैं और रागद्वेष भाव होनेके कारण कर्मबन्ध होता है तो कर्मकी निमित्तता तो सब जीवोंके समान है। फिर कोई जीव मुक्त हो जायें, किन्हींका संसार रहे यह कैसे सम्भव है? उसके उत्तरमे यहाँ शुद्धि शक्ति और अशुद्धि शक्तिके भेदका विभाग किया जा रहा है। इस प्रसगमे यह सिद्ध हो गया कि अनुमान और आगमसे भी जिस पदार्थका निश्चय हुआ हो उसमे भी स्वभावका विरोध नहीं हुआ करता। जैसे शङ्काकारने यह शङ्का रखी थी कि जो पदार्थ प्रत्यक्षसे जाना जा रहा है उसकी किसी बातके लिये यह उत्तर दिया जासकता है कि इसका ऐसा ही स्वभाव है, किंतु जो पदार्थ प्रत्यक्षसे नहीं समझा जा रहा है, परोक्ष है, उसमे कैसे स्वभावका उत्तर घटित होगा? तो उक्त प्रसङ्गमें यह सिद्ध कर दिया गया कि प्रत्यक्षसे जाने गए पदार्थमें जिस तरह हम स्वभावका उत्तर दे सकते हैं—नीम कड़वा क्यों? उसका ऐसा ही स्वभाव है आदिक रूपसे प्रत्यक्षसे जाने गए पदार्थमे हम स्वभावका उत्तर देते हैं इसी प्रकार अनुमान और आगम प्रमाणसे जिस पदार्थका निर्णय किया गया हो उसमें भी हम स्वभावका उत्तर दे सकते हैं। तब यो परमागमसे जीवोंके दो प्रकारके स्वभाव बराबर प्रतीतिमे आरहे हैं आगम अप्रमाण नहीं है, क्योंकि वह वीतराग सर्वज्ञदेवके निकटसे प्राप्त हुआ है, तो जिसमे प्रमाणता सिद्ध है ऐसे परम आगमसे शुद्धि और अशुद्धि शक्तिका स्वभाव जीव मे पाया जाता है यह ज्ञात होता है। श्रद्धामे बात यह आती है, उसमें तर्क नहीं कर सकते कि ऐसा ही क्यों है? हैं जीव ऐसे ही कि जिनमे शुद्धि शक्ति है, किन्हींमे अशुद्धि शक्ति है, वहाँ प्रश्न नहीं उठाया जा सकता है।

आगमसिद्ध तत्त्वमे प्रश्न उठानेपर प्रत्यक्षत्व तर्कगोचर तत्त्वमे भी प्रश्नप्रसङ्ग—प्रत्यक्षसे जाने गए पदार्थमे अथवा अनुमान आगमसे जाने गए पदार्थमें भी यदि तर्क उठावोगे कि इनको ऐसा स्वभाव क्यों है? तो जो पदार्थ तर्कगोचर है, जिसमें तर्क उठाये जा सकते हैं उनमें भी प्रश्न यह उठाया जा सकता कि इसको आगममे भी तो बतावो। आगमसे भी तो सिद्ध करो और उसी प्रकार प्रत्यक्षके विषयभूत पदार्थमे भी प्रश्न उठाया जा सकता। जैसे आगम और अनुमानसे जाने गए जीवमे यह प्रश्न उठाया हो कि इसमे दो प्रकारकी शक्तियाँ होनेका स्वभाव क्यों पड़ा है? प्रत्यक्षसे सिद्ध करो। इस तरहसे हम यहाँ भी प्रश्न उठा सकते कि अग्निको

हमने समझ लिया कि गर्म है और अग्नि गर्म क्यों है ? ऐसे प्रश्नपर उत्तर यह दिया जायगा कि अग्निका स्वभाव ऐसा है। तो हम वहाँ यो प्रश्न खडा कर सकते कि इस बातको आगममे बताओ ? इस बातको अनुमानसे सिद्ध करो ? तो फिर प्रत्यक्ष प्रतीत पदार्थमे भी स्वभावके उत्तरमे हम बाधा डाल देंगे। तात्पर्य यह है कि जैसे प्रत्यक्षमे जाने गए पदार्थमे स्वभावका उत्तर दिया जा सकता इसी प्रकार अनुमान और आगम प्रमाणसे जाने गए पदार्थमे भी स्वभावका उत्तर दिया सकता है। अब जैसे पुण्यका स्वभाव है सांसारिक सुख समागम प्राप्त कराना पापका स्वभाव है कि दुःख उत्पन्न करे ऐसा अनिष्ट समागम प्राप्त कराना। ये सब बातें आगमसे ही समझी जा रही हैं। और, वहाँ कोई प्रश्न करे कि पुण्यका ऐसा स्वभाव क्यों है ? पापका ऐसा स्वभाव क्यो है ? तो वहाँ प्रश्न नही उठाया जा सकता। आगम प्रमाणसे जि पदार्थको जान लिया उसमे हम स्वभावका उत्तर दे सकते हैं। इसी तरह जीवोंमे हम आगम प्रमाणसे और युक्तिके बलसे यह उत्तर दे सकते हैं कि इसमे किन्हीं जी में शुद्धि शक्ति है, किन्ही जीवोम अशुद्धि शक्ति है, ऐसा उनमे स्वभाव पडा हुआ है

प्रत्यक्ष व आगमसे प्रतीत अर्थमें स्वभावका उत्तर न माननेपर प्रत्य व आगम प्रत्यक्ष प्रमाणका स्वतन्त्रताके विघातका प्रसङ्ग—यदि प्रत्यक्ष आगमसे सिद्ध तत्त्वमे स्वभावका उत्तर नहीं मानते तो प्रत्यक्ष और आगममें फि स्वतन्त्रता न हो सकेगी। जैसे प्रत्यक्षसे जो बात समझी है वह तुरन्त ही श्रद्धामे आ जाती है। अब उस चीजको समझनेके लिए अन्य प्रमाणके सहारा लेनेकी आवश्यकता नही है। प्रत्यक्षसे जान लिया कि अग्नि गरम है, जब अग्नि गरम है, इस ज्ञानक प्रमाणभूत करनेके लिए कि हमारा यह ज्ञान सच्चा है कि नहीं ? इसकी सचाई सि करनेके लिए अब यहाँ दूसरे प्रमाणकी जरूरत तो नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्ष स्वतं प्रमाण है। प्रत्यक्षसे जो ज्ञात होता है उसकी प्रमाणता स्वतन्त्रतासे है और इसी प्रका आगमसे भी जो कुछ जाना गया है उसकी भी प्रमाणता स्वतन्त्रतासे है। आगमसे जानी हुई बातमे अन्य प्रमाणके खोजकी जरूरत नहीं रहती। हाँ, इतनी बात अवश्य है कि यह आगम सच्चा है या झूठा है ? इसको जाननेकी तो इच्छा होती है और इसको ठीक समझनेके लिए प्रमाणकी आवश्यकता भी होती है, मगर जिस आगमकी प्रमाणता सिद्ध हो गई है उसके पश्चात् फिर आगम जो कुछ बताता है उसकी प्रमाणता समझनेके लिए हमे अन्य प्रमाणोंकी जरूरत नही रहती है। जैसे वीतराग सर्वज्ञ प्रणीत आगममे कर्मोंकी समय समयकी दिशायें बताई हैं। निर्जरा होती है तो आगेकी स्थितिके कर्म पहिलेकी स्थितिमे इस तरह मिलते हैं। उनमे निक्षेप स्थापना संक्रमण समय समयकी निर्जरा असख्यात गुनी निर्जरा या बंध इतनी स्थितिमें बंधेंगे इतने अबाधाकाल होंगे, ऐसी स्थिति पडती है, ऐसा वर्णन आगममें है। ऐसा सुनकर कोई विवेकी शङ्का नहीं करता और न जिज्ञासा करता है कि ऐसा क्यो होता ? तो

सिद्ध हुआ ना, कि प्रमाण है आगम । आगम प्रमाण स्वय स्वतन्त्र प्रमाण है । तो यदि प्रत्यक्षके विषयमे भी प्रश्न किया जाय, आगमके विषयमे भी प्रश्न किया जाय तो उनकी स्वतन्त्रता नही बन सकती है ।

प्रत्यक्ष और आगमके प्रामाण्यकी स्वतन्त्रताकी उपपत्ति— प्रत्यक्षकी स्वतन्त्रता न रही तो अनुमानका भी उदय नही हो सकता । जैसे अनुमान किया कि इस पर्वतमे अग्नि होनी चाहिए धुवाँ होनेसे । तो अब यहाँ जो धुवाँका ज्ञान किया है वह तो प्रत्यक्षसे जाना, अग्निको अनुमानसे जान रहे, अब प्रत्यक्षसे जाना है कि यह धुवाँ है, इस ज्ञानकी सचाई करनेके लिए अन्य प्रमाणोकी खोज तो कोई नही करता, तो स्वतन्त्रता है ना । अब प्रत्यक्षके विषयमे भी यदि स्वतन्त्रता नही मानी जाती तो चलो, अब धुवाँका ही निर्माण करनेमे कई दिन लगाओ । क्योकि धुवाँको प्रत्यक्षसे समझ लिया । इतनेपर भी उसकी प्रमाणता नही मानी जा रही, तो उसीके निर्णयमे जो कुछ प्रमाण पेश करेंगे, फिर उसकी प्रमाणताके निर्णयमे अन्य प्रमाण पेश करेंगे तो अन्य भी स्वत प्रमाण न हो सकेगा, फिर अन्य प्रमाण खोजो । तो यह मानना होगा कि प्रत्यक्षसे जो कुछ जाना गया है वह स्वय प्रमाण है, उसकी प्रमाणता स्वतन्त्रतासे है और इसी प्रकार आगमसे भी जो कुछ जाना गया है उसकी भी प्रमाणता स्वतन्त्रतासे है । बडे-बडे ज्ञानियोंके बीचमे जब चर्चायें आती हैं और वहाँ कोई ग्रन्थ खोलकर बता दिया जाता है कि देखो, आगममे यह लिखा है । तो उस लिखेको पढकर फिर चुप हो जाना पडता है, फिर आगे जबान नही हिलाई जाती, क्यो ? कि आगम स्वय प्रमाणभूत है, उससे जाने गए पदार्थमे कोई प्रश्न नही उठ सकता है । तो यदि प्रत्यक्ष और आगममे ऐसी स्वतन्त्रता नही मानते तो अनुमान प्रमाण भी नही बन सकता । अनुमान प्रमाणमे धर्मीको प्रत्यक्ष ही तो माना है । जैसे इस पर्वतमे अग्नि होनी चाहिये धूम होनेसे । तो कोई कहे कि यह पर्वत है, इस ज्ञानको तो पहिले ठीक करो । अरे भाई ! ठीक तो है ही, प्रत्यक्षसे दीख रहा है कि यह पर्वत है । अब प्रत्यक्षसे जाने गए उस पर्वतमे भी अगर अन्य प्रमाणकी जरूरत पडे कि कैसे जाना कि यह पर्वत है ? तो इसकी ठीकाई करनेके लिये अन्य जो प्रमाण पेश किये जायेंगे फिर उनकी भी सचाई ठीक करो । उसके लिए भी अन्य प्रमाण होगा । तो यों 'अनवस्था' दोष आयगा । इसी प्रकार आगमका विषयभूत जो पदार्थ है उसकी प्रमाणता समझनेके लिए भी अगर अन्य प्रमाणकी आवश्यकता हो तो वहाँ भी अनवस्था दोष होगा ।

प्राकरणिक निष्कर्ष— तथास्वभावसे जीवोकी शुद्धि अशुद्धि शक्तिका प्रतिनियम सिद्ध होनेसे यह बात बिल्कुल ठीक प्रसिद्ध होती है कि कर्मबन्धकी अनुरूपतासे कामादिक विभावकी उत्पत्ति होना सिद्ध होनेपर भी जो कि द्रव्यससारके हेतु

उन बन्धनोंसे मुक्ति हो सकती है जीवोंकी। और, किन्हींकी मुक्ति नहीं होती, क्योंकि शुद्धि और अशुद्धिकी शक्तिकी ऐसी ही विचित्रता है। जीवोंकी शुद्धिशक्ति व अशुद्धि शक्तिके प्रतिनियमसे संसार व मुक्ति व्यवस्था होना सिद्ध होनेसे कर्मबन्धकी अनुरूपता से कामादिक भावसंसारकी सिद्धिमें कोई विवाद नहीं रहता। कर्मका बन्ध कैसे होता है ? इस सम्बन्धमें बताया गया है कि कर्म दो प्रकारका है—पुण्य और पाप। सो दोनों प्रकारके कर्मोंका बन्ध मोह राग द्वेषसे सहचरित अज्ञानसे होता है। कर्मबन्धसे मुक्ति कैसे होती है ? इसका सिद्धान्त यह सिद्ध किया गया कि मोहरहित ज्ञानस्तोकके उपायसे मोक्ष होता है। तो अब यहाँ यह एकान्त नहीं रहा कि अज्ञानसे बन्ध ध्रुव हो और ज्ञानस्तोकसे मोक्ष ही हो। पुण्य और पापके बन्धका भी विभाग यों बनता है कि विशुद्धिका अङ्गभूत स्वपरस्थ सुख दुःख पुण्यास्रवका कारण है। यहाँ भी यह एकान्त नहीं रहता कि परजीवमें दुःख होनेसे पाप बन्धे या परजीवमें सुख होनेसे पुण्य बंधे या निजमें दुःख होनेसे पुण्य बंधे या निजमें सुख होनेसे पाप बंधे। दैव और पौरुष दोनों तत्त्वोंकी प्रसिद्धि होनेसे यह जिज्ञासा होना प्राकृतिक है कि अर्थसिद्धि दैवसे होती है या पौरुषसे। इसके सम्बन्धमें ऊहापोहपूर्वक यह सिद्ध किया गया है कि यहाँ न यह एकान्त है कि दैवसे ही अर्थसिद्धि होती है और न यह एकान्त है कि पौरुषसे ही अर्थसिद्धि होती है। सिद्धान्त यह है कि बुद्धिपूर्वापेक्षामें पौरुषकी मुख्यतासे अर्थसिद्धि है और अबुद्धिपूर्वापेक्षामें दैवकी मुख्यतासे अर्थसिद्धि है। इस प्रकार इस प्रकरणमें कारकरूप उपायतत्त्वकी परीक्षा करके सिद्धि की गई है।

इस ग्रन्थके प्रथम सात परिच्छेदोंमें सर्वज्ञत्व मोक्षमार्ग प्रणेतृत्व व कर्मभूभृद्भेतृत्वसे सम्बन्धित तत्त्वोंके वर्णनका संकेत—इस ग्रन्थमें पहिले ७ परिच्छेदोंमें सर्वज्ञत्व मोक्षमार्गप्रणेतृत्व कर्मभूभृद्भेतृत्वरूप उपेयतत्त्वका वर्णन किया, और वह वर्णन, प्रमाण और नयोंके द्वारा सकल देशरूपसे और एक देशरूपसे किया गया। और ऐसे ही कल्याणके इच्छुक पुरुषोंने नयके माध्यमसे उन उपेय तत्त्वोंकी जानकारी की और करना भी चाहिए प्रमाण और नयोंके द्वारा उपेय तत्त्वका बोध, ये तीन ही उपाय तत्त्व क्यों कहलाते हैं कि सर्वज्ञत्व जीवकी शुद्धपरिणति है, जीवका असाधारण जो ज्ञान गुण है उस ज्ञानगुणका शुद्ध विकास जिसमें तीन लोक और अलोक सब युगपत् प्रतिभात होते हैं, यह जीवके स्वभावका शुद्ध विकास है। इस विकाससे जीवको सर्व प्रकारकी समृद्धि है। शुद्ध आनन्द स्थिररूपसे रहे यह भी इस ज्ञानके शुद्ध विकासके साथ जुड़ी हुई बात है। मोक्ष मार्गका प्रणेतृत्व यह उनकी बिना इच्छाके बन रहा है। जो परमात्मा है वह ही मोक्षमार्गका प्रणेता है। जो जिस मार्ग से चलकर अपनी अन्तिम मंजिलपर पहुंच गया है उसका अधिकार है कि वह मार्गके सम्बन्धमें स्पष्ट दिग्दर्शन कराये, सो तीर्थंकर अरहंत देव सर्वज्ञ भगवान जो मोक्षमार्ग के प्रणेता होते हैं दिव्यध्वनि द्वारा जिनका उपदेश सर्व जीवोंको प्राप्त होता है वह सब

उनकी विना रति और इच्छाके होता है इसमे कारण है भव्य जीवोका भाग्य और अघातिया कर्म होनेके सबब उनके वचनयोगका अभ्युदय। इससे मोक्षमार्गका प्रणेतृत्व प्रकट होता है यह भी उपेय तत्त्व है, और तीसरी चीज है कर्मभूभृद्भेतृत्व याने कर्म पहाडोका भेद देना, कर्म हैं दो प्रकारके भावकर्म और द्रव्यकम। रागद्वेषादिक भाव भावकर्म हैं, ये भी पहाड हैं जो जीवके स्वभावपर लदे हैं, जिनसे स्वभावपर ऐसा आवरण है कि शुद्ध आनन्द प्रकट नही हो पाता। तो उन कर्म पहाडोको भेद देना यह भी उपेय तत्त्व है। द्रव्यकर्म भी पहाड है। जिन कार्माण वर्गणाओके उदयसे जीवको पारतन्त्र्य अनुभव करना पडता है, जन्म मरणके चक्रमे फसता है वह सब है एक बोझ तो उसका भेदन होना भी उपेय तत्त्व है।

उपेयतत्त्वका पारमार्थिक उपाय निज सहज ज्ञायक स्वरूपका आल-म्बन—निश्चयसे देखा जाय तो इन तीन उपेय तत्त्वोका कारण है, उपाय है आत्माके सहज विशुद्ध चैतन्य स्वभावका आलम्बन। तो निश्चयतः निज ज्ञायकस्वभावका आलम्बन करना उपेय तत्त्व है। मैं सर्वज्ञ हो जाऊ या समस्त लोकको जान लू ऐसी इच्छा करके सर्वज्ञता नही मिलती अतएव उसकी वाञ्छा उपेय नही है। कर्म पहाड को मे भेद दू इस तरह कोई उद्यम बाह्य दृष्टि करके बनाये तो उससे कर्म पहाडके भेदनकी सिद्धि नही होती। इस प्रकार उस मोक्षमार्गका प्रणेता बनने और मोक्षमा का नायक बननेके लिए यत्न करे तो उससे बात नही बनती, किन्तु जिसने निज ज्ञायक स्वभावका सत्यताके कारण आलम्बन लिया है उस पुरुषको ये तीन बात प्राप्त होती हैं। तो ज्ञायक स्वभावके आलम्बनसे जो कार्य बनता है वह उपेय तत्त्व है। उपायके द्वारा कौन सी चीज प्रकट होती है उसका नाम उपेय तत्त्व है। तो इन उपेय तत्त्वोका प्रमाण और नयोके द्वारा सर्वदेशरूपसे व एक देशरूपसे ज्ञान करना चाहिए। सो पहि ७ अध्यायोंमे इसका वर्णन किया।

अष्टम, नवम व दशम अध्यायके इस प्रकरण तक कारक लक्षण उपायतत्त्वका वर्णन—अष्टम नवम अध्यायमे और इस प्रकृत दशम अध्यायमे अब तक उपाय तत्त्वका वर्णन किया। उपाय तत्त्वमे प्रथम लौकिक सिद्धिका कारण बताया साथ ही अलौकिक आत्मसिद्धिका कारण कहा, तो यो उपाय तत्त्वका भी प्रमाण और नयोसे सकल देशतया और एक देशतया अधिगम करने की बात कही गई। उन दोनो तत्त्वोको पानेके लिए ज्ञापक और कारक इन दो प्रकारके विकल्पोका ज्ञान कराया गया। ज्ञापकके विकल्प तो हेतुवादरूपसे हैं। युक्तिसे, अनुमानसे, अन्यथानुपपत्ति बताकर वर्णन किया गया जिससे उपायके स्वरूपकी सिद्धि की गई। जिस सिद्धिमे उपेय तत्त्वकी भी सिद्धि की गई और कारक विकल्पमे दैव आदिकका वर्णन किया गया। यहाँ सिद्धि भाग्यसे होती है अथवा पुरुषार्थसे होती है और उस भाग्यका निर्माण अपने

मे सुख दुःख देनेमे होता है या परमें सुख दु ख देनेसे होता है, और वह सुख दु ख क्या किसी एक महेश्वरके द्वारा रचा जाता है अथवा वह अपने किए गए कर्मोंमे रचा जाता है। इन सब बातोका ऊहापोह विचार करते हुए यह सिद्ध किया गया कि लौकिक सिद्धिमे दैव मुख्य है, पुरुषार्थ भी साथ सहायक है और लौकिक सिद्धिमे पुरुषार्थ मुख्य है और अलौकिक सिद्धिके प्रारम्भिक प्रयत्नमे अनुकूल दैव स्थिति सहायक है। और जिस दैवसे लौकिक सिद्ध होती है वह दैव दो प्रकारोंमे विभक्त है—पुण्य और पाप। पुण्यका बन्ध विशुद्धिके अंगभूत वृत्तिमे होता है पापका बन्ध सक्लेशके अगभूत प्रयत्नसे होता है और वह विशुद्ध सक्लेश परिणाम अथवा रागद्वेष कामादिक भाव ये सब कर्म बन्धके अनुरूपसे होते हैं आदिक उपाय तत्त्वोका वर्णन भी प्रमाण और नयके माध्यम से किया गया। इन समस्त तत्त्वोका अधिगम प्रमाण और नयके द्वारा करना ही चाहिए। इस उपायको छोडकर अन्य उपायोंसे तत्त्वका सही अधिगम नहीं हो सकता है। जहाँ प्रमाण और नय शब्द न देकर अन्य शब्दो द्वारा अन्य पद्धतियो द्वारा भी तत्त्वोका अधिगम इन विधियोंसे भी तत्त्वोका ज्ञान होता है। उन सबका भी प्रमाण और नयमें अन्तर्भाव है। इस सम्बन्धमे मुख्यतया सूत्रकार उमास्वामीने बताया है कि प्रमाणनयैरधिगम यहाँ तक इतनी बात निश्चित हुई कि तत्त्वोका अधिगम प्रमाण और नयसे किया जाता है।

प्रमाणके स्वरूपके वर्णनकी उत्थानिका—अब यहाँ जिज्ञासु यह जानना चाह रहा है कि वह प्रमाण क्या चीज है? उस प्रमाणको ही प्रथम निरूपित करना चाहिए। प्रमाणके स्वरूप, प्रमाणके विषय, प्रमाणके फलमे यदि विवाद उत्पन्न होता है और प्राय. दार्शनिकोंमें यह विवाद चल ही रहा है तो उस विवादका निराकरण किए बिना तत्त्वका निर्णय नहीं हो सकता। इस लिए यह ही बतायें कि प्रमाण क्या चीज है? अथवा जैसे कि इस ग्रन्थकी उत्थानिकामें अलकाररूपसे अनेक स्थलोंमे बताया गया है कि मानो भगवानने ही पूछा जब प्रभु वदन करने चले तो अलकारिक रूपमे यह बात आयी कि प्रभु ही पूछने लगे कि मैं ही क्यो वन्दनके योग्य हूं? इस प्रकार वदनका कारण बताते बताते जब यह बात सिद्ध कर दी गई कि चू कि आपके वचन यथार्थ हैं, निर्दोष हैं और आपका साधित मार्ग शान्ति साधनाके लिए उपकारी हैं तो वे किस-किस प्रकारसे निर्दोष हैं वचन इसको सिद्ध करनेके लिए अनेक दार्शनिकोकी चर्चायें उठी और उनको प्रमाण एव नयोके द्वारा निर्दोषतया जो तथ्य पाया जाता उसका प्रकाश किया। तो मानो अब यहाँ ही स्वय भगवानके द्वारा आचार्य पूछे जा रहे हैं कि प्रमाण बतलाओ, वह प्रमाण क्या चीज है जिसके माध्यमसे अब तक सारा वर्णन किया गया? यो पूछे हुए की तरह आचार्य अब अगली कारिकामे प्रमाणका वर्णन करते हैं।

तत्त्वज्ञानं प्रमाणं ते युगपत्सर्वभासनम् ।
क्रमभावि च यज्ज्ञानं स्याद्वादनयसंस्कृतम् ॥ १०१ ॥

प्रमाणका लक्षण—तत्त्वज्ञानको प्रमाण कहते हैं और वह तत्त्वज्ञान प्रभो आपका एक साथ सर्व पदार्थोंका प्रतिभास करने वाला है और जो ज्ञान क्रमभावी है, तत्त्वज्ञान है वह स्याद्वादनयसे सस्कृत है। इस कारिकामे तत्त्वज्ञानके स्वरूपका सकेत किया है, पर उस सकेतमे प्रमाणका लक्षण, प्रमाणकी संख्या और प्रमाणका विषय इनका विवाद भी सकेतरूपसे हल कर दिया गया है। यद्यपि यह सब बात यहाँ अति-सकेतरूपमे है किन्तु वर्णन सबका संक्षेपमे आ जाता है।

तत्त्वज्ञानकी प्रमाणताके कथनसे निराकारदर्शन, इन्द्रियव्यापारादिक प्रमाणत्वका निराकरण—तत्त्वज्ञान प्रमाण है, ऐसा कहनेसे इन्द्रियसंन्निकर्ष व निराकार दर्शनका, सन्निकर्ष आदिकका जो कि अज्ञानरूप हैं उनकी अप्रमाणता बता दी गई है, तत्त्वज्ञान प्रमाण है, निराकार दर्शन प्रमाण नहीं है। सन्निकर्ष आदिक प्रमाण नही है, क्योंकि निराकार दर्शन या सन्निकर्ष आदिक अपने पदार्थके आकारकी जानकारीके प्रति साधकतम नही हैं। ज्ञान ही स्वार्थाकारका निश्चय करता है अतएव स्वार्थाकारका निश्चयात्मक ज्ञान ही साधकतम कहलाता है, जिसमें अपने विषयभूत पदार्थके आकारका निर्णन नही है, जो विशेषरहित वस्तुमात्रका ही ग्रहण करने वाला है ऐसा दर्शन अथवा इन्द्रिय आदिकका सन्निकर्ष अथवा श्रोत्रादिककी वृत्ति ये सब पदार्थकी परिच्छित्तिके लिए साधकतम नही हैं अर्थात् ये पदार्थकी जानकारी नहीं रखते क्योंकि दर्शन सन्निकर्ष आदिकमे उनके सद्भाव और अभावमे परिच्छित्तिका सद्भाव अभाव नहीं पाया जाता यदि ऐसा होता कि निराकार दर्शनके होनेपर पदार्थके आकारका स्वरूपका व्यवसाय बने और निराकार दर्शन न होनेपर पदार्थके स्वरूप का व्यवसाय न बने ऐसा यदि सम्बन्ध होता तब तो निराकार दर्शनको ज्ञानके प्रति जानकारीके प्रति साधकतम कहा जा सकता था, अथवा सन्निकर्ष या इन्द्रिय वृत्ति इन सबको साधकतम कहा जा सकता था, यदि इनके सद्भावमे ज्ञान हो और इनके अभाव मे जानकारी न हो ऐसा सम्बन्ध होगा, किन्तु ऐसा सम्बन्ध इनमें नही है। साधकतम वही कहलाता है, प्रमिति क्रियाके प्रति वही कारण कहला सकेगा कि जिसके सद्भाव होनेपर प्रमितिका सद्भाव हो और जिसके अभाव होनेपर प्रमितिका अभाव हो। प्रमितिका अर्थ है निश्चयात्मक जानकारी, किन्तु ऐसी साधकतमता निराकार दर्शन, इन्द्रिय आदिक सन्निकर्ष व इन्द्रिय व्यापारमें नहीं है।

निराकार दर्शनमें प्रमाणत्वके अभावका प्रतिपादन—निराकार दर्शन का अर्थ है क्षणिकवादियो द्वारा माना गया प्रत्यक्ष पदार्थके उत्पाद समयमें, नीलक्षण का, अर्थक्षणका, ज्ञानक्षणका प्रतिभास होना, जिसमें आकारका बोध नही होता

अथवा व्यवसाय, निश्चय, निर्णय जैसा रूप नहीं आता। केवल एक प्रतिभासमात्र हो गया ऐसे प्रतिभासको निराकार दर्शन कहते हैं और निराकार दर्शनको ही प्रत्यक्ष माना है। प्रमाणक्षणिकवादियोंने इस निराकार दर्शनको माना है। साथ ही निराकार दर्शनकी सिद्धिके लिए एव अन्य तत्त्वोंकी सिद्धिके लिए अनुमान प्रमाण माना है लेकिन वह अनुमान प्रमाण व्यवसायात्मक है, विकल्परूप है, इस कारण वह परपरा से प्रमाण माना गया है साक्षात् प्रमाण नहीं माना गया है। तो इस स्वरूपको समझकर जान गए होंगे कि निराकार दर्शनमे व्यवसाय, निर्णय, निश्चय नहीं पड़ा हुआ है। निराकारदर्शनके बाद जो निर्णय निश्चय होता है वह व्यवसायात्मक है, विकल्परूप है, उसे मिथ्या कहा गया है परमार्थत अप्रमाण स्वीकार किया गया है। भला जो निर्णय निश्चयमे आया, वह तो बन गया अप्रमाण और जहाँ किसी बातका निर्णय नहीं है, केवल प्रतिभास है वह हो गया प्रमाण! तो निरशवादियोंका प्रमाण निर्णयहीन हो गया, किंतु निर्णयहीन ज्ञान प्रमाण हो ही नहीं सकता। निराकार दर्शनमें यह नियम न रहा कि निराकार दर्शन होनेपर स्वार्थप्रमिति होती ही हो। देखो! दूर देशमें रहने वाला जो पदार्थ है, बहुत दूर खड़े हुए जो वृक्षादिक हैं उनसे व्यवसाय और प्रमिति नहीं हो पाती। वैसे निराकार दर्शन तो हो गया, किंतु निराकार दर्शन होनेपर भी तत्क्षण तो व्यवसाय क्षणिकवादियोंने माना नहीं है और उसके अतिरिक्त भी अनेक घटनायें ऐसी हैं जहाँ व्यवसाय नहीं हो पाता। तो निराकार दर्शनके होनेपर जानकारी बने, यह बात न बन सकी। यदि यह नियम मान लिया जाय कि निराकार दर्शनके होनेपर नियमसे अर्थव्यवसाय होता है तब तो सशय आदिक कभी उत्पन्न न हो सकेंगे, क्योंकि निराकार दर्शनसे यथार्थ व्यवसाय हो ही जाता है, ऐसा नियम मान लिया गया और निराकार दर्शन प्रथम होता ही है सर्वत्र, किन्तु ऐसा है कहाँ? सशयात्मक देखे जाते हैं अनेको ज्ञान। अनेकोंकी जानकारीमें सशयादिक ज्ञान हैं तो उससे यह सिद्ध होता है कि निराकार दर्शनके होनेपर पदार्थ की जानकारीका नियम नहीं है। और अनेक स्थल ऐसे मिलेंगे कि जहाँ निराकार दर्शन नहीं हो रहा, वहाँ भी विशेषणके ज्ञानसे विशेष्यकी जानकारी हो जाया करती है, इस प्रकारका नियम सन्निकर्ष आदिकमे भी है उनके होनेपर भी पदार्थका व्यवसाय नहीं होता और उनके न होनेपर भी पदार्थका व्यवसाय हो जाता है, तो इन बातोंके निरखनेसे यह सिद्ध होता है कि वह निराकार दर्शन सन्निकर्ष इन्द्रियवृत्ति ज्ञातृ विकल्प ये सब प्रमाणभूत नहीं हैं किन्तु तत्त्वज्ञान ही प्रमाणभूत है।

तत्त्वज्ञान प्रमाण इस लक्षणमे शकाकार द्वारा बाधाप्रदर्शन—अब यहाँ शङ्काकार कहता है कि इस तरह की व्याप्ति बना लेनेपर कि निराकार दर्शनके होने पर भी प्रमिति नहीं होती और निराकार दर्शनके न होनेपर भी प्रमिति हो जाती है। ऐसी अनेक घटनायें हैं, उनसे सिद्ध है कि निराकार दर्शन प्रमाण नहीं है, इसी तरह

सन्निकर्षके न होनेपर जानकारी हो, उससे सन्निकर्षादि भी प्रमाण सिद्ध नही होता, तो इस प्रकारकी व्याप्ति बना लेनेपर तो ज्ञानमे भी साधकतमता न रहेगी, क्योकि इस प्रसंगमे भी देखा जाता है कि संशय आदिक ज्ञानके होनेपर भी यथार्थ प्रमिति नही हुआ करती, सशयज्ञानको यथार्थ ज्ञान कहाँ माना है और ज्ञान हो रहा है, तो ज्ञान प्रमितिका साधकतम तो न रहा, ज्ञान तो हुआ, पर प्रमिति न हो सकी। विरुद्ध दो कोटिका स्पर्श करने वाला ज्ञान तो बना, मगर उस ज्ञानसे तथ्य नही जाना गया, तब उनके भाव अभावमे प्रमितिका भाव अभाव होनेका नियम न बना और जहाँ कहीं ज्ञान नही भी हो रहा तब भी प्रमितिका सद्भाव होता है। ज्ञानके अभाव होनेपर भ सन्निकर्षका सद्भाव होनेसे पदार्थकी प्रमिति हो आया करती है, तब ऐसी व्याप्तिमे त ज्ञानकी भी साधकतमता नही मानी जा सकती। अतएव व्याप्ति सत्य न रही वि जिसके होनेपर प्रमिमिका सद्भाव हो और जिसके न होनेपर प्रमितिका अभाव हो वह प्रमिति क्रियामे साधकतम होता है अर्थात् प्रमाण माना जाता है। तब तत्त्वज्ञा को जो यहाँ प्रमाण बताया गया है वह मुक्त वचन नही विदित होता।

तत्त्वज्ञान प्रमाण इस लक्षणकी निर्दोषिताका कथन—उक्त शङ्काके सम धानमे कहते हैं कि ज्ञानके होनेपर प्रमितिके होनेमे और ज्ञानके न होनेपर भी प्रमिति के होनेकी बात बताकर यहाँ तत्त्वज्ञानकी प्रमाणतामे दोष नहीं दिया जा सकता क कि ज्ञानमात्रको प्रमाण नही कहा है, किन्तु तत्त्वज्ञानको प्रमाण कहा है। यहाँ प्रक रण यह चल रहा है कि प्रमाणका स्वरूप क्या है ? प्रमाणका स्वरूप बताया है- तत्त्वज्ञान प्रमाण है। यहाँ तत्त्वका अर्थ है कि पदार्थ जिस प्रकारके स्वरूपमे अवस्थि है उस प्रकारके पदार्थोका ज्ञान कर लेना। तो प्रकरणमे यह बात कही जा रही कि तत्त्वज्ञान प्रमाण है न कि क्षणिकवादियोका माना गया निराकार दर्शन अ नैयायिकोका माना गया सन्निकर्ष और सांख्य सिद्धान्तमे माना गया इन्द्रिय व्यापा ये जानकारीके प्रति साधकतम नही हैं। निराकार दर्शनका अर्थ है कि वस्तुका स प्रथम प्रतिभास किया गया तो ऐसा प्रतिभास जिसमे वस्तुका निश्चय निर्णय नही किन्तु एक दर्शनमात्र है, ऐसा निराकार दर्शन बौद्धोने प्रत्यक्ष प्रमाण कहा है, कि यह प्रमाण नही हो सकता। क्योकि इस निराकार दर्शनमे किसी वस्तुका निश्चय नहीं हो सकता। तो यह अज्ञानरूप रहा। जहाँ तत्त्वका कुछ भी निर्णय नही है अज्ञान है इसी तरह इन्द्रिय और पदार्थ आपसमे भिड जायें उसे कुछ दार्शनिक प्रमा कहते हैं। जैसे किसी वस्तुको हाथसे छुवा तो हाथका और वस्तुका सम्बन्ध हो गय इसको प्रमाण कहते हैं और आँखका पदार्थका सम्बन्ध हुआ, आँ में किरण मा है और उन किरणोंका पदार्थसे सम्बन्ध होता है वहाँ फिर बोध बनता है तो सन्निकर्ष कहते हैं। यह भी प्रमाण नही बनता, इसी प्रकार इंद्रियव्यापार भी प्रम नहीं बनता, क्योकि इन सबके होनेपर भी पदार्थकी जानकारी नहीं भी होती

में इसके न होनेपर भी पदार्थकी जानकारी होती है। इस दूषणके मुकाबलेमे शङ्काकार जैनोको दूषण दे रहा है कि ज्ञान भी तो प्रमाण न बन सकेगा क्योंकि ज्ञान होनेपर सही जानकारी नही बनती जैसे संशय ज्ञान हुआ कि यह सीप है या चाँदी इस प्रकार का ज्ञान बना। अगर इस ज्ञानमे सही जानकारी न बने तो ज्ञान होनेपर भी सही जानकारी नही बनती और कही ज्ञान न होनेपर भी सन्निकर्ष आदिकमे सही जानकारी बन जाती तो ज्ञान भी प्रमाण नही हो सकता। शङ्काकारने यह आपत्ति रखी किन्तु शङ्काकार यह भूल गया कि ज्ञानको प्रमाण नही कहा जा रहा, किन्तु तत्त्वज्ञानको प्रमाण कहा जा रहा। तत्त्वज्ञान प्रमाण है ऐसा कहा जानेपर संशयादिक तो मिथ्याज्ञान है यह तो आभासरूप है, उनका निराकरण अपने आप हो जाता है, तो तत्त्वज्ञान प्रमाण है अन्यज्ञान प्रमाण नहीं अथवा अज्ञान प्रमाण नही। इस तरह तत्त्वज्ञान प्रमिति क्रियाके प्रति साधकतम सिद्ध हो ही जाता है।

तत्त्वज्ञानकी प्रमाणताके कथनमे शंकाकार द्वारा दोषापत्ति प्रदर्शन—अब शङ्काकार कहता है कि तत्त्वज्ञानको प्रमाण माननेपर भी तत्त्वज्ञानसे अतिरिक्त जो प्रमेय और प्रमाता हैं वे भी उस तत्त्वज्ञानके प्रति साधकतम हैं। उनको प्रमाण क्यो नही मान लिया जाता ? यहाँ शङ्काकारके अभिप्रायके अनुसार जानकारीमे चार बातें हुआ करती हैं ज्ञाता, ज्ञेय, ज्ञान और ज्ञप्ति। अर्थात् जानने वाला, जाननेमे आया हुआ पदार्थ, और जानन अर्थात् ज्ञान साधन और जाननकी क्रिया। तो जानने की क्रियामे जो साधकतम है, खास कारण है उसको प्रमाण कहा है, तो पदार्थकी जानकारी बनानेमे मुख्य कारण ज्ञान बताया गया है, पर जानकारीमे साधकतम तो प्रमाता और प्रमेय भी है याने जानने वाला आत्मा न हो तो जानकारी क्या बने ? यदि ये पदार्थ न हो जो जाननेमे आते है तो जानकारी क्या बने ? तो यो जानकारी बननेमे साधकतम प्रमाता और प्रमेय भी तो हैं अर्थात् जानने वाला आत्मा और जानने मे आये हुए पदार्थ भी तो हैं उन्हे क्यो नही साधकतम मान लिया जाता ? वे भी प्रमाण हो बैठें।

तत्त्वज्ञानकी प्रमाणताके सम्बन्धमे शंकाकार द्वारा प्रस्तुत दोषापत्ति का निराकरण—उक्त शङ्काके समाधानमे कहते हैं कि प्रमाता तो कर्ता माना गया और प्रमेय कर्म माना गया है, इस कारणसे प्रमितिमे अर्थात् शुद्ध जानकारीमे साधकतम प्रमाता और प्रमेय नही बनता। यदि जानकारीमे साधकतम प्रमाता और प्रमेयको मान लिया जाय तो यह भी करण बन बैठेगा। किसी भी कार्यमे तीन बातें हुआ करती हैं कर्ता, कर्म और करण। करने वाला, किये जानेकी चीज और जिसके द्वारा किया जाय। भिन्न उदाहरणमे तो समझिये ऐसा कि जैसे कुम्हारने घडेको बनाया तो कुम्हार कर्ता है घडा कर्म है और दड चक्रादिक करण हैं। यह भिन्नताकी

बात कह रहे हैं। वस्तुतया कर्ता, कर्म, करण भिन्न भिन्न नहीं है। तो क्रियामे ती
बातें होती हैं—कर्ता कर्म और करण। अब यहाँ अभिन्नताकी बात लीजिए। ज्ञान
वाला यह आत्मा पदार्थोंको या ज्ञेयको जानता रहता है। तो यहाँ जानना तो हुई ए
क्रिया (काम) और उस जाननेमे तीन बातें आयेगी जानने वाला, ज्ञेय पदार्थ औ
करण, जिसके द्वारा जाना गया। तो यहाँ जानने वाला तो आत्मा है, और जानने
आया ऐसा ज्ञेय, अन्तर्ज्ञेय, तो ज्ञान स्वरूप हैं और बाह्यमेज्ञानके विषयभूत पदार्थ ज्ञे
कहलाते हैं और करण है ज्ञान, जिसके द्वारा समझा गया। तो यहाँ प्रमाण ज्ञानव
माना गया, जो जानकारीमे करण है साधन है उसे माना गया है प्रमाण। यदि प्रमाद
और प्रमेयको प्रमिति क्रियामे साधकतम मान लिया जाय कि ये भी खास कारण
ता ये भी करण बन बैठेंगे। इतनेपर भी यदि अभेदसे देखा जाय कि तत्त्वज्ञानस
आत्मा करण है तो इसमे कोई विरोध नही। इस तरह यह सिद्ध हुआ कि तत्त्वज्ञा
प्रमाण है, सच्चा ज्ञान प्रमाण है।

तत्त्वज्ञानकी प्रमाणताका समर्थन व बाधककी असम्भवताका निर्देश

किन्हीने कहा कि सम्यक् ज्ञान प्रमाण है, किन्हीने कहा कि स्व और अपूर्व अर्थ
निश्चयात्मक ज्ञान प्रमाण है। यहाँ कहा जा रहा है कि तत्त्वज्ञान प्रमाण है। इ
लक्षणोंमे अन्तर नहीं है। कहनेकी पद्धतियाँ भिन्न-भिन्न हैं। जो तत्त्वज्ञान होता
वह सम्यक् होता है और स्व व अपूर्व अर्थका निश्चयात्मक होता है। तत्त्वज्ञान स
स्त प्रमाणोंमें पाया जाता है और जितने भी अप्रमाण हैं, उनमे नहीं पाया जात
इससे सिद्ध है कि तत्त्वज्ञान प्रमाण है क्योंकि तत्त्वज्ञानकी प्रमाणतामे बाधक प्रमा
कोई नही है, यह बात बिलकुल सुनिश्चित है। तत्त्वज्ञान प्रमाण है, इसमे बाधा दे
वाला कोई प्रमाण सम्भव नहीं है। यदि कोई बाधक सम्भव हो तो वह प्रमा
नहीं हो सकता या बाधककी असम्भवतामे संशय हो बाधक है या नहीं? इस त
यदि संशय हो तब भी प्रमाणपना नही बनता और कभी किसी जगह किसी बाधक
असम्भवताका अनिश्चयपना हो याने पूर्णतया निश्चित न हो तो भी प्रमाणपना न
बनता अर्थात् संशय विपर्यय और अनध्यवसाय ये प्रमाण नहीं होते। सच्चा ज्ञ
प्रमाण है, सच्चा ज्ञान वह कहलाता है जहाँ संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय
प्रमाण नही होते। सच्चा ज्ञान प्रमाण है, सच्चा ज्ञान वह कहलाता है, जहाँ संश
विपर्यय और अनध्यवसाय नहीं होते। ऐसा ज्ञान संशयज्ञान कहलाता है। संशयज्ञा
अनेक कोटियोंका स्पर्श हो रहा है। यह सीप है या चाँदी, इस प्रकारका जो संशयज्ञ
है वह प्रमाण नहीं है अथवा जो सीप और चाँदी समझ गए तो ऐसे विपरीत स्व
को बताने वाला जो ज्ञान है वह भी प्रमाण नहीं है अथवा पदार्थके स्वरूपका क
निश्चय ही नहीं किया जा सका, ऐसा अनध्यवसाय भी प्रमाणरूप नहीं है। कुछ द
निक ऐसा बताते हैं कि प्रमिति और क्रियामे जो साधकतम है वह प्रमाण है। अथ

पदार्थोके आकारका ग्रहण कर लेना सो प्रमाण है या निर्दोष इन्द्रियसे उत्पन्न हो वह प्रमाण है या जिसे लोग मान जायें कि यह बात सही है वह प्रमाण है, ये सब प्रमाणके लक्षण दूषित हैं वास्तविक लक्षण यह है कि जो तत्त्वज्ञान है, पदार्थ जिसरूपसे अवस्थित हैं उसरूपसे उनका परिणाम होना यही प्रमाण कहा गया है। तत्त्वज्ञान प्रभुमें तो सर्वरूपसे है अर्थात् प्रभुका ज्ञान एक साथ समस्त काल व लोकालोकवर्ती पदार्थोको जान लेता है। और जो क्रमभावी ज्ञान है, छद्मस्थोका तत्त्वज्ञान है वह स्याद्वादनयसे संस्कृत होता है अर्थात् दृष्टियोंसे उन तत्त्वोका निर्णय होता है, जैसे जीव द्रव्य दृष्टिसे नित्य है पर्याय दृष्टिसे अनित्य है आदिक स्याद्वाद विधियोंसे उसके स्वरूपका निर्णय बनता है क्रमभावी ज्ञानमे, किन्तु प्रभुका ज्ञान स्याद्वादनयके विकल्पोंसे बाहर है पदार्थ जैसा है वैसा अखण्ड अवक्तव्य वह सर्वज्ञ ज्ञानमे ज्ञेय हो जाता है।

तत्त्वज्ञान प्रमाण है, इसका अनेकान्तरूपसे प्रतिपादन—अब यहाँ शङ्काकार कहता है कि तत्त्वज्ञानको यदि सर्वथा प्रमाणरूप मान लेते हो तब तो अनेकान्त न रहा। अनेकान्त स्याद्वादका तो भाव यह है कि ऐसा भी है, वैसा भी है, और तरह भी है लेकिन अब यह मान रहे हो कि तत्त्वज्ञान प्रमाण है तो तत्त्वज्ञान प्रमाण ही रहा, अब उसमे अनेकान्त तो न चला! अनेकान्त तो तब सही रहता जब यों कहें कि तत्त्वज्ञान प्रमाण भी है अप्रमाण भी है, लेकिन तत्त्वज्ञान तो अप्रमाण ही है, ऐसा कहनेपर तो सिद्धान्तका ही विघात होता है और तत्त्वज्ञान प्रमाण ही है, ऐसा कहनेपर अनेकान्त नही बनता। तो तत्त्वज्ञानकी सर्वथा प्रमाणता सिद्ध होनेसे अनेकान्तका खण्डन हो जायगा। इस शङ्काके समाधानमे कहते हैं कि तत्त्वज्ञान प्रमाण है, ऐसा कहनेपर भी अनेकान्तका खण्डन नही किया जा सकता इस प्रकरणमे, क्योंकि इस कथनका बुद्धिसे अनेकान्त बन जाता है। बुद्धि प्रमाण ही हो, यह नियम नहीं है, असत बुद्धिको भी तो बुद्धि कहते हैं। जिस आकारसे तत्त्वज्ञान हो उस आकारसे प्रमाणता रही आई, अन्य प्रकारसे प्रमाणता नही है इस तरह अनेकान्त बन जायगा। शङ्काकार यह चाहता है कि अनेकान्तके ढङ्गसे बात सुनाओ! तत्त्वज्ञान प्रमाण भी है अप्रमाण भी है। तो समाधानमे कहते हैं कि अनेकान्तके ढङ्गसे इस बातको समझें कि तत्त्वज्ञान उस दृष्टिसे प्रमाणरूप है जिस आकारसे जिस रूपमे उसे समझा गया है और वह भिन्न अन्य रूपोंसे अप्रमाण है। जैसे किसीकी आँखमे कोई दोष है जिससे चन्द्र दो दीखते हैं। तो उस जगह चन्द्रका दीखना इतना मात्र तो प्रमाण है और दो दीखे यह अप्रमाण है। तो उस ही ज्ञानमे जिस आकारसे परिच्छेद हुआ वह तो प्रमाणभूत हुआ और जिस रूपसे वस्तु नही है उस रूपसे परिच्छेद हो तो अप्रमाण है।

ज्ञानकी प्रमाणताके विषयमे अनेकान्त—प्रत्यक्ष और प्रत्यक्षाभासमे भी यही व्यवस्था अपनाई जाती है। जैसे बहुत दूर खडा हुआ कोई एक पेड है जो स्पष्ट

समझमे नही आ रहा, तो दूरसे देखा कि वृक्ष है, किन्तु यह समझमे नही आ रहा कि आमका वृक्ष है या अन्य कोई वृक्ष, यह स्पष्ट नही जानकारीमें आ रहा है कि किसका वृक्ष ? तो जो कुछ जानकारीमे आया, सामान्य इतना तो प्रमाण हुआ और जितना समझमे न आया या अन्य रूप समझमे आया या अस्पष्टता ही रही, इतने अशमे अप्रमाण है । तो प्रत्यक्ष और प्रत्यक्षाभासमे यह स्थिति अपनाई जाती है कि जिस आकारसे तत्त्वज्ञान है वह तो प्रमाणरूप है, अन्यरूपसे अप्रमाणरूप है, इसमे प्रामाण्य और अप्रामाण्यकी व्यवस्था बताई गई है । एक ही पदार्थमे विजातीयका मेल होनेका नाम सकीर्णता है । एक ज्ञान मिले इसमे कुछ बात सही है, कुछ गलत है, ऐसी दो बातोका मेल होता रहता है । जैसे दो चन्द्रमाओका ज्ञान हुआ तो इसमें दो है चद्रमा ऐसी सख्याके ढङ्गमे जो ज्ञान हो वह तो अप्रमाण है क्योकि चन्द्र दो नही है, पर चन्द्रमाके रूपसे जो बोध हो वह प्रमाण है । तो ऐसे ही समझना चाहिए कि तत्त्वज्ञान प्रमाण है । इस सम्बन्धमे जिस आकारका परिच्छेद हुआ उस रूपसे वह प्रमाण है अन्य रूपसे वह अप्रमाण है ।

सवाद विसवादकी प्रकर्षतासे ज्ञानके प्रामाण्य व अप्रामाण्यका निर्णय

अब यहाँ शङ्काकार कहता है कि जब प्रमाण और अप्रमाणमें ऐसी व्यवस्था बना डाली याने प्रमाणमे सकीर्णता भी सम्भव कर डाली कि एक ज्ञानमे प्रमाणरूपता भी है और अप्रमाणरूपता भी हो सकती है तो इस तरह फिर किसी भी जगह प्रमाणको दृढतासे नही कह सकते कि यह चीज प्रमाणरूप ही है और तब किसे फिर प्रमाण कहेगे और किसे अप्रमाण कहेंगे ? इस प्रकार कोई लोकव्यवस्था नियत नही बन सकती है । इसके उत्तरमे कहते हैं कि प्रमाण और अप्रमाणकी लोकव्यवस्था सम्वाद और विसम्वादमे प्रकर्षतासे हो जाती है याने जिस ज्ञानमे विवाद न रहे और समा धान रहे उसे सम्वाद कहते हैं । तो सम्वाद जहाँ पाया जाय वह ज्ञान प्रमाण है और जिस ज्ञानमे विवाद उठे, सशय उठे अथवा कोई विपरीत बात परखी जाय उसे विस म्वाद कहते हैं । सो जहाँ विवाद हो वह ज्ञान अप्रमाण है । तो ज्ञानमे यह निरख जाना चाहिए कि सम्वाद कितना बसा हुआ है ? और विसम्वाद कितना बसा हुआ है ? सम्वादकी अगर विशेषता है तो वह ज्ञान प्रमाण है, यदि विसम्वादकी प्रकर्षता है तो वह ज्ञान अप्रमाण है । गध द्रव्यादिकमे भी तो यह व्यवस्था अपनाई जाती है कस्तूरी आदिक पदार्थोमें गंध गुणकी प्रकर्षता है, इससे उसे गधवान द्रव्य कहते हैं वैसे गध प्राय अनेक द्रव्योमे है, पर जहाँ विशेष सुगंधि है वहाँ गंधवान है यह पदार्थ ऐसी व्यपदेशकी व्यवस्था है और इसी तरह प्रत्यक्ष और प्रत्यक्षाभासमें यद्यपि किसी न किसी अशमे परिज्ञानकी बात है लेकिन प्रत्यक्षमें सम्वादकी प्रकर्षता है । अतएव प्रत्यक्षमें प्रमाणका व्यपदेश किया गया है और प्रत्यक्षाभासमे विसम्वादकी प्रकर्षता । इस कारण उसे अप्रमाण नाम दिया गया है । तो यो सम्वाद व विसम्वादके प्रकर्षके

में अपेक्षासे प्रमाण और अप्रमाणकी व्यवस्था है।

अनुमानादि ज्ञानोमे विशदज्ञानके अभावकी अपेक्षा अप्रामाण्य होनेपर भी तत्त्व प्रतिपत्तिके कारण प्रामाण्यकी घोषणा—अनुमान आदिक प्रमाणोमे भी किसी अपेक्षासे मिथ्या प्रतिभास है तो भी तत्त्वकी प्रतिपत्तिके ही कारण उनमें प्रमाणपनेकी व्यवस्था बन जाती है। जैसे अनुमान प्रमाणमें ऐसी विशदता नही है जैसी निमित्तन पत्यक्ष प्रमाणमे है। प्रत्यक्षमे स्पष्ट बोध है ऐसा स्पष्ट बोध अनुमान प्रमाणमे नही है इस कारण उसकी अपेक्षामे अनुमानको मिथ्या कहा जा सकता है, लेकिन अनुमानमे जो कुछ तत्त्व जाना गया है उसकी प्रतिप्रत्ति तो है और वह है पदार्थ। तो तत्त्व प्रतिपत्तिके ही कारण अनुमानमे प्रामाण्यकी व्यवस्था की गई है। यदि अतत्त्व प्रतिपत्ति हो, तत्त्वका परिज्ञान न हो तो वहाँपर भी अप्रमाणता मान ली जाती है। तो यो अनेकान्तकी सिद्धि होती है तत्त्वज्ञानमें, जो कि यहाँ छद्मस्थोंकी हो रही है उसमे जितनी अतत्त्व प्रतिपत्ति है उतने अंशमे अप्रमाणता है और जितने अशमे अप्रमाणता है और जितने अशमे तत्त्व प्रतिपत्ति है उन अंशोमें प्रमाणता है। अब इन दोनो बातोमे जिसकी प्रबलता होगी उसका ही नाम बनेगा। यदि तत्त्व प्रतिपत्तिकी प्रकर्षता है तत्त्वज्ञान विशेष है तो वह प्रमाणभूत है। अनुमानादिकमे विशदज्ञानके अभावकी अपेक्षामे कथचित् मिथ्या प्रतिभास कहा जा सकता है कुछ अभिमतों मे, इस कारण किन्ही अशोमे अप्रमाणता है फिर भी तत्त्व प्रतिपत्तिकी दृष्टिसे उसकी प्रकर्षताके कारण प्रमाणता होती है। यो कथंचित् प्रामाण्य और कथचित् अप्रामाण्य सिद्ध होने से अनेकान्तकी सिद्धि होती है।

प्रामाण्य अप्रामाण्यके विषयमें एकान्तका आग्रह करनेपर अन्तस्तत्त्व व बहिस्तत्त्वके सवेदनकी व्यवस्थाका अभाव—यदि सर्वथा एकान्त ही कल्पित किया जाय और इस आग्रहपर रह जाय कि एकान्त ही मानना चाहिए, उस ही मे अवधारण है, निश्चय है, एक वस्तुका निर्णय है इस कारण एकान्त ही मानना चाहिए ऐसा यदि आग्रह किया जाय तो उन एकान्तवादियोके सिद्धान्तमें न तो अन्तस्तत्त्वका सम्वेदन बन सकेगा और न बाह्य तत्त्वोंका सम्वेदन बन सकेगा अतस्तत्त्वके मायने है ज्ञानस्वरूप, बाह्यतत्त्वके मायने है ये नीलादिक अचेतन पदार्थ। निरंशवादमें रूप, रस, गंध, स्पर्शवान कोई पिण्ड नही माना गया है, किन्तु जितनेरूप हैं वे रूप पदार्थ हैं जो रस हैं वे रस पदार्थ हैं, गध पदार्थ और स्पर्श पदार्थ ये सब स्वतन्त्र स्वतन्त्र पदार्थ है, उनका मेल हुआ है अथवा अनेक परमाणुओंका मेल हुआ है वह सब व्यवहार, सम्वृति, कल्पनासे है। तो यों क्षणिकवादमे बाह्यतत्त्व नीलादिक पदार्थ माने गए हैं सो एकान्त कल्पनामे न तो बाह्य तत्त्वका सम्वेदन बन सकता है और न अतस्तत्त्वका सम्वेदन हो सकता है। अतस्तत्त्वका

सम्वेदन एकान्त कल्पनामे यों नहीं बनता कि अंतस्तत्त्व स्वयं अद्वैतरूप है, लेकिन वह भी द्वैतका प्रतिभास माने विना अंतस्तत्त्वके सम्वेदनकी सिद्धि नही होती है। ग्राह्याकार और ग्राहकाकार तो मानना ही पड़ता है। जो ग्रहण करे, जाने, सो तो ग्राहकाकार और जो ग्रहणमे आये, जिसको जाना गया वह है ग्राह्याकार। तो ग्राह्याकार और ग्राहकाकारका तो वहाँ ग्रहण होता है, द्वैत प्रतिभास तो हुआ नही, एकान कल्पना फिर कहाँ रही ? बाह्यतत्त्वोकी यह बात है कि बाह्य तत्त्व हैं रूपादिक, रू रस गंधादिक पदार्थ तो उनका स्वलक्षण जैसा कि निरंशवाद सिद्धान्तमे बताया गय है उस तरहसे तो प्रतिभास नही होता। निरंशवादमे बताया गया है कि रूप रसादिक पदार्थ निरंश हैं, क्षणिक हैं, किंतु निश्चयमे तो यह आ रहा है कि रूपादिक पदार चिरकाल तक ठहरते हैं और इनका संस्थान आकार आदिक है तो ये बाह्य तत्त्व भ जैसा सिद्धान्तमे उनका स्वरूप कहा है उस तरहसे नजर नही आता। तो बाह्य तत का सम्वेदन भी एकान्त कल्पनामे नहीं बन रहा। अतएव अनेकान्तका विरोध करन एकान्तका आग्रह करना इस धुनमें तो शङ्काकार अपने माने गए सिद्धान्तोका भ समर्थन नहीं कर सकता है।

संविन्मात्रमे स्वसंवेदनकी प्रमाणता माननेपर भी एकान्तहानिकी अवश्यंभाविता—यदि शङ्काकार यह कहे कि अंतस्तत्त्व सम्वेदन अर्थात स्वसम्वेदन ज्ञानक्षण अपने आपका अनुभवन करे, ऐसा स्वसम्वेदन तो ज्ञानमात्र है उस ज्ञानमात्र कहाँ एकान्त माननेका प्रसंग आता है ? एक ही बात है। वह अन्तस्तत्त्व ज्ञानमात्र ह है, वहाँ द्वैतकी कोई बात नही आती और वह प्रमाणरूप है। तो इस एकान्तके आग्र के निराकरणमे कहते हैं कि स्वसम्वेदन ज्ञानमात्र है और उसे प्रमाणरूप माना है मानलो प्रमाणरूप, किन्तु अद्वैत निरंश क्षणिक परमाणुरूपमें जो विपरीतताका प्रतिभास होता है अर्थात् ये रूप, रस आदिक अणु द्वैतरूप नित्यरूप जो प्रतिभास हो र हैं तो वहाँ तो अप्रमाणपनेकी कल्पना आयगी ना। ज्ञानमात्र अंतस्तत्त्व प्रमाणरूप और उससे भिन्न अद्वैत क्षणिक परमाणुरूप इसमें विपरीतताका प्रतिभास होने अप्रमाणरूप है। लो यों भी एकान्तका निराकरण कैसे न हुआ ? अनेकान्तकी सिद्धि यहाँ हो ही जाती है अन्तस्तत्त्व सम्वेदन तो प्रमाणरूप है और बाह्य तत्त्व चूंकि जै बताये गए हैं वैसे नही दिखते अतएव अप्रमाणरूप हैं, तो प्रमाणता और अप्रमाणत का अनेकान्त स्याद्वाद हो जानेसे अब यह एकान्त कहाँ रहा कि जो प्रमाण है व प्रमाण ही है। और बाह्य तत्त्वके सम्वेदनकी बात देखिये। रूप रस आदिक अणुम का जो दर्शन है सो उस दर्शनमे रूपादिक मात्रकी प्रमाणता आ रही है, और वहाँ जे स्थूल स्थिर साधारण आकारका प्रतिभास है वह प्रतिभास भ्रान्त है, अतएव उ प्रतिभासकी अप्रमाणता है। तो यहाँ भी एकान्तकी सिद्धि कैसे रही ? एक रूप आ में भी रूपादिक मात्र प्रतिभासकी दृष्टिसे प्रमाणपना है और उसमें जो स्थूल स्थि

आकार प्रतिभास हो रहा है चूंकि वह भ्रान्त है अतएव अप्रमाणरूप है। तो यों अब रूपादिक दर्शनमें भी एकान्तकी सिद्धि न हो सकेगी, तो एकान्त कल्पना करनेपर न तो अन्तस्तत्त्वका सम्वेदन बनता है और न बहिस्तत्त्वका सम्वेदन होता है जब कि क्षणिकवादियोंके सिद्धान्तमें पदार्थको निरंश सिद्ध किया गया है।

एकान्ताग्रहमें रूपादि स्वलक्षणके निश्चयकी असिद्धि—एक न्याय है कि देखे गए स्वलक्षणसे दृष्ट पदार्थका जो भी गुण होगा समस्त गुण देखा हुआ ही होगा। इस न्यायसे उन रूपादिक स्वलक्षणोंमें अविशेषता पायी जाती है अर्थात् वे अनेक समय तक घटी तक ज्योंके त्यों उपलब्ध होते हैं तो उनकी जो कुछ विशेषता है समय समयपर जो कुछ परिणति है वह परिणति एक समान है, अविशेषरूप है। तो यदि उन रूपादिक स्वलक्षणोंमें अविशेषताकी उपलब्धि होनेपर भी रूपादिक स्वलक्षणका व्यवसाय न बन सका, याने वहाँ जो कुछ जाना गया है वह स्थिर स्थूल साधारण आकार जाना गया है चाहे उसे इस तरह भी मान लें कि सदृश नवीन नवीन पदार्थोंकी उत्पत्ति होती रहती है और इस कारणसे वे सब एक मालूम होते हैं, रूपादिक स्वलक्षण जो कि विकल्पमें नहीं आ सकते अब उस परम्पराके कारण वे विकल्पमें आते हैं, इतना सब कुछ मान लेनेपर भी परमार्थसे तो रूपादिक स्वलक्षणका निर्णय न हो सका, क्योंकि प्रत्यक्षको तो निरंशवादमें निर्विकल्प माना गया है, रूपादिक पदार्थोंका जो दर्शन है वह तो निर्णयहीन है, तब जो कुछ भी निर्णय किया जाता है वह लक्षणसे विपरीत पड़ता है, उसका व्यवसाय, निर्णय किया जानेपर भी वस्तुतः रूपादिक स्वलक्षणका निर्णय न बन सका।

एकान्ताग्रहमें प्रत्यक्ष सविकल्पज्ञान व अनुमान सभी प्रमाणोंमें तत्त्वप्रतिपत्तिकी असंभवता—अब एकान्ताग्रहमें आगेकी आपत्ति देखिये। जब रूपादिक लक्षणका निर्णय न बना तब उस निर्विकल्प प्रत्यक्ष उस रूपादिदर्शनमें परोक्षपना आ जायगा। क्योंकि जहाँ जहाँ निर्णय नहीं होता वहाँ वहाँ परोक्षता आती है, अथवा जो विकल्प बन रहा है उस रूपादिकके स्वरूपके बारेमें तो वह विकल्प ही है, स्वलक्षण तो और भांति है। विकल्प हो रहा है और भांति कि यह शाश्वत है, आकारवान है। तो यह विकल्प तो अवस्तुका प्रतिभास कहलाता है, ऐसा निरंश दर्शनमें माना गया है। तो उस प्रत्यक्षने वास्तविक स्वलक्षणका ग्रहण नहीं किया। जिसे ग्रहण किया गया है इन्द्रिय द्वारा उसे अवस्तु माना गया है। तो अब निर्विकल्प प्रत्यक्षमें कोई व्यवसाय ही नहीं है तो जिसके निर्णयकी गंध भी नहीं वह ज्ञान तो परोक्षज्ञान होता है और इस प्रकार अनुमान भी क्या है? विकल्प ही तो है। पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्त्व और विपक्षव्यावृत्ति, इन तीन रूपोंको लिए हुए जो हेतु होता है उनके बलपर साध्य सिद्धिके विकल्प बनते हैं। वे विकल्प भी तो अवस्तुका विषय करने वाले हैं। तत्त्व तो निरंश

क्षणिक श्रणुमात्र है, उसका तो श्रनुमान प्रमाणमे बोध नही किया जा रहा, जो बोध किया जा रहा है श्रनुमान प्रमाणमे वह स्वलक्षरणसे विपरीत है श्रतएव विकल्पमात्र है, वहाँ तत्वका विषय नही बन रहा। तो वहाँ भी तत्वप्रतिपत्ति कहाँसे होगी ? तो तत्वज्ञान एकान्ताग्रहियोके न तो निर्विकल्प प्रत्यक्षसे बन सका और न श्रनुमानप्रमाण से बन सका। श्रौर दो प्रमाणोको छोडकर श्रन्य कुछ क्षणिकवादमे माना नही गया है तब तो पूरा श्रधकार ही श्रा गया, कोई सिद्धि ही न हो सकी।

मणिप्रभा दृष्टान्तसे श्रनुमानमे परमाथत श्रप्रामाण्य होनेपर भी प्रामाण्यकी सिद्धिका शङ्काकार द्वारा प्रतिपादन—शङ्काकार कहता है कि जैसे मणि श्रौर प्रदीपकी प्रभामे मणिकी बुद्धिसे दौडनेवाले पुरुषको यद्यपि मिथ्याज्ञान की श्रविशेषता है याने मणिकी प्रभा उठ रही हो उस प्रभामे भी मणि कहाँ ? व तो प्रभा है। तो भी मणिप्रभामे मणिका दर्शन होता है श्रौर फिर मणिको पानेके लिये उठानेके लिए श्रर्थक्रिया भी बनती है। तो जैसे मणिकी प्रभामे परमार्थत मणि नही है, मणि मणिकीजगह रखी है, तो जैसे मणिप्रभाको मणि समझना मिथ्याज्ञान है श्रौर कोई प्रदीपकी प्रभाको मणि समझा तो भी मिथ्याज्ञान है। श्रब प्रदीपकी प्रभाको मरिणकी बुद्धिसे भाग दौड लगाये तो लगाये किन्तु वहाँ श्रर्थक्रिया तो न बनेगी याने मरिणकी प्राप्तिकी विशेषता तो न श्रायगी श्रौर मरिणकी प्रभामे मरिणकी बुद्धि करके कोई दौड रहा है तो वहाँ जा कर मरिण उठा भी लेता है, तो जैसे मरिणकी प्रभामे श्रौर प्रदीपकी प्रभामे मरिणकी बुद्धि करके कोई दौड रहा हो तो उसके दोनोमे मिथ्याज्ञान हो रहा है। मिथ्याज्ञानकी समानता वहाँ दोनो जगह है। लेकिन श्रर्थक्रियामे तो विशेष है ही। मरिणकी प्रभामे मरिण बुद्धि करके जो दौडेगा वह मरिण पायगा इसी तरह श्रनुमान श्रौर श्रनुमानाभासमे श्रयथार्थपना है, परमार्थत सही श्रनुमान भी श्रयथार्थ कहलाता है, क्योकि जो तत्त्वका स्वलक्षरण है उस स्वलक्षरणका उस रूपमे बोध श्रनुमान ज्ञान नही करता, किन्तु विकल्परूपसे बोध करता है, तो इस दृष्टिसे श्रनुमान प्रमारणमे भी श्रयथार्थता है श्रौर श्रनुमानाभासमे तो श्रयथार्थता स्पष्ट है। सो यो श्रनुमान श्रौर श्रनुमानाभासमे श्रयथार्थता भले ही बनी रहे लेकिन श्रनुमान प्रमारणके बलसे श्रर्थक्रियामे प्रवृत्ति होती है, श्रतएव श्रनुमानको प्रमारण माना गया है। वहाँ यह कहना कि श्रनुमानमे जो विकल्प होते हैं वे श्रतत्त्वको विषय करते हैं इसलिए वहाँ भी तत्त्वप्रतिपत्ति नही है श्रौर प्रमारणता नही है। यह बात यो नही कह सकते कि श्रनुमान प्रमारणमे यद्यपि विकल्प है, श्रयथार्थता है, बस यथार्थ श्रनुमान ज्ञानको जो कुछ समझा उसके पश्चात् उसके श्रनुरूप वहाँ श्रर्थक्रिया होती है। जो इष्ट हो वहाँ प्रवृत्ति होती है इस कारण श्रनुमान प्रमारणको प्रमारण माना गया है।

‌े दृष्टातसे शङ्काकारके स्वय पक्षकावि

समाधानमे कहते हैं कि इस प्रसङ्गमे मरिण और प्रदीपकी प्रभाका दृष्टान्त देना भी शङ्काकारके सिद्धान्तके पक्षका स्वयका घात हो जाता है क्योकि मरिण और प्रदीपकी प्रभाका जो प्रत्यक्ष हुआ है उस प्रत्यक्षमे सम्वादकपना है इस कारणसे उसमें प्रामाण्य सिद्ध होता है । प्रदीपकी प्रभाका जा दर्शन होता है वह तो सही है और जो देखा है वह बराबर सम्वादक है तो वह प्रमाणभूत है और मरिणकी प्रभाका दर्शन भी प्रमाणभूत है अतएव उसकी अयथार्थता बताना भी युक्त नहीं है, वह ज्ञान प्रमाणरूप है, सवादक होनेसे । और तब यह प्रसङ्ग आता है कि यह प्रमाण न तो प्रत्यक्षरूप है, न अनुमानरूप है, अतएव कोई तीसरा ही प्रमाण मानना पडेगा । फिर प्रमाण दो ही होते हैं, ऐसा नियम बनाना घटित नहीं होता । मरिणकी प्रभामे और दीपककी प्रभामे जो मरिणका बोध होता है वह ज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान नही है, वहाँ अपने विषयमे विसवाद पाया जा रहा है, मरिणप्रभाके रूपमें दीपप्रभाके प्रत्यक्षका भी दर्शन बन जाता है। प्रत्यक्ष प्रमाण निर्विकल्प दर्शनरूप माना गया है क्षरिणकवादमे, पदार्थके क्षरिणक निरश स्वरूपका प्रतिभासमात्र होना प्रत्यक्ष कहा गया है और उस प्रत्यक्षको अविसम्वादी कहा गया है, परन्तु विसम्वाद न होनेके लिए उस ज्ञानमे व्यवसाय भी नहीं माना है । किसी प्रकारका निश्चय, निर्णय प्रत्यक्ष ज्ञानमें क्षरिणकसिद्धान्तने नही माना है, किन्तु यहाँ कुछ निश्चय भी हो रहा, विकल्प चल रहा और उस विषयमे विसम्वाद भी हो रहा है, क्योकि दीपकी प्रभाका भी प्रत्यक्ष हो जाता है और वहाँ दीपकी प्रभामे भी मरिणका बोध कर लिया जाता है और मणिकी प्रभामे भी मणिका बोध कर लिया जाता है । जैसे दीखती तो हो सीप, किन्तु रजतका ग्रहण कर लिया गया हो तो जैसे उस सीपके दर्शनको प्रत्यक्ष नही माना गया है उसी प्रकार दर्शन तो हो रहा हो दीपकी प्रभाका और उसे मणिकी बुद्धिसे ग्रहण किया गया हो तो वह प्रत्यक्ष नही बन सकता ।

अप्रतिपन्नव्यभिचार पुरुषके मणिप्रभामें मणिदर्शनकी प्रत्यक्षता सिद्ध करनेका निष्फल प्रयास - शङ्काकार कहता है कि प्रत्यक्षमें जिसको किसी प्रकार का दोप नहीं समझमें आ रहा, ऐसे पुरुषको ऐसा विकल्प होता है कि मैंने जो ही देखा वह ही मेरे द्वारा प्राप्त किया गया, जाना गया । इस तरह वहाँ एकत्वका भाव कर लेनेसे विसम्वादका अभाव हो जाता हैं । सो फिर मरिणकी प्रभामें मणिका जो दर्शन हो रहा है वह प्रत्यक्ष मान लिया जायगा । ऐसा यदि शङ्काकार कहे तब तो देखिये कि ऐसी घटनामें जहाँ कि दृष्टिमें कोई तिमिर रोग हो अथवा आंखमे कुछ कांच कामल दोष आ गया हो या जैसे कोई नावमें चल रहा हो, किसी ऐसी घटनामें यह भ्रम हो जाता है कि ये वृक्षादिक दौड रहे हैं तो वृक्षादिका जैसा दर्शन हुआ है वह भी प्रत्यक्ष बन बैठेगा । फिर तो यह कहना कि प्रत्यक्ष अभ्रान्त होता है यह गलत हो जायगा । भ्रान्तिमें भी प्रत्यक्ष बन गया । जैसे मणिकी प्रभामें मणिका

दर्शन किया जा रहा हो तो वहाँ भ्रान्ति होना स्पष्ट ही है। तो यो मणिकी प्रभामे मणिका दर्शन प्रत्यक्ष मान लिया जाय तब तो जो कुछ भी दीखता है और देख करके जो कुछ दिखला दिया जाता हो वह सब प्रत्यक्ष बन जायगा। जैसे कोई पुरुष नौका में जा रहा है अथवा रेल आदिकमे जा रहा है उसको दोनों ओरसे वृक्ष चलते हुए नजर आते हैं तो यह भी प्रत्यक्ष बन बैठेगा। वह मान रहा है कि जो मैंने देखा यही मैंने पाया उस समय उसको वहाँ किसी प्रकारका विसम्वाद नहीं आता है, फिर तो भ्रान्त हो अथवा भ्रान्तिरहित हो सभी प्रकारका निर्णय प्रत्यक्ष कहलायेगा।

पश्चात् पूर्वप्रतिपत्तिमे विसवाद होनेसे भ्रान्तत्वकी सिद्धि माननेपर कुञ्चिकाविवरमे मणिकी प्राप्ति न होनेसे पूर्वप्रतिपत्तिमे विसवाद सिद्ध होने के कारण मणिप्रभा दर्शनमे मणिदर्शनके अभ्रान्तत्वको असिद्धि—शङ्काकार कहता है कि दौडते हुए पुरुषोको अथवा नौका आदिकमे जाने वाले पुरुषोको जो यो नजर आता है कि ये वृक्ष दौड रहे है तो जब वह पुरुष ठहर जाता है और यो दिखता है कि अब ये दौड नही रहे हैं, ये जहाँके तहाँ अवस्थित हैं, जब इस तरहसे उन वृक्षो को प्राप्त करता है तो उसे मालूम पड जाता है कि ओह! ये वृक्ष दौडते नहीं थे, उनको विसम्वाद ज्ञान होता है तब भ्रान्तपन सिद्ध हो ही गया और इसी कारणसे ऐसा भ्रान्त विचार प्रत्यक्ष नही कहलाता। सो इसके विषयमे समाधान सुनो कि जब कभी अर्गला के छिद्रोंमे अर्थात् किवाड लगाकर जो किवाडको बद करनेके लिए अर्गला लगायी जाती है पर जिन दोनो भीटोकी तरफके बिलोंमे रहता है उन बिलोमें मणिकी प्रभा देखो तो वहाँ मणिका दर्शन भीटके भीतर होने लगेगा। भींटके भीतर तो मणिकी प्राप्ति नही है। तब फिर मणिप्रभामे मणिदर्शनकी अभ्रान्तता कैसे सही रहेगी? और जब अभ्रान्त न रह सका तो यह प्रत्यक्ष नही कहलाता है। तो यो मणिकी प्रभाका दिख जाना प्रत्यक्षमे अन्तर्भूत नही होता वह प्रत्यक्षसे कोई अलग ही प्रमाण है।

मणिप्रभामे मणिदर्शनका अनुमान प्रमाणत्व सिद्ध न होनेसे मणिप्रभा-दर्शनका प्रमाणत्व सिद्ध हो जानेके कारण शकाकारके दृष्टान्तमे शकाकारके सिद्धान्तका घात—यहाँ यह बताया जा रहा है कि मणि और दीपककी प्रभामे मणिकी बुद्धिसे दौडने वाले पुरुषको मिथ्याज्ञान यद्यपि दोनों जगह है लेकिन मणिकी प्राप्ति हो जानेसे वह मणिका ज्ञान प्रमाणभूत कहलाता है। इस प्रकारसे अनुमान प्रमाणमे प्रमाण सिद्ध करनेके लिए क्षणिकवादका यह अभिमत है कि अनुमानने तो अन्तर्भाव नहीं हो सका किन्तु अन्य बातके समझानेके लिए सहयोगी है इस कारण अनुमानका प्रमाण माना गया है। तो अनुमानको इस प्रकारसे प्रमाणता सिद्ध करनेके लिए मणिप्रभामे मणिदर्शनका उदाहरण दिया गया है लेकिन यह उदाहरण युक्त नही होता। इससे तो कोई तृतीय प्रमाण ही सिद्ध होता है। क्षणिकवादियो द्वारा माना

१३

गया प्रत्यक्ष प्रमाण तो निर्विकल्प होता है सो ऐसा प्रत्यक्ष तो यह मणिज्ञान है नहीं, इसे अगर कहा जाय कि अनुमान मान लिया जायगा तो मणिकी प्रभामे जो मणिका बोध होता है उसे अनुमान प्रमाण भी नही माना जा सकता क्योकि वहा साध्य साधन का सम्बन्ध नही जाना जा रहा, अनुमान प्रमाण होता है साध्य साधनका सम्बन्ध जाननेके अनन्तर, जैसे इस पर्वतमें अग्नि है धूम होनेसे तो जब अग्नि और धूमका अविनाभाव सम्बन्ध परख लिया जायगा तब धूमसे अग्निका ज्ञान सम्भव है। अग्निके होनेपर ही धूम होता है, अग्निके न होनेपर धूम नही होता है। जब इस प्रकारका अन्वय व्यतिरेक सम्बन्ध परख लिया जाता है तब अनुमान प्रमाणकी उपपत्ति होती है अवधा, अनुमान प्रमाण नही उत्पन्न होता। सो मणिप्रभाके दर्शनमे मणिकी बुद्धि हो जाय इस ज्ञानमे साध्य साधनका कोई सम्बन्ध नहीं रक्खा गया है, इस कारण यह अनुमान ज्ञान भी नही कहला सकता। यदि मनि प्रभाके दर्शनमे मणिके ज्ञानको अनुमान प्रमाण मान लिया जायगा तब दृष्टान्त और दार्ष्टान्त दोनो एक हो गए। अब यहाँ यह निर्णय किया होगा कि किस दृष्टान्तसे किस दार्ष्टान्त की सिद्धि की गई है? यह दृष्टान्त दिया जा रहा है पदार्थोंको क्षणिक सिद्ध करनेके लिए। अब दृष्टान्त भी जब अनुमान बनाया जाने लगा तो अनुमानको ही सिद्ध करनेके लिए दृष्टान्त दिया और दृष्टान्त ही अनुमानका स्वरूप बन गया, तो वहाँ यह भेद न रह सकेगा कि इस दृष्टान्तसे क्षणिकत्वका अनुमान बनाया गया है, दोनो एक हो जायेंगे।

प्रतिपन्नव्यभिचार पुरुषके भी मणिप्रभामें मणिदर्शनकी अप्रमाणता— उक्त प्रकार अनुमान प्रमाणका निराकरण होनेसे प्रभाकर सिद्धान्तका यह मतव्य भी निराकृत हो जाता है। जैसे कि प्रज्ञाकर मतव्यने यह सिद्धान्त रखा कि जिस पुरुषको प्रत्यक्षमे व्यभिचार प्रतीत हुआ है उस पुरुषको ऐसा अनुमान होता है कि जो इस प्रकारका प्रतिभास होता है वह इस प्रकारके आकारसे रहित नहीं होता है। इस प्रकार मणि सहित देशमें भी यह अनुमान बन जायगा कि यह प्रतिभास मणिके आकार वाला है क्योंकि ऐसा ही प्रतिभास होनेसे फिर वह वहाँ मणिका बोध करने लगेगा। ऐसे ही आकारके प्रतिभाससे जब अन्य जगह ऐसे ही आकार वालेका ज्ञान हो तो मणिकी प्रभाके आकारको निरखकर वहाँ भी मणिका ज्ञान हो जायगा और इस प्रकार अनुमान समीचीन बन जायगा। यह प्रज्ञाकरका सिद्धान्त भी निराकृत हो जाता है क्योकि जहाँ दृष्टान्त ही स्वय असिद्ध है वहाँ साध्यकी सिद्धि नहीं हो सकती। असिद्ध दृष्टान्तसे साध्य सिद्ध नहीं किया जा सकता। जैसे इस पर्वतमें अग्नि है धूम होनेसे जैसे रसोई घर। तो रसोईघरमे जब यह बात स्पष्ट हो चुकी है कि वहाँ धूम भी है, अग्नि भी है तो वह दृष्टान्त सिद्ध हो गया। तभी तो पर्वतमे धूमको बताकर अग्नि सिद्ध कराई जाती है। यदि ऐसा दृष्टान्त दिया जाता कि जिसमें साध्य साधन की सिद्धि न हो रही हो तो उस दृष्टान्तसे अनुमान सिद्ध नही किया जा सकता। तो

यहाँ कभी कभी मणिकी प्रभामे मणिके दर्शनका प्रत्यक्ष होना ठीक भी परख लिया जाता है और गलत भी जान लिया जाता है। इस कारणसे अनुमान प्रमाणको सही सिद्ध करनेके लिए मणिप्रभामे मणिके दर्शनका दृष्टान्त देना अयुक्त है। क्योंकि कभी सही ज्ञान हो कभी मिथ्या ज्ञान हो, इस प्रकार पदार्थका परिज्ञान होता हो तो ऐसे ज्ञानको प्रत्यक्षज्ञान नहीं कह सकते, निर्विवाद और प्रमाणज्ञान नहीं कह सकते।

तत्त्वज्ञान प्रमाण है इस सम्बन्धमे अनेकान्तचर्चाकी घटनाका प्रसङ्ग यह प्रकरण चर्चाका यो बन गया है कि तत्त्वज्ञानको प्रमाण सिद्ध करनेका सिद्धान्त रखा गया था, वहाँ शङ्काकारने यह आपत्ति दिखाई कि तत्त्वज्ञान यदि सर्वथा प्रमाण है तो इसमें अनेकान्त तो न रहा। अनेकान्त तो तब कहलाता कि तत्त्वज्ञान प्रमाण रूप भी है और अप्रमाणरूप भी है। ये दो बातें सिद्ध की जाती। उस शङ्काके समाधानमे बताया गया कि इस तरहका अनेकान्त भी घटित किया जा सकता है कि ज्ञान में जिस प्रकारका आकार स्वरूप ग्रहणमे आया है उस रूपसे तो प्रमाण है और अन्य रूपसे अप्रमाण है। छद्मस्थोकी चर्चामें ऐसा देखा भी जाता है कि किसी ज्ञानमें कोई कमी भी रहती है और किसी प्रकारकी दृढ़ता भी रहती है। तो जितने अंशमे कोई कमी हो उतनेमे प्रमाण न रहा और जिन अंशोंमे दृढता हो उन अंशोमे प्रमाणभूत हो गया। जैसे दूरसे किसी वृक्षको देखा तो इतना तो परिज्ञान हो गया कि यह वृक्ष है पर यह किसका वृक्ष है यह निर्णय नही होता। तो वृक्ष है इतने ज्ञानरूपसे तो प्रमाण है और किसका वृक्ष है इस रूपसे अप्रमाण है। तो जहाँ सम्वादकी प्रकर्षता हो वह प्रमाण माना गया है, ऐसे ही लोकव्यवहार होता है और ऐसे ही अनुमान प्रमाणमें भी देखा जाता है। कहते हैं कि कपूर गन्धवान द्रव्य है तो क्या अन्य पदार्थ गंधसे रहित हैं? सभी पदार्थोंमे गंध पाई जाती है, लेकिन कपूरको कहा कि वह तो गंध वाला पदार्थ है तो गंधकी प्रकर्षता है कपूरमे, इस कारण कपूरको गंधवान कहा है, अन्य पदार्थोंमे गंधकी प्रकर्षता नहीं तो उन्हें गंधवान नही कहा। तो कपूर आदिकको गुणवान कहनेका व्यापार इस आधारपर हुआ है कि वहाँ गंध गुणकी प्रकर्षता पाई जारही है। तो ऐसे ही व्यवहारमे किसी ज्ञानको प्रमाण कहनेका यों व्यवहार हुआ है कि उस ज्ञानमें सम्वादकी प्रकर्षता पाई गई। जहाँ सम्वाद अधिक हो वह प्रमाण है, जहाँ विसम्वाद हो वह अप्रमाण है। तब तत्त्वज्ञान प्रमाण है इस सिद्धिमे किसी प्रकार की बाधा नहीं आती।

मणिप्रभामे सर्वदा मणिदर्शन होनेसे मणिप्रभामें मणिदर्शनका प्रत्यक्षपना व उदाहरण देनेकी युक्तताकी शंकाकार द्वारा कथन व उसका निराकरण—शङ्काकार यहाँ कहता है कि मणिप्रभामें जो मणिका दर्शन होता है, वह सर्वदा सम्वादरूप है, इस कारण मणिप्रभामे मणिका दर्शन होना प्रत्यक्ष भी है और

अनुमानको प्रमाण सिद्ध करनेके लिए उदाहरण देना भी उपयुक्त है, समाधानमें कह हैं कि यह कहना युक्तिसगत नही है, क्योकि मणिप्रभामे मणिके दर्शन होनेकी प्रमाणता, सम्वादकता सदा होती हो यह बात असिद्ध है, क्योकि मिथ्याज्ञानमे सदा सम्वा बना रहे यह बात सम्भव नही है, क्योकि विरोध है। प्रसग यह चल रहा है कि अनुमान ज्ञानको क्षणिक सिद्धान्तके मानने वाले बाह्य ज्ञान मानते हैं, किन्तु प्रत्यक्षके स्वरूपका निश्चय करनेके कारण उसे प्रमाण माना है। सभी पदार्थ क्षणिक हैं, निरः हैं, प्रत्यक्षका यह विषय है लेकिन प्रत्यक्षके इस विषयका निश्चय कौन करे ? प्रत्यक्ष स्वय नही कर सकता, क्योंकि प्रत्यक्षको निर्विकल्प माना है। तब प्रत्यक्षके विषयक निश्चय अनुमान प्रमाणसे कराया जाता है। समस्त सत् क्षणिक हैं सत् होनेसे, इस अनुमानके द्वारा क्षणिकता सिद्ध की जाती है। यो प्रत्यक्षके विषयका साधक होने अनुमान ज्ञानको प्रमाण माना है, किन्तु साक्षात् विकल्पको विषय करता है इस कारण अप्रमाण है। तो अनुमान ज्ञान प्रमाण बन जाय, मिथ्याज्ञान होनेपर भी इसके लि सौगतोंने मणिप्रभामें मणिदर्शनका दृष्टान्त दिया है। जैसे एक मणिकी प्रभा मान ३ हाथ चारो तरफ फैलती है तो उसकी प्रभा चारों तरफ गोल फैलेगी जैसे कि मणि हो। तो उस काल प्रभाको निरखनेपर मणिका बोध हो जाता है। तो मणिप्रभ प्रत्यक्षसे निरखी गयी, सो प्रतिभास मणिप्रभाका हुआ, पर उसके साथ ही प्रतिभास मणिका हो गया। तो जैसे मणिप्रभामे मणिदर्शन प्रमाणभूत है ऐसे ही अनुमान साक्षात् प्रमाण तो नहीं है लेकिन अनुमानज्ञानसे जो जानकारी बनायी उसमे प्रत्यक्ष के स्वरूपका प्रतिभास होता है, इस कारण वह प्रमाण है, यह सिद्ध करनेके लिए क्षणिकवादियोंने मणिप्रभामें मणिदशनकी प्रत्यक्षताका प्रमाणताका उदाहरण दिया है किन्तु यह उदाहरण बनता नहीं है क्योकि जो मिथ्याज्ञान है वह सम्वादरूप नही होता। मिथ्याज्ञान हो और उसमे सर्वदा सम्वाद माना जाय यह बात परस्पर विरुद्ध है।

अवस्तुको विषय करनेपर भी अनुमानमें सर्वदा संवाद सिद्ध करनेका शकाकारका प्रयत्न व उसका समाधान—शङ्काकार कहता है कि अनुमान प्रमाण मे तो सर्वदा सम्वाद सिद्ध होता है, यद्यपि वह अवस्तुको विषय करता है अतएव मिथ्याज्ञान है लेकिन सम्वाद सदा रहता है। यह कहना कि मिथ्याज्ञानमे सदा सम्वाद नही रहता। सम्वादका अर्थ है सही ज्ञानका समाधान मिलना। मिथ्याज्ञान है अनुमान प्रमाण, क्योकि वह विकल्पको विषय करता है फिर भी विसंवाद तो वहाँ नही है। तो मिथ्याज्ञान होनेपर भी अनुमान प्रमाणमें सदा सम्वाद पाया गया साधन ज्ञानकी तरह। जैसे अनुमान प्रमाणमें जो साध्य सिद्ध करना है उसे सिद्ध करनेके लिए जो हेतु दिया जाता है, जैसी उस हेतुके विषयमें सही जानकारी होती है और सही जानकारीके रूपमे सन्तोष होता है ऐसे ही उस साधनके द्वारा साध्यका जो ज्ञान किया

गया उसकी जानकारीमें भी सन्तोष होता है कि हमने सब सही समझा है। जैसे अनुमान किया गया कि पर्वतमें अग्नि होनी चाहिए धूम होनेसे तो धूमका तो प्रत्यक्षदर्शन किया गया। वहाँपर भी दर्शनके समयमें धूमका ज्ञान नहीं होता। धूमका ज्ञान तो होता पर प्रतिभास मात्रमें। यह धूम है यह विकल्पमय ज्ञान तो पश्चात् होता है। तो जैसे उस साधनका जो विकल्प ज्ञान हुआ उसमें धूमके स्वरूप निर्णयका सन्तोष है ऐसे ही धूम साधनके द्वारा जो अग्निका ज्ञान हुआ उस अग्नि ज्ञानमें भी सन्तोष है। सही जानकारी है। तो देखिये! अनुमान ज्ञान यद्यपि अवस्तुको विषय कर रहा है अर्थात् निर्विकल्प दर्शन नहीं हो रहा है तिसपर भी सम्वाद पाया जा रहा, उसका सम्वाद यों है कि आखिर परम्परासे वस्तुके स्वलक्षणके परिचयका सम्बन्ध है इसमें यद्यपि दर्शन हो रहा है धूमका ही लेकिन उस दृष्ट धूमके द्वारा अग्निका ज्ञान किया गया सो परम्परासे तो अग्निका ज्ञान होता ही है। साध्य और साधनकी बुद्धिसे परम्परासे वस्तुमें निश्चय होता है। तो परम्परासे प्रतिबन्ध होनेके कारण वह प्रमाण नहीं है साक्षात् फिर भी उसमें सम्वाद पाया ही जा रहा है। इस शङ्काके समाधानमें कहते हैं कि यह भी बिना विचारे कथन किया गया है। क्योंकि यहाँ ज्ञान सर्वदा सम्वादी भी है और उसे मिथ्या ज्ञान भी कहा जा रहा। जो सर्वदा सम्वादी ज्ञान हो वह मिथ्या ज्ञान नहीं हो सकता। जैसे प्रत्यक्ष ज्ञान सर्वदा सम्वादी है तो उसे मिथ्या ज्ञान नहीं कहा गया। अनुमान ज्ञान भी जब सदाकाल सही जानकारी देता है तो उसे मिथ्याज्ञान ही क्यों कह रहे? और यह सिद्ध करनेका प्रयास क्यों किया जा रहा कि देखो! मिथ्याज्ञान होनेपर भी इस अनुमानमें सदा सम्वाद पाया जाता है? सदा सम्वाद है तो वह मिथ्याज्ञान नहीं कहला सकता।

तत्त्वज्ञानको प्रमाण बनानेके प्रकरणमें प्रकृत चर्चाका विवरण— प्रकृत विषय यह चल रहा है कि मणिकी प्रभामें जो मणिका दर्शन होता है, ज्ञान होता है वह यथार्थ ज्ञान नहीं, अब मणिप्रभा दर्शनकी बात देखें। वह ज्ञान न तो प्रत्यक्ष है और न अनुमान है। प्रत्यक्ष तो यों नहीं है कि वहाँ निर्विकल्प दर्शन नहीं है और वह मणिप्रभा दर्शन अनुमान भी नहीं है। यह बात इस प्रकरणमें ही सिद्ध की जा रही है और चूँकि इस समय मान लिया गया है कि मणिप्रभामें मणिका दर्शन सर्वदा सम्वादरूप है तो अब वस्तुतः सम्वादरूप रहा तो वह अनुमान ज्ञान न बनेगा। अनुमानका आलम्बन माने सामान्यमात्र तत्त्व कोई भ्रान्त नहीं है। यदि सामान्यमात्र तत्त्व जो कि अनुमान प्रमाणसे समझा गया है यदि भ्रान्त मान लिया जाय तो पाई चीज भी भ्रान्त बन बैठेगी! अर्थात् वस्तुमें जो लक्षण प्राप्त है स्वलक्षण वह भी भ्रान्त बन जायगा, क्योंकि जो कुछ भी समझमें आया वह भ्रान्त मान लिया गया। तो समझसे बाहरकी चर्चा क्या? और समझमें आया हुआ भ्रान्त है तब स्वलक्षण अभ्रान्त बन जाये, ऐसा अवकाश ही नहीं आ सकता। यदि कहो कि वस्तुका जो

स्वलक्षण है अर्थात् क्षणिक है, निरंश है, इस प्रकारका जो वस्तुधर्म है उस सम्बन्धमे तो अनुमान ज्ञान अविसम्वादक माना गया है उसमे कोई विवाद उत्पन्न नहीं होता वह सही जानकारीका ही समर्थन करने वाला है। तो समाधानमे कहते हैं कि यों ही अनुमानका आलम्वनभूत जो विषय है उसे भी अविसम्वादक मान लीजिये! अनुमान ज्ञानसे जो कुछ निश्चय किया गया है वह भी सही है, वहाँ भी कोई विवाद नहीं होता, ऐसा स्वीकार कर लेना चाहिए। और यदि ऐसा स्वीकार कर लिया जाता है, तो अनुमान ज्ञान सर्वदा ही अविसम्वादक सिद्ध हो जाता है। वात यह है कि प्रत्यक्ष से जो कुछ निरखा जाता वह प्रमाणभूत है, सही ज्ञान माना जाता है। इसी प्रकार अनुमान प्रमाणसे भी जो कुछ समझा गया है वह भी सही ज्ञान माना जाता है। जैसे प्रत्यक्ष सामान्य विशेषात्मक वस्तुको जानता है इसी प्रकार अनुमान ज्ञान भी सामान्य विशेषात्म वस्तु जाननेमें आये उस ज्ञानको अप्रमाण नहीं कहा जा सकता, अन्यथा किसी भी ज्ञानमे प्रमाणपना नही वताया जा सकता। प्रमाण है यह ज्ञान। यह सिद्ध करनेका उपाय तो अविसम्वाद है अर्थात् इस ज्ञानमे किसी भी प्रकारका विवाद कहीं है, यह वात सही है, ऐसा जब सम्वाद उत्पन्न होता है, सही जानकारीका निर्णय वनता हैं तो वह प्रमाण माना गया है। चाहे सही जानकारीका निर्णय प्रत्यक्ष से हो वह प्रमाण हैं, अनुमानसे हो तो वह भी प्रमाण है। अनुमानको साक्षात् मिथ्या-ज्ञान वताना और सम्यग्ज्ञानका सहायक है इसलिए प्रमाण वताना, इतना परिश्रम करना परम्परा बनाना युक्तिसंगत नही है इस कारण यह सिद्धान्त निर्विवाद समीचीन है कि तत्त्वज्ञान ही प्रमाण है।

कारणसामग्रीके भेदसे प्रतिभास भेद होनेपर भी समस्त तत्त्वज्ञानोंके प्रमाणत्वकी उपपत्ति—चाहे कारण सामग्रीके भेदसे प्रतिभासभेद हो फिर भी, जितने भी तत्त्वज्ञान हैं वे सव प्रमाण हैं। प्रत्यक्ष और अनुमानमे प्रतिभासभेद हो रहा है। प्रत्यक्ष जिस तरहसे पदार्थको जानता है उससे भिन्न प्रकारसे पदार्थको अनुमान जानता है, क्योंकि वहाँ कारण सामग्रीका भेद है। प्रत्यक्ष तो हो रहा है इन्द्रिय द्वारा और अनुमान वन रहा है युक्तियों द्वारा, सो कारण सामग्री विभिन्न होनेसे इन दोनों ज्ञानों के प्रतिभासमे भेद है। लेकिन सही जानकारीका निश्चय जैसे प्रत्यक्षमे है उसी प्रकार अनुमानमे भी है। अतएव विसम्वादरहित तत्त्वज्ञान प्रमाण है। यहाँ शकाकार कहता है कि इस प्रकार यदि अनुमान ज्ञानको वस्तुका विषय करने वाला मान लोगे तो उस अनुमानज्ञानमे फिर स्पष्ट प्रतिभास होना चाहिए। शङ्काकारके सिद्धान्तके अनुसार स्पष्ट प्रतिभास प्रत्यक्षज्ञानमे माना गया है और यह प्रत्यक्षज्ञान निर्विकल्प दर्शन है। जहाँ केवल प्रतिभास ही है, विकल्प नही है, निश्चय नहीं है, वह प्रतिभास मात्र प्रतिभास स्वरूपमें स्पष्टरूप है। जैसे प्रत्यक्षज्ञानमे स्पष्टता आती है, क्योंकि वह वस्तु का विषय कर रहा है तो प्रत्यक्षको यदि वस्तुका विषय करने वाला मान लोगे तो

अनिष्टापत्ति शङ्काकार यहाँ दे रहा है । प्रत्यक्षकी भाँति अनुमान प्रमाणमे भी स्पष्ट प्रतिभास हो जाना चाहिये, ऐसी अनिष्ठापत्ति देकर शङ्काकार यहाँ समर्थन कर रहा है कि अनुमान प्रमाण वस्तुका विषय नहीं करता । उक्त शङ्काके समाधानमे कहते हैं कि वस्तुका विषय करने वाले प्रमाणमे यह आवश्यक नही है कि उसमे स्पष्ट प्रतिभास हो ही हो । जैसे कि बहुत दूरमे रहने वाले वृक्षका दर्शन करनेसे वहाँ हो तो रहा है दर्शन वस्तुका विषय लेकिन प्रतिभास स्पष्ट नही है । तो यदि यह नियम बना लिया जाता है कि वस्तुको विषय करने वाला ज्ञान स्पष्ट ही प्रतिभास करता है तो दूर देशमे रहने वाले वृक्षादिकके दर्शनके साथ व्यभिचार दोष आता है अर्थात् वहाँ विषय तो वस्तुका किया जा रहा लेकिन प्रतिभास स्पष्ट नही है । वस्तुका विषय करने वाला ज्ञान विशद प्रतिभास ही करे, ऐसा यदि आग्रह किया जाय तो अन्य अनेक दोष आते हैं । जैसे साधारण जनोको जो प्रत्यक्ष ज्ञान होता है उस प्रत्यक्षज्ञान में भी सब ज्ञानोका समारोप हो जायगा, क्योकि अब माना है प्रत्यक्षज्ञानके विषयको एकरूप । वस्तुका ही विषय करे, स्वलक्षणको ही जाने तो अब सभी प्रत्यक्षोमे फिर अन्तर क्या रहा ? क्योकि स्वलक्षणका विषय सभी प्रत्यक्ष कर रहे हैं अथवा योगियो का प्रत्यक्ष और साधारण जनोका प्रत्यक्ष इन दोनोमें भी अन्तर न रहना चाहिए। क्योकि वस्तुका विषय दोनो प्रत्यक्षोंने किया है और वस्तुका विषय करे तो वह स्पष्ट ही कहलायेगा । तो स्पष्टताकी भी समानता हो जानी चाहिए । इस कारण यह नियम नहीं बनाया जा सकता कि जो वस्तुका विषय करे वह स्पष्ट प्रतिभास ही पा लेगा । प्रत्यक्षज्ञानने भी वस्तुको विषय किया और अनुमानज्ञानने भी वस्तुको विषय किया फिर भी प्रत्यक्षज्ञान स्पष्ट प्रतिभास करता है अनुमानज्ञान अस्पष्ट प्रतिभास करता है, ऐसा माननेमे किसी भी प्रकारका विरोध नहीं है ।

योगि प्रत्यक्ष और साधारण जन प्रत्यक्षमे कारणसामग्रीके भेदसे विशेषता बताकर शङ्काकार द्वारा ही अपनी शङ्काका समाधान—

शङ्काकार कहता है कि यद्यपि योगियोके प्रत्यक्षमे और साधारण जनोके प्रत्यक्षमे विषय तो स्वलक्षणका ही किया गया है अर्थात् वस्तुका जो निज स्वरूप है, क्षणिक होना, निरंश होना, जान तो गए हैं ऐसे ही वस्तुको, लेकिन कारण सामग्रीके भेदसे उन दोनोके प्रत्यक्षमे भेद मानना पड़ेगा । योगियोका प्रत्यक्ष तो योग द्वारा है, इन्द्रिय द्वारा नहीं है अथवा सातिशय मनके द्वारा है लेकिन साधारण जनोका प्रत्यक्ष इन्द्रिय द्वारा है । यो कारण सामग्रीका भेद होनेसे योगि प्रत्यक्षमे और अन्य प्रत्यक्षमे भेद सिद्ध होता है अतएव योगि प्रत्यक्ष और साधारण जनोंके प्रत्यक्षमे, समानताकी बात कहकर अनुमान और प्रत्यक्ष इन दोनोका एक रूप सिद्ध करना युक्त नही है । यहाँ प्रायः सभी विवेकी जानते हैं कि योगियोका प्रत्यक्ष अतीन्द्रिय होता है किन्तु छद्मस्थ जनोका प्रत्यक्ष इन्द्रियज है । सो कारण सामग्रीका भेद होनेसे इन दोनो ज्ञानोमे भेद

है। उक्त शङ्काके समाधानमे कहते हैं कि कारण सामग्रीके भेदमे ही तो प्रत्यक्ष और अनुमानमे प्रतिभास विशेष बताया जा रहा था। प्रत्यक्षज्ञान इंद्रियज्ञान है और अनुमानज्ञान साधनजन्य ज्ञान है अतएव अनुमान ज्ञानमें विशद प्रतिभास नहीं होता है और प्रत्यक्ष ज्ञानमे विशद प्रतिभास होता है। इसमें किसी भी प्रकारकी बाधा नहीं आती। यहाँ तक यह सिद्ध हुआ कि अनुमान ज्ञान भी वस्तुको विषय करता है अत साक्षात् प्रमाण है। अनुमानको मिथ्याज्ञान मानकर फिर प्रमाण सिद्ध करना और उसके लिए मणिप्रभामे मणिदर्शनका दृष्टान्त ये सब परिश्रम करने व्यर्थ हैं।

सब सवादक ज्ञानोकी प्रमाणताका 'तत्त्वज्ञान प्रमाण' वचनमे निर्दे तत्त्वज्ञान प्रमाण, इस कारिकाके अशका ऐसा भी अवधारण किया जा सकता है कि तत्त्वज्ञान प्रमाण ही है। इस अवधारणमे फलज्ञानके भी अपनेसे अव्यवहित अनन्तरमे नही, किन्तु निकट लगातार फलकी अपेक्षासे प्रमाणपना सिद्ध हो जाता है क्योंकि प्रत्यक्षसे जाने हुए ही पदार्थका अनुमान आदिकके द्वारा ज्ञान किया गया और इसी कारण पदार्थकी स्वलक्षणताके दर्शनके बाद होने वाला जो निर्णय है तत्त्व व्यवसाय है, निश्चय है उसमे भी प्रमाणता सिद्ध हो जाती है। क्षणि सिद्धान्तमे स्वलक्षण कहा गया है पदार्थको क्षणिक और निरश स्वरूप। यो कि की असलियत यह है कि वह निरश है और क्षणवर्ती है, अब ऐसी निरश ग क्षणिकताका प्रतिभास हो वह ता है प्रत्यक्षका विषय, इसे कहते हैं निर्विकल्प दर्श अथवा निराकार दर्शन। यह ही मुख्य प्रमाण है क्षणिकवादमें। अब इस ही का वहाँ निर्णय नही है किंतु प्रतिभास है। जैसे तुरन्त उत्पन्न हुए बालकको जगह पडी हुई सभी वस्तुयें दीखती तो हैं, पर उनके प्रति वह कोई विकल्प नहीं पाता कि यह चौकी है, यह भींट है, यह अमुक चीज है। यद्यपि वहाँ भी पडा हुआ है भले ही संज्ञा आदिकके रूपसे न पडा हो लेकिन एक मोटा दृष्टान्त जा रहा है। तो ऐसे ही समझ लीजिए कि पदार्थके स्वलक्षणका दर्शन एक प्रतिभास मात्र है, वहाँ क्षणिकपनेका, निरशपनेका निर्णय नहीं बना हुआ है। निर्ण सब विकल्प कहलाते हैं। तो स्वलक्षणका दर्शन हुआ, उसके पश्चात् हुआ निर्णय अनुमानसे हुआ, अन्य ढङ्गसे हुआ, हुआ क्षणिकत्वका निरशत्वका निर्णय निश्चय तो वह अब प्रमाण बन गया। तो जब वह तत्त्व निर्णय प्रमाण हो गया तो यो प्रमाणोका अवधारण करना कि प्रत्यक्ष और अनुमान ये ही दो प्रमाण हैं, इस का निराकरण हो जाता है अर्थात् अब तो प्रत्यक्षसे देखे गए पदार्थमें पदार्थके स्वरूप का निश्चय होना भी प्रमाण बन गया। तो अब यह तीसरा प्रमाण हो गया, क्योंकि यह तत्त्व व्यवसाय, सविकल्प ज्ञान न तो प्रत्यक्ष स्वरूप है और न अनुमान स्वरूप है, इस कारण कोई अन्य प्रमाण ही है। इन्द्रिय द्वारा जो व्यवसाय होता है, पदार्थका निर्णय होता है उसे अप्रमाण नही कर सकते, क्योंकि वहाँ विसम्वाद नहीं पाया जा

रहा। सब समझमे आ रहा और ज्ञानकारीकी दृढ़ता भी वहाँ बनी हुई है। जैसे आँख से देखकर जो ज्ञान किया जा रहा है कि यह सफेद है, नीला है, क्या ये असत्य बातें हैं? यह निर्णय सही हो रहा है और इसकी दृढ़तापर सब कुछ व्यवहार भी चल रहा है? तो इसमे विसम्वाद नही है। हम जिस प्रकार देखते हैं, सैकड़ों पुरुष उसी प्रकार देख रहे हैं, तब विसम्वाद तो न रहा, जानकारी सही ही कहलाई। तो इंद्रिय व्यवसायको अप्रमाण नहीं कह सकते, क्योंकि यहाँ किसी प्रकारका विसम्वाद नही पाया जा रहा है।

सविकल्प ज्ञानमे अनधिगत अर्थका अधिगम होनेसे अप्रमाणत्व माननेपर अनुमानमे भी अप्रमाणत्व आ जानेसे सौगताभिमत प्रमाण संख्याका विघात

शङ्काकार कहता है कि इंद्रिय द्वारा जो निर्णय किया जा रहा है वह जाने हुएका ही निर्णय किया जा रहा है। याने प्रत्यक्षसे तो स्वलक्षणको समझ लिया था, प्रतिभासरूपसे ही समझा, किन्तु जो पदार्थ प्रत्यक्षसे दीखा उसी पदार्थके बारेमें ही तो निश्चय किया जा रहा है। तो प्रत्यक्षसे जाने गए पदार्थका ही अधिगम है इस इंद्रिय व्यवसायमे, तो अनधिगत पदार्थका अधिगम नही कहलाता, इस कारण यह तत्त्व व्यवसाय सविकल्प ज्ञान पदार्थस्वरूपका निश्चय ये सब गृहीतग्राही होनेसे अप्रमाण हो जायेंगे और जब यह तत्त्वव्यवसाय, सविकल्प ज्ञान अप्रमाण बन गया तो प्रमाण दो ही हैं—प्रत्यक्ष और अनुमान। इस प्रकार हमारे माने हुए प्रमाणकी दो संख्याका निराकरण नही होता। समाधानमे कहते हैं कि यदि इस तत्त्व निर्णयका जो कि इंद्रियसे जानकर निश्चय किया जा रहा है अप्रमाण इस कारण मानलें कि प्रत्यक्षसे जाने गए पदार्थका ही तो निर्णय किया गया। निर्विकल्प दर्शनसे जिस स्वलक्षणका प्रतिभास किया गया उसका ही तो निश्चय इस तत्त्व व्यवसायमे है, इस कारण अप्रमाण है। तो अप्रमाण मान लेनेपर तो अनुमान भी अप्रमाण बन जायगा, उसमें भी प्रमाणता नही आ सकती, क्योंकि अनुमान भी अनधिगत पदार्थका ज्ञान नही कर रहा है। अनुमानमे जो कुछ समझा है उसका किसी न किसी ढङ्गसे ज्ञान पहिले होगया था तो अनुमान प्रमाणमें भी अनधिगत पदार्थका ज्ञान न होनेसे प्रमाणता न आसकेगी। जब प्रमाण एक ही रह जायगा, प्रत्यक्ष अनुमान भी प्रमाण न रहा तो ये दो संख्याका निराकरण हो गया।

अनुमानकी प्रमाणताकी तरह सविकल्पज्ञानमें भी प्रमाणताकी सिद्धि

शङ्काकार कहता है कि अनुमानमे तो यह बात है कि अनधिगत स्वलक्षणका अध्यवसाय है अर्थात् निराकार दर्शनके द्वारा जो स्वलक्षण देखा गया उसका जो यह निश्चय किया जा रहा है कि पदार्थ क्षणिक है, निरंश है - वह अध्यवसाय तो अनधिगत है। जो तत्त्व व्यवसाय हो रहा है जिस ढङ्गमे क्षणिकत्व, निरंशत्व आदिका भी निश्चय

किया जा रहा है वह तो निरधिगत है । तो अनधिगत स्वलक्षणाध्यवसाय होनेसे अनुमानमे तो अतिशय मानना पडेगा, अनुमानकी बातको उसमे कुछ विशिष्ट मानना पडेगा अतएव अनुमानकी प्रमाणताका निराकरण न होगा । इस शङ्काके समाधानमें कहते हैं कि इसी कारणसे तो सविकल्प ज्ञानकी प्रमाणताका भी निषेध नही किया जा सकता, क्योंकि इस तत्त्व व्यवसायसे भी अनिर्णीत पदार्थका ही निर्णय किया गया है । इन्द्रिय द्वारा जो कुछ भी परिज्ञान होता है उस समस्त सविकल्प ज्ञानमे जो बात निर्णयरूप हुई है वह तो पहिले अनिर्णीत थी । प्रत्यक्षने स्वलक्षण देखा पर वह प्रतिभास ही तो है, निर्णय तो नही है । अब जो निर्णय हुआ है वह एक विशिष्ट चीज है, वह जाना कहाँ गया था पहिले ? तो तत्त्व व्यवसायमे, सविकल्प ज्ञानमे भी अनिर्णीतका निर्णय पडा हुआ है इस कारण वह भी प्रमाणसिद्ध होगा, उसकी प्रमाणताका भी निराकरण नही किया जा सकता । जैसे कि क्षणभङ्ग सिद्ध करने वाला अनुमान माना गया है, क्योकि यह कहा जा रहा है कि उस अनुमानमे अनधिगत स्वलक्षणका अध्यवसाय है 'सर्वं क्षणिक सत्त्वात्' सब क्षणिक है सत्त्व होनेसे, इस अनुमानमे जो सब पदार्थोंकी क्षणिकताका निर्णय किया गया है यह क्षणिकताका निर्णय तो अनधिगत था, तो अनुमानमे भी अनिश्चितका निश्चय किया गया है । प्रमाण माना गया है अनधिगत पदार्थके अधिगम करनेको । जो नहीं जाना गया उसका परिज्ञान किया जाय सो प्रमाण है । जाने गएका जानना तो धारावाही ज्ञान कहलायेगा । उसकी ही बारबार पुनरावृत्ति की गई हो, वह प्रमाण नही माना जाता, इसीलिए किसीकी भी प्रमाणता सिद्ध करनेमे यह सिद्ध करना होता है कि इस ज्ञानने न जानी हुई बातको जाना है । जानी हुई बातको जाननेमें प्रमाणता दर्शन शास्त्रमे नहीं मानी जाती । तो जैसे अनुमान प्रमाणमे क्षणिकवादी यह सिद्ध करते हैं कि अनुमानमें भी अनिश्चितताका निश्चय किया गया है तो ऐसे ही समझिये कि सविकल्प ज्ञान भी प्रमाण है, क्योंकि सविकल्प ज्ञानमें भी अनिश्चितका निश्चय किया है ।

अनुमानवत् प्राथमकल्पिक होनेसे सविकल्पक ज्ञानके मुख्य प्रमाणत्व की सिद्धि—कोई शब्द सुना, ध्वनिका दर्शन हुआ तो उसके अनन्तर जो अब सविकल्प ज्ञान बनता है उस सविकल्प ज्ञानमे अनिश्चितका ही तो निर्णय बना हुआ है, इस कारण सविकल्पज्ञान प्रमाणभूत है । शब्दके सुननेसे जो अधिगम होता है, ज्ञान होता है वह भी तो प्राथमकल्पिक है अर्थात् पहिले पहिले ही उत्पन्न हुआ विकल्प है, इस कारण वह तत्त्व निर्णय ही है । क्षणिकवाद सिद्धान्तमे अनुमान ज्ञानको प्रमाण माननेका एक हेतु यह बताया गया है कि प्रत्यक्षसे जो कुछ देखा पदार्थका स्वलक्षण उसके बाद जो पदार्थकी क्षणिकता निरंशता या उसका उस निज सामान्य स्वरूपका जो निश्चय होता है उस निश्चयमें यद्यपि विकल्प पडा है लेकिन वह पहिला विकल्प है । निर्विकल्प दर्शनके बाद जो पहिली बार विकल्प हो वह प्रमाण मान लिया गया

है। अनुमान प्रमाणमे यही बात बता करके प्रमाणता स्वीकार की है। तो तत्त्वनिर्णय भी तो प्राथमकल्पिक हुआ अर्थात् पहिले ही विकल्प हुआ, आदिभूत ज्ञान हुआ। तो जैसे उस आदिभूत विकल्पकी बात कहकर अनुमानमे प्रमाणता और तत्त्व निर्णयकी बात कहकर अनुमानमे प्रमाणता और तत्त्व निर्णयकी बात कही जाती है तो इसी प्रकार यहाँ जो कुछ भी सविकल्प ज्ञान होता है, इद्रिय द्वारा पदार्थोंका परिज्ञान, वह निर्णय भी तत्त्व व्यवस्था होनेसे मुख्य प्रमाण कहलायगा।

तत्त्वनिर्णीतिको मुख्य प्रमाण न माननेपर निर्विकल्प प्रत्यक्षमे प्रमाणत्वकी असिद्धि—यदि उस निर्णीतिको नही मानते उस तत्त्व निर्णयको मुख्यप्रमाण नही स्वीकार करते तो निर्विकल्प दर्शन भी प्रमाण न ठहर सकेगा, क्योंकि जहाँ कुछ सम्वाद न पाया जाय, कुछ निश्चय न पाया जाय वह विसम्वाद कहलायेगा। वहाँ जानकारी कुछ नही है। तो निर्विकल्प दर्शनमें विसम्वादकता आनेसे प्रमाणता न रह सकेगी, क्योंकि दर्शनमे जो देखा वह न देखेकी तरह है। देखा तो क्या? न देखा तो क्या?, न देखनेमे भी तत्त्वनिश्चय नही है। तो जैसे दर्शन नही किया जा रहा तो उसे प्रमाण तो नही माना, क्योंकि वहाँ तत्त्वका निर्णय नही पडा हुआ है, कोई जानकारी ही नही बन रही है। तो जैसे अदर्शन तत्त्वनिश्चय न होनेसे अप्रमाण है, ऐसे ही दर्शन भी तत्त्वनिर्णय न होनेके कारण अप्रमाण है।

तत्त्वनिर्णयके आधारपर प्रामाण्य न माननेपर अनिष्टप्रसङ्ग—शङ्काकार कहता है कि हम निर्णयके आधारसे तत्त्वकी व्यवस्था नहीं बनाते किन्तु परम्परासे दर्शनके आधारपर हम वहाँ तत्त्व निश्चय बनाते हैं, अर्थात् अनुमानको हमने जो प्रमाण माना है सो उसमे जो तत्त्व व्यवस्था बनायी गई है उस निर्णयके आधारपर अनुमानको प्रमाण नही बनाया, किन्तु अनुमानने उसको ही सिद्ध किया है जैसा कि दर्शन द्वारा पहिले जाना गया था। प्रत्यक्षज्ञानने जो कुछ समझा था, देखा था उसकी ही परम्पराको अनुमान प्रमाणने जाहिर किया, उस ही का दिग्दर्शन कराया, इस कारण अनुमान प्रमाण है, निर्णयके कारण प्रमाण नही है। तो समाधानमें सुनो कि तत्त्वनिर्णयके अभावमे भी अर्थात् तत्त्वनिर्णयके आधार बिना अनुमान प्रमाणमे तत्त्वनिश्चयकी बात स्वीकार करली है तो अब देखिये तत्त्वनिश्चयमे बात यही तो पडी हुई है कि यह उससे भिन्न पदार्थके समारोपका निराकरण करता है, क्षणिकवादमे अन्य व्यावृत्तिको प्रमाण माना है। जैसे गायका ज्ञान करना है तो गायका सीधा ज्ञान नही बताया किन्तु अगायका निराकरण किया याने यह पदार्थ अगाय नही है, गायको छोडकर जगतके बाकी समस्त अनन्त पदार्थ ये नही हैं। इस रूपमे वस्तुका निश्चय बताया है। तो अब देखिये। कि अविकल्पज्ञानमे भी यह अन्यव्यावृत्ति बराबर बनी हुई है। नील पदार्थमें यह अनील नहीं है, नीलको छोडकर अन्य कुछ नही है, इस

प्रकारका विवेक, विभाजन शब्दार्थके परिज्ञानसे हो ही जाता है और जहाँ अन्यव्यावृत्ति हो उसे प्रमाण स्वीकार किया गया है। तो सविकल्प ज्ञानमें भी अन्यव्यावृत्ति पडी हुई है। भले ही एकदम किसी शब्दसे उसके वाच्य अर्थका बोध कर लिया। चौकी कहा तो एकदम इन चार कोनो वाली चौकीका ज्ञान कर लिया, पर यह ज्ञान इस निर्णयके साथ बना हुआ है कि यह चौकी है, अन्य कुछ नहीं है। तो अन्य कुछ चीज नहीं है ऐसा निर्णय होनेके कारण यहाँ अन्यव्यवच्छेदकी बात अपने आप पडी हुई है, इस कारण यह सविकल्प ज्ञान भी प्रमाण ही कहलायेगा। यहाँ प्रसग यह चल रहा है कि तत्त्वज्ञान प्रमाण ही होता है। अब तत्त्वज्ञान जैसे निर्विकल्प दर्शनमें माना है और निर्विकल्प दर्शनके विषयभूत स्वलक्षणका प्रतिपादन करने वाले, निश्चय करने वाले अनुमानको भी प्रमाण माना है तो अनुमान और उस निराकार दर्शनसे भिन्न है, यह इन्द्रियजन्य ज्ञान, इद्रियजन्य ज्ञानमें जो निश्चय बना हुआ है वह भी यथार्थ है। इस कारण यह सविकल्प ज्ञान इन्द्रियजन्य ज्ञान भी प्रमाणभूत है, और उसका यह इद्रिय जन्य ज्ञान प्रमाण हो गया तो अब प्रमाणकी दो सख्या बताना कि प्रत्यक्ष और अनुमान ये ही दो प्रमाण हैं, इस प्रकारकी सख्याका नियम करना खण्डित हो जाता है। तो इस प्रकार तत्त्वज्ञानको प्रमाण मानना चाहिए और प्रत्यक्ष अनुमानके अलावा जो यह व्यावहारिक सविकल्प ज्ञान है उसे भी प्रमाण स्वीकार करना चाहिये।

स्मृतिज्ञानकी तत्त्वज्ञानरूपताके कारण प्रमाणता—शङ्काकार कहता है कि निश्चित अर्थकी स्मृतिमें भी इस तरह प्रमाणता आ जायगी अर्थात् यदि अन्यके व्यवच्छेद करनेपर प्रमाणता मान ली जाती है, अथवा विसंवादकपना न होनेसे अथवा तत्त्वनिर्णय होनेसे यदि प्रमाणता स्वीकारकी जाती है तब तो जहाँ केवल पदार्थका स्मरण हो रहा है उस स्मरणज्ञानको भी प्रमाण मानना पडेगा। इसके समाधानमें कहते हैं कि इस सम्बन्धमें यह विचार करें कि जो स्मृति हुई उस स्मृतिसे कोई प्रमिति विशेष हुई अथवा नहीं? यदि प्रमिति विशेष नहीं हुई अर्थात् कोई विशेष जानकारी नहीं हुई तो कभी भी किसी तरह किसी भी जगह अग्निका अनुमानसे ज्ञान किया तो वहाँ पर भी तो पहिले निर्णीत अर्थका स्मरण किया गया ना, तब अनुमान भी जाने हुए पदार्थका ही जानने वाला होनेसे प्रमाण न रहेगा, क्योंकि उस अनुमानमें भी कोई विशेष प्रमिति नहीं उत्पन्न हुई, किन्तु जो पहिले समझ लिया था वही अब जाना जा रहा है, जैसे कि स्मृतिके लिए कहते हो कि पहिले निश्चित अर्थ किया था तो पहिले जाने गए पदार्थका ही तो स्मरण बना हुआ है, तो उस स्मरणके बलपर उसे प्रमाण न माना जायगा क्योंकि अनधिगत अर्थको स्मरणने नहीं जाना। स्मरण होता है तो किसी पहिले अनुभव किए गए पदार्थका ही तो होता है तो पहिले अनुभव किए गए पदार्थ जाने ही तो गए थे तो पहिले जाने गए पदार्थको ही स्मरणने जाना इस कारण वह प्रमाण नहीं है, तो अनुमानमें भी हुआ क्या करता है? पहिले किसी पदार्थका

ज्ञान कर लिया था रसोईघर आदिकमे, अग्नि और धूम दोनोको जान लिया गया था, अब पहिले जाने हुए सम्बन्धका ही तो अनुमानमे स्मरण बनाते हैं तो पहिले जाने गए पदार्थका स्मरण होनेसे फिर अनुमान ज्ञान भी प्रमाण न होगा। तो स्मरण ज्ञानमे कुछ जानकारी विशेष हुई मानते हो या नही, ऐसे दो विकल्पोमेसे यदि पहिली बात स्वीकार कर रहे हो कि कोई जानकारी विशेष नही होती, किन्तु जैसा जाना था उसका ही स्मरण हो रहा, तो यही बात अनुमानज्ञानमे भी है। जिस साध्य साधनके सम्बन्धको पहिले जान रखा था उस ही चीजको अनुमानसे यहाँ जाना जा रहा है तब तो अनुमान भी प्रमाण न रहेगा। यदि कहो कि स्मरण ज्ञानमे कोई जानकारी विशेष बनती है तब तो ठीक है, तब तो प्रमाण मान लेना ही चाहिए कि स्मरण ज्ञान प्रमाण है, क्योकि उसमे प्रमिति विशेष होती है।

समारोप होनेपर निश्चित अर्थके ज्ञानमे भी प्रमाणताका अवकाश— और भी देखिये। जिसका निर्णय हो गया है उसके भी ज्ञानका प्रामाण्य मान लेनेपर भी कोई अतिप्रसङ्ग नहीं, इसका कारण यह है कि पहिले जान भी लिया हो लेकिन बीचमे अनिश्चित हो गया हो तो उस अनिश्चित पदार्थका निश्चय किया जानेसे वह प्रमाण हो जाता है। जैसे कि अनुमान ज्ञानमे जिस साधनको जाना अथवा जिस साध्यको जाना उन साध्य-साधनोका पहिले तो निश्चय कर ही लिया गया था। तो प्रत्यक्षसे जानी हुई जैसे अग्निमे जब ज्वालादि विशेष उठती है तब उस अग्निका अनुमान किया जाता अथवा उसकी स्मृति होती। तो अनुमान ज्ञानमे जब कुछ जान गया है तो उसकी अनिश्चिति हो गई थी उसको ही तो जाना गया अथवा प्रकृत निर्णयमे वह कुछ नया ही जान रहा है इस कारण वह प्रमाण है, अगर कुछ नया जानन न बने तो अप्रामाण्य हो सकता है। जब स्मरण ज्ञानमे, अनुमान ज्ञानमे कोई जानकारी विशेष होरही है इस कारणसे स्मृतिमे अप्रामाण्यकी कल्पना नही होसकती।

स्मृतिको अप्रमाण माननेपर अनुमानके उत्थानकी असम्भवता— यदि जानकारी विशेष होनेपर भी स्मृतिज्ञानको अप्रमाण कर दिया जाय तो अनुमान भी उठ नही सकता, क्योकि अनुमान ज्ञान तब बनता है जब कि सम्बन्धका स्मरण हुआ हो और सम्बन्धके स्मरणको अप्रमाण माना गया है। सम्बन्धके स्मरणका नाम है स्मृतिज्ञान। स्मृतिज्ञानको अप्रमाण माना जा रहा है, तब किस तरह सम्बन्धके ज्ञानसे होने वाले अनुमान ज्ञानको प्रमाण कहा जा सकता है? यदि उस स्मृतिज्ञानका भी जो कि अनुमान ज्ञान करनेके लिए सम्बन्धका स्मरण किया गया है उस स्मृति ज्ञानको भी अनुमान होनेके कारण प्रमाण मानोगे अथवा उस सम्बन्ध स्मरणका अनुमान ज्ञान द्वारा प्रमाण मानोगे तो उस दूसरे अनुमान ज्ञानमे भी सम्बन्धका स्मरण तो करना ही पडेगा। तो जब उसमे सम्बन्धका स्मरण करना होगा तो वहाँ भी यह

आपत्ति आयगी कि वह किस तरह प्रमाण है ? यदि अन्य अनुमानसे प्रमाण बनता है तो उस अनुमानमे भी सम्बन्ध तो जानना ही होगा। उस सम्बन्धका अन्य अनुमानसे प्रमाण मानोगे तो यो अनवस्था दोष हो जायगा क्योकि परापर सम्बन्धकी जो स्मृतियाँ हैं उनमे अनुमानरूपकी कल्पना करते जायेंगे और उनका कहीं भी अवस्थान नहीं हो सकता। सम्बन्ध स्मरणके बिना अनुमान उठा नही करता है। तो स्मृति ज्ञानको यदि प्रमाण न माना जायगा तो अनुमान ज्ञान भी प्रमाण नहीं कहला सकता। अनुमान ज्ञानकी प्रमाणता ही है जब कि स्मृति ज्ञानको प्रमाण मान लिया जायगा। बहुत दूर जाकर भी आखिर सम्बन्ध स्मृतिको प्रमाण मानना ही पडेगा, और स्मृतिका उपयोग विशेष भी होता है इसलिए स्मृतिज्ञानमे प्रमाणपना बिल्कुल युक्तिसगत है, क्योकि उसमे विसम्वाद नही है। जिस जिस ज्ञानमे विसम्वाद नही होता, सशय विपर्यय, अनध्यवसाय नहीं होता वे सब ज्ञान प्रमाणभूत हुआ करते हैं। तो स्मृति जब प्रमाण हो गया तब यह सख्याका नियम बनाना ठीक न रहा कि प्रत्यक्ष और अनुमान केवल ये दो ही प्रमाण हुआ करते हैं।

स्मृतिज्ञानका प्रमाणत्व सिद्ध होनेसे एकान्तमतमें अभिमत प्रमाण सख्याका निराकरण—जब स्मृतिज्ञानको प्रमाण मानना ही पडा, और व्यवहारमें भी यह बात अच्छी प्रकार जानी जाती है कि स्मृतिज्ञान प्रमाण होता ही है तब अन्य अन्य दार्शनिकोंने जो अन्य अन्य प्रकारसे ३ प्रमाण, ४ प्रमाण, ५ प्रमाण माने हैं, उनकी ऐसी सख्याका नियम बनाना भी खण्डित हो जाता है, क्योकि भले ही ३—४—५—६ प्रमाण माने हैं, किन्तु उन सबमें स्मृतिज्ञानको नहीं माना गया है, स्मृतिका अन्तर्भाव उनके तीसरे, चौथे, ५ वें छठवें प्रमाणमे नहीं होता। आगम, उपमान, अर्थापत्ति और अभाव ये प्रमाण उन्होंने ज्यादह माने हैं कोई मानता है प्रत्यक्ष अनुमान और आगम ये तीन ही प्रमाण हैं, किन्हींने माना कि प्रत्यक्ष अनुमान, आगम उपमान ये चार प्रमाण हैं, किन्हींने माना कि प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान और अर्थापत्ति ये ५ प्रमाण हैं किन्हीने इन्हींमे अभाव बढाकर ६ प्रमाण माने हैं। लेकिन स्मृतिज्ञानका न आगममे अन्तर्भाव है, न उपमानमे, न अर्थापत्तिमें और न अभावमें अन्तर्भाव है। इस कारणसे ३—४—५—६ की सख्या भी सही नहीं होती। यह सख्या भी निराकृत हो जाती है।

स्मृतिकी आगमादिकमे अन्तर्भावकी अशक्यता—सम्बन्ध स्मृतिका यदि आगममें अन्तर्भाव माना जाय तो जैसे सम्बन्ध स्मृतिको अनुमानमे अन्तर्भूत करनेकी स्थितिमे अनवस्था दोष आया था उसी प्रकार आगममें इस सम्बन्ध स्मृतिको अन्तर्भूत करनेपर अनवस्था दोष आयगा। क्योकि जिस सम्बन्ध स्मृतिको आगम माना है, अथवा सम्बन्ध स्मृतिका आगमके द्वारा ज्ञान किया है तो आगममे शब्द रचनायें होती

है, शब्दरचनाओंकी स्मृति बिना आगमका भी स्वरूप नही बनता और सम्बन्धस्मृति का आगमसे ज्ञान माना जा रहा है, तो जिस आगमसे सम्बन्ध स्मृतिका ज्ञान किया जा रहा है उन आगमोमे जो शब्दसम्बन्ध है उसका ज्ञान करनेके लिए अन्य आगम मानना पडेगा। यदि कहा जाय कि उस ही आगमसे सम्बन्ध स्मृति होती है और सम्बन्ध स्मृतिसे उस आगमका उदय होता है तो इतरेतराश्रय दोष होगा। आगम आदिक प्रमाण स्वय अपना स्वरूप नही रख सकते, क्योकि शब्दादिकका स्मरण किए बिना आगमकी उपपत्ति नही होती है। अतएव सम्बन्ध स्मृतिको आगम आदिक प्रमाणोसे भिन्न प्रमाण मानना चाहिए और वह है स्मरण नामका ज्ञान। तो स्मरण ज्ञ न माने बिना सौगत द्वारा अभिमत दो प्रमाण नही वन सकते। नैयायिक द्वारा माने गए ४ प्रमाण नही वन सकते, प्रभाकर द्वारा माने गए ५ प्रमाण और मीमासक द्वारा माने गए ६ प्रमाण नही वन सकते। स्मृतिके बिना अन्य प्रमाणका अभ्युदय नही हो सकता। यदि यह कहा जाय कि शब्दादि स्मृति तो आगम आदिकको उठाने वाली सामग्री है। सो आगम आदिक प्रमाणको स्थापित करने वाली सामग्री होनेसे शब्दादिकका स्मरण बन जायगा और उस शब्दस्मरणसे आगम आदिकमे प्रमाणता मान ली जायगी। तो समाधानमे कहते हैं कि इसी प्रकार शब्द आदिक प्रत्यक्षको भी उसकी सामग्री होनेसे आगम प्रमाण मान लिया जाय फिर प्रत्यक्ष ही स्वय आगम बन बैठेगा। यदि अपनी-अपनी सामग्रीसे अपनी-अपनी प्रमाणता मानी जा रही है तो शब्दादिक आगममे प्रत्यक्ष ही तो है। आगममे जो शब्द लिखे है उनका हो प्रत्यक्ष है तो उसका भी उसकी सामग्रीसे ज्ञान बन जायगा, तो आगम भी अन्य चीज न कहलायेगी। जो शब्द पद आदिकका प्रत्यक्ष होता है वही आगम कहलायेगा और इस प्रकार स्मृतिकी तरह प्रत्यक्ष नामका अन्य प्रमाण न होगा।

प्रत्यक्ष और अनुमानकी तरह स्मरण ज्ञानके प्रमाणत्वकी स्थापना— यदि प्रत्यक्षको प्रमाण मानते हो तो स्मृतिको भी प्रमाण मानना पडेगा, क्योकि दर्शन के अनन्तर होने वाले विकल्पकी तरह निर्णीत तत्त्वमे कथचित् अध्यवसाय मानना ही होगा अनुमानकी तरह अर्थात् निर्विकल्प दर्शनमे वस्तुके क्षणिकत्वका निरशत्वका अध्यवसाय प्रतिभास हुआ। उस प्रतिभासमे कुछ निश्चय नहीं है। अब निश्चय करने वाला जो विकल्प होगा उस विकल्पको भी प्रमाण मानना होगा। यद्यपि प्रत्यक्षसे जो विषय जाना है उस हीको सविकल्प ज्ञानने पुष्ट किया है लेकिन निर्णीत किया गया पदार्थ भी तो किसी दृष्टिसे अनिर्णीत रहता है और उस अनिर्णीत अशका कोई ज्ञान कराये तो वह प्रमाण माना जायगा। जैसे व्याप्तिसे जानी हुई चीजको ही तो अनुमान जानता है। पर्वतमे अग्निको सिद्ध किया जाय धूम देखकर तो उस ही अग्निको तो सिद्ध किया है जिस अग्निको पहिले व्याप्तिसे ज्ञान लिया गया है। जहाँ धूम होता है, वहाँ अग्नि होती है, अग्निके होनेपर ही धूम होता है, ऐसा व्याप्तिकाजिसे ज्ञान है

यही तो अनुमानज्ञान कर सकेगा। तो अनुमानज्ञानमे भी एकदम नई बात तो उसने नही जानी। जिसको व्याप्तिसे पहिले समझ रखा था उसका ही तो ज्ञान किया गया। तो यद्यपि पहिले निर्णीत पदार्थमे ही अनुमानज्ञान हुआ लेकिन वहाँपर भी अन्य तरह से तो कोई विशेष पुष्टि है, इस कारणसे वह प्रमाण माना गया है। इसी प्रकार स्मृतिज्ञानमे भी यद्यपि पहिले अनुभव किये गए पदार्थका ही ज्ञान हो रहा है, लेकिन स्मृतिज्ञानमे कुछ अन्य ढङ्गसे और कुछ विशेष निर्णय है, इस कारण वह प्रमाण होगा यो स्मृतिज्ञान भी प्रमाण है।

स्मृतिज्ञानकी तरह प्रत्यभिज्ञानकी प्रमाणताका स्थापन—स्मृतिज्ञान की तरह प्रत्यभिज्ञान भी प्रमाण है। जैसे कि स्मृतिज्ञान अविसम्वादी ज्ञान होनेसे प्रमाण है यो ही प्रत्यभिज्ञान भी अविसम्वादी होनेसे प्रमाण है। प्रत्यभिज्ञानकी जानकारीमे भी कुछ विशेष जानकारी बना करती है प्रत्यक्ष आदिककी तरह। जैसे कि प्रत्यक्ष प्रमाणमे कोई व्यवसाय विशेष है, कोई निश्चय है, प्रतिभास विशेष है इस कारण प्रत्यक्ष प्रमाण है। ऐसे ही प्रत्यभिज्ञानमे भी कोई व्यवसाय विशेष है इस कारण वह प्रमाण है। प्रमाणपनेकी व्यवस्था व्यवसायकी विशेषताके आधीन होती है। और जो विसम्वाद रहित ज्ञान है जिसमें जानकारी विशेष है अथवा जानकारीकी दृढता है, जहाँ संशय, विपर्यय अनध्यवसायका निराकरण है ऐसा जो सम्वादी ज्ञान है वह स्वार्थ व्यवसायात्मक होता ही है अर्थात् अपने स्वरूपका तथा जो कि ज्ञानमे विषय हुआ है उसका निश्चय करने वाला होता ही है। यदि अविसम्वादी ज्ञान अपने विषयभूत अर्थका निश्चायक न हो तो वहाँ विसम्वाद होना चाहिए। तो जहाँ विसम्वाद है वहाँ स्वार्थका निश्चय नहीं है, जैसे संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय ज्ञानोमे अर्थव्यवसायकपना नहीं है इसलिए उन्हें विसम्वादी ज्ञान माना गया है, किन्तु यह प्रत्यभिज्ञान तो अव्यवसायी नहीं है, निश्चय करने वाला न हो ऐसा नहीं है, क्योकि जब यह जाना कि यह वह ही है, यह उसके सदृश ही है तो यहाँ एकत्व और सादृश्य जो विषयभूत हुए वे वास्तविक ज्ञानके विषयभूत अर्थ हैं और, उनका निश्चय किया गया है

प्रत्यभिज्ञानकी अपूर्वार्थविषयिता व सवादकताका परिचय—प्रत्यभिज्ञानके अनेक भेद होते हैं जिनमे किसी भी प्रत्यभिज्ञानको उदाहरणमें लिया जाय, जैसे एकत्व प्रत्यभिज्ञानको उदाहरणमें लिया तो उसका रूप है 'तदेव इद' यह वह ही है, तो इसमे जाना क्या गया ? न 'यह' जाना गया, न 'वह' जाना गया, किन्तु वर्तमान और भूतकालमें समझा गया जो पदार्थ है उसकी एकताका ज्ञान किया है। 'यह' इतना तो प्रत्यक्षका विषय है, 'वह' इतना स्मरणका विषय है। सो उनका ज्ञान करने वाले प्रत्यक्ष और स्मरण ज्ञान अलग हैं, लेकिन "यह वही है" इसमें न तो 'यह' विषय आया और न अतीत कालका 'वह' विषय आया, किन्तु उतने कालमे उसमे जो एकता

रही, यह एकता विषयमे आयी है, इसी प्रकार सादृश्य प्रत्यभिज्ञानमे यह ज्ञान होता है कि "यह इसके सदृश है" इसमे भी न 'यह' विषय आया न 'वह' विषय आया, किंतु वर्तमानमे रहने वाले पदार्थकी और स्मरण किए गए पदार्थकी सदृशता विषयभूत हुई है। तो प्रत्यभिज्ञानने अपने विषयका निश्चय किया है और अपने विषयमे कोई शङ्का आये उसका या अन्य किसी भी विषयका निराकरण पडा हुआ है। यदि एकत्व और सादृश्य प्रत्यभिज्ञानमे बाधा आती हो तो वह अप्रमाण हो जायगा। प्रत्यभिज्ञानाभास भी हुआ करता है। जो प्रत्यभिज्ञान सही ढगमे वस्तुको विषय न कर सके, किन्तु प्रत्यभिज्ञान जैसा आकार बनाया हो तो वह प्रत्यभिज्ञानाभास है। वह बाधित होता है। जैसे सशय विपर्यय ज्ञानमे जो कुछ बोध होता है वह बाधित हो जाता है। और, जानने वाले समझते हैं कि यह वह न था जैसा कि हम समझ रहे थे, ऐसे ही जो झूठा प्रत्यभिज्ञान होता है वह भी बाध्यमान ही हो होता है, जो प्रत्यभिज्ञान है वह अपने अर्थको विषय करता है। सम्वादी ज्ञान है अत वह प्रमाण है।

प्रत्यभिज्ञानका अन्य प्रमाणोमे अनन्तर्भाव—प्रत्यभिज्ञानके विषयको प्रत्यक्ष प्रमाण नही ग्रहण कर सकता जिससे कि यह कहा जा सके कि वह तो प्रत्यक्ष प्रमाण है या प्रत्यक्षमे ही उसका अन्तर्भाव है। प्रत्यभिज्ञानके विषयमे प्रत्यक्षकी प्रवृत्ति नही हो सकती, जैसे-यह वही है इसमे एकता जानी गई है, उस एकताका परिज्ञान प्रत्यक्ष नही करा पाता। प्रत्यक्षने तो मौजूद वस्तुको बतलाया। तो प्रत्यक्षमे तो प्रत्यभिज्ञान के विषयमे प्रवृत्ति नही है। फिर वह बाधा ही क्या दे सकता है ? अनुमान ज्ञान भी प्रत्यभिज्ञानके विषयसे विपरीत वस्तुका विषय करता है अर्थात् अनुमान ज्ञान प्रत्यक्षसे जाने हुए विषयके समर्थनके लिए ही उत्पन्न होता है, ऐसा क्षणिकवादियोका सिद्धान्त है। तो प्रत्यक्षका विषय है सर्वथा क्षणिक, विसदृश निरश, उसका ज्ञान कराया अनुमानने, लेकिन प्रत्यभिज्ञान तो एकत्वका विषय कर रहा, नित्यत्वको जान रहा, सदृशताको समझ रहा, तो अनुमान ज्ञान भी प्रत्यभिज्ञानके विषयको नही जान सकता अतएव अनुमान प्रत्यभिज्ञानके विषयका बाधक न बनेगा, इस कारण मानना चाहिए कि प्रत्यभिज्ञान तत्त्वज्ञान होनेमे प्रमाण है प्रत्यक्षकी तरह।

तत्त्वज्ञान प्रमाण' इस कथनकी उपयुक्तता—उक्त प्रकार जो कारिकामे सिद्धान्त बताया—'तत्त्वज्ञान प्रमाण' जो तत्त्वज्ञान है उसे प्रमाण कहते हैं वह प्रमाण सिद्ध कथन है। प्रमाणका लक्षण कुछ आचार्योने यह भी किया है कि जो स्व और परका निश्चय कराने वाला ज्ञान है सो प्रमाण है। इस लक्षणसे प्रकृत लक्षणमे विरोध नही आता, क्योकि जितने भी वास्तविक तत्त्वज्ञान हैं वे सब स्व और परका निश्चय कराते हुए ही उत्पन्न होते हैं। तो यह अवधारण बताया जा रहा है कि तत्त्वज्ञान प्रमाण ही है, इस अवधारणके बलपर प्रमाणके विषयका विवरण होता है और सख्या

मे विवादका निराकरण होता है। जो जो भी तत्त्वज्ञान हो और अन्य प्रमाणके विषय से निराला विषय रखते हो वे सब प्रमाणरूप मानना चाहिए। इस आधारपर उपमान अर्थापत्ति ये अलगसे प्रमाण सिद्ध नही होते और स्मृतिज्ञान जिसे कि सभी दार्शनिकोने छोड दिया है उसका किसी भी प्रमाणमे अन्तर्भाव नही हुआ। तो तत्त्वज्ञान प्रमाण है अर्थात् जहाँ कुछ विशेष जानकारी होती है वह सब प्रमाण है। इस आधार पर प्रमाणकी संख्या व्यवस्थित की जाती है। यो प्रमाण मुख्यरूपमे दो भेदोमे विभक्त है—प्रत्यक्ष और परोक्ष। दर्शनशास्त्रके अनुसार प्रत्यक्षज्ञान दो प्रकारका है—लौकिक और पारमार्थिक। साव्यवहारिक प्रत्यक्ष अर्थात् लौकिक प्रत्यक्ष तो इन्द्रियजन्य ज्ञानको कहते हैं, क्योंकि प्रत्यक्षकी भाँति साव्यवहारिक प्रत्यक्षमे एकदेश विशद बोध होता है किन्तु वास्तवमे यह परोक्षज्ञान ही है, क्योकि इन्द्रियज्ञानसे जो कुछ प्रत्यक्षमे आ रहा है वह पदार्थ सम्पूर्ण प्रत्यक्षमे नही आ पाता। उसका कोई हिस्सा, उसका कोई धर्म ही प्रत्यक्षमे आ रहा है। दूसरी बात यह है कि प्रत्यक्षज्ञान इन्द्रियाधीन नही होता, किन्तु साव्यवहारिक प्रत्यक्ष इन्द्रियाधीन ज्ञान है, इस कारण साव्यवहारिक प्रत्यक्ष वस्तुत परोक्ष है लेकिन परमार्थ प्रत्यक्षकी भाँति उसकी विशदताकी जातिकी तरह इस इन्द्रियजन्य ज्ञानमें भी कुछ विशदता आती है, इस कारण इसे प्रत्यक्ष कहा गया है, शेष ज्ञान सब परोक्षज्ञान हैं। स्मरण, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान ये सब परोक्ष ज्ञान कहलाते हैं।

तर्कज्ञानकी प्रमाणता व तर्कज्ञानका प्रत्यक्षमे अनन्तर्भाव—तत्त्वज्ञान प्रमाण ही है, इस कथनसे यह सिद्ध होता है कि जितने भी तत्त्वज्ञान हो, स्व और अपूर्व अर्थका निश्चय करने वाले ज्ञान हो वे सब प्रमाणभूत होते ही हैं। अब तक प्रत्यक्ष, अनुमान, स्मृति, प्रत्यभिज्ञान इन चार प्रमाणोकी सिद्धि की गई है। अब तर्क ज्ञानके सम्बन्धमे कह रहे हैं कि साध्य साधन सम्बन्धका ज्ञान भी प्रमाणभूत है क्योकि तर्कज्ञानमे भी अनिश्चित अर्थका निश्चय होता है अनुमानकी तरह। जैसे अनुमान प्रमाणमे निश्चित् साधनके द्वारा अनिश्चित साध्यका ज्ञान किया गया है। लिङ्ग और लिङ्गीके सम्बन्धके ज्ञानमे अर्थात् साधन और साध्यका परस्परमे अविनाभाव सम्बन्ध है, इस प्रकारका ज्ञान न तो प्रत्यक्ष कर सकता है और न अनुमान कर सकता है। प्रत्यक्ष ज्ञान अविनाभाव सम्बन्धको जाननेमे असमर्थ है, क्योकि प्रत्यक्षज्ञान अर्थात् निराकार दर्शन तो सन्निहित अर्थाकारका अनुकरण करता है अर्थात् जो सामने पदार्थ उपस्थित हो उसके आकारका मात्र प्रतिभास करता है। सम्बन्धज्ञान साध्य और साधनका अन्वय और व्यतिरेककी पद्धतिसे व्याप्तिका ज्ञान करता है। जैसे सत्त्व और क्षणिकत्व इनका समस्तरूपसे व्याप्तिका ज्ञान होना तर्क ज्ञान है अर्थात् जो कुछ सत् है वह सब क्षणिक है, ऐसा क्षणिकवादियोके सिद्धान्तमे माना है। तो व्याप्ति ज्ञानको पाने बिना अनुमानमे वे क्षणिकपनेकी सिद्धि नही कर सकते। तो सत्त्व और क्षणिक

त्वमे समन्त रूपसे जो व्याप्तिका ज्ञान होना है उस ज्ञानमे प्रत्यक्ष समर्थ नही है या लौकिक अनुमान ली जए—धूम देखकर धूमका कारणभूत अग्निका ज्ञान किया जाता है तो यहाँ धूप और धूमके कारणके जो सब प्रकारसे व्याप्तिका ज्ञान किया जाता है उसे प्रत्यक्ष ज्ञान नही कर सकता, क्योकि वह व्याप्तिका ज्ञान सन्निहित पदार्थ नही है। प्रत्यक्ष ज्ञान केवल सन्निहित पदार्थके आकारका अनुकरण करता है सौगत-सिद्धान्तके अनुसार पदार्थके आकारका ग्रहण करता है।

तर्कज्ञानका प्रत्यक्षमे अन्तर्भाव न हो सकनेका कारण—प्रत्यक्ष होते है चार प्रकारके—इन्द्रियज प्रत्यक्ष मानसिक प्रत्यक्ष और देशसम्वेदन प्रत्यक्ष, चौथा प्रत्यक्ष होता है योगिप्रत्यक्ष। तो तीन प्रकारके होने वाले अयोगियोके प्रत्यक्षसे और चतुर्थ प्रकारके निरालम्ब योगिप्रत्यक्षसे व्याप्तिका ज्ञान नही बन सकता, क्योकि इन सब प्रत्यक्षोमे परीक्षा करनेकी क्षमता नही है। योगिप्रत्यक्ष तो स्पष्ट निर्विकल्प है, वह व्याप्तिको क्या ग्रहण करेगा। और, इन्द्रियज व मानसिक प्रत्यक्ष व्यवसायको ही ग्रहण करता है। ऐसे पदार्थके विकल्पको ग्रहण करता है जो निराकार दर्शनमे प्रतिभासित हुए पदार्थके सम्बन्धमे हो अथवा इन प्रत्यक्षोसे निराकार सम्वेदनके विषयका ही परिज्ञान किया जाता हो। स्वसम्वेदन प्रत्यक्ष एक निर्विकल्प पद्धतिसे स्वका ही सम्वेदन करता है। यो इन समस्त प्रत्यक्षोमे व्याप्तिकी परीक्षाकी क्षमता नही है। इस कारण प्रत्यक्षज्ञान व्याप्तिज्ञानको नही जान सकता है। अतएव तर्क नामका ज्ञान इस प्रमाणसे भिन्न ही प्रमाण है।

तर्कज्ञानका अनुमानमे अनन्तर्भाव—अनुमान प्रमाण भी साध्य साधनकी व्याप्तिका ज्ञान नही कर सकता है। यदि साध्य-साधनकी व्याप्तिका ज्ञान अनुमान प्रमाणसे माना जायगा तो जिस अनुमानसे व्याप्तिका ज्ञान कराया गया है वह अनुमान भी तो व्याप्तिज्ञानपूर्वक ही तो होता। साध्य साधनकी व्याप्तिका ज्ञान हुए विना अनुमान प्रमाणका उदय नही होता। तो अनुमानज्ञानमे जो व्याप्तिका ज्ञान करना पड रहा है उसका ज्ञान यदि अन्य अनुमान ज्ञानसे हो तो तब तो अनवस्था दोष आता है। यदि अनुमान ज्ञानमे जो व्याप्तिज्ञान है वह उसी ही अनुमानसे जान लिया जाय तो इसमे इतरेतराश्रय दोष होता है। जब व्याप्तिका ज्ञान हो तब अनुमान का ज्ञान हो, जब अनुमानकी उत्पत्ति हो तब व्याप्तिका ज्ञान हो। तब अनुमान प्रमाण से भी व्याप्तिका ज्ञान नही समझा जाता और स्पष्ट बात तो यह है कि निर्णीतपक्षमे निर्णीत साधनके द्वारा अनिर्णीत साध्यका ज्ञान अनुमान प्रमाणमे किया जाता है। अनुमान प्रमाणका विषय साध्य और साधनका अविनाभाव समझता नही है, किन्तु साधन निरखकर प्रकृतपक्षमे मात्र साध्यका ज्ञान करता है। अब, अनुमान प्रमाणके द्वारा साध्यका ज्ञान किया जाय इसमे सहयोगी तर्क ज्ञान है। जब पहिले साध्य साधन

के अविनाभावका परिज्ञान हो ले तब उस व्याप्तिज्ञानके पश्चात् साधन निरखकर साध्य का ज्ञान किया जाता है। तो व्याप्ति ज्ञानका विषय अनुमान प्रमाणके विषयसे भिन्न है इस कारण अनुमान ज्ञान भी व्याप्तिके ज्ञानमे समर्थ नही है। अनुमान ज्ञानसे व्याप्तिकाज्ञान माननेपर अनवस्था दोष आता है तो प्रत्येक अनुमानके व्याप्तिज्ञानको समझनेके लिए अन्य अन्य अनुमान उठते जो बहुत दूर तक भी चलते जायें तो भी साधक अनुमानकी समाप्ति न आयगी, तब व्याप्ति ज्ञान हो ही न सकेगा। बहुत दूर जाकर भी आखिर मानना यही पडेगा कि प्रत्यक्ष और अनुमानसे भिन्न कोई साध्य साधनके सम्बन्धकी व्यवस्था बनाने वाला भिन्न ज्ञान है, और वह भिन्न ज्ञान तर्क नाम का प्रमाण है।

युक्तियोसे तर्कज्ञानके प्रमाणत्वकी सिद्धि—अनुमान प्रमाणसे भी तर्ककी प्रमाणता सिद्ध की जा सकती है इस सम्बन्धमे अनुमान प्रयोग है कि तर्क नामक ज्ञान प्रमाण है अविसम्वादी होनेसे। जो जो ज्ञान विसम्वादरहित होते हैं वे सब प्रमाण होते हैं। साध्य और साधनका अन्वय और व्यतिरेक व्याप्ति द्वारा जो सम्बन्धका ज्ञान कराया जा रहा है उस ज्ञानमे किसी भी प्रकारका विरोध नहीं है, अतएव तर्क नाम का ज्ञान प्रमाणभूत है। तीसरा हेतु यह है कि तर्क नामका ज्ञान क्यो प्रमाण है, क्यो कि वह समारोपका निराकरण करता है, समारोपका अर्थ है सशय, विपर्यय और अनध्यवसाय विरुद्ध अनेक कोटियोका स्पर्श करने वाला ज्ञान सशयज्ञान कहलाता है। सशयज्ञान प्रमाणभूत नही है क्योकि वह समारोप स्वरूप है। पदार्थ तो हो कुछ, विकल्प किया जा रहा हो कुछ तो उसे विपर्ययज्ञान कहते हैं। जैसे पडी तो हो सीप और जान ली गई चाँदी तो यह विपर्ययज्ञान हुआ। विपर्ययज्ञान भी प्रमाणरूप नही है, क्योकि वह सपारोप स्वरूप है। किसी पदार्थका सामान्यतया प्रतिभास हुआ, किन्तु उसके आगे और कुछ निश्चय न किया जा सके इसको अनध्यवसाय कहते हैं, अनध्यवसाय ज्ञान भी अप्रमाण माना गया है क्योकि वह समारोप स्वरूप है। तर्क नामके ज्ञानमे समारोप नही है, वहाँ स्पष्ट परिज्ञान किया गया है इस कारण तर्क नामका ज्ञान प्रमाणभूत है। जैसे कि अनुमान ज्ञान अविसम्वादी होनेसे और समारोपका निराकरण करने वाला होनेसे प्रमाणभूत माना गया है।

तर्कज्ञानकी स्वतन्त्रता और स्वतः प्रमाणता—यहाँ शङ्काकार कहता है कि तर्क ज्ञान तो सम्बन्धज्ञानसे उत्पन्न होता है अर्थात् तर्क ज्ञान अन्य तर्क ज्ञानसे उत्पन्न होगा इस कारण इसमें अनवस्था दोष आयगा। फिर उस दूसरे तर्क ज्ञानको उत्पन्न करनेके लिए तीसरा तर्क ज्ञान होगा। यो अन्य अन्य तर्कोंके ज्ञानके लिए अन्य अन्य तर्क मानने पडेंगे, फिर किसी भी जगह तर्ककी समाप्ति न होगी। यो अनवस्था दोप आनेसे तर्क ज्ञानकी सिद्धि ही न हो सकेगी। समाधानमे कहते हैं कि तर्क ज्ञान

अन्य तर्क ज्ञानसे उत्पन्न नही होता, जिससे कि अनवस्था दोष आये और अन्य अन्य तर्क ज्ञानोका अनुसरण करना पडे। तर्क ज्ञान तो साक्षात् सीधा ही उपलब्धि और अनुपलब्धि स्वरूप ज्ञानसे ही उत्पन्न होता है प्रत्यक्षकी तरह। जैसे कि प्रत्यक्ष ज्ञान पदार्थ पाया उससे ही प्रत्यक्ष ज्ञान होने लगता या पदार्थ न पाया तो उससे प्रत्यक्ष ज्ञान हो जाता है। किसी वस्तुका सद्भाव जानना और अभाव जानना ये दोनो ही प्रत्यक्ष ज्ञान माने गए हैं। जैसे कमरेमे पुस्तकको निरखकर कहा कि पुस्तक है तो पुस्तकका जो सद्भावात्मक ज्ञान होता है वह प्रत्यक्ष है और उस कमरेमे पुस्तक न हो और पुस्तककी जिज्ञासा रखने वाला पुरुष कमरेमें जाकर निरखे तो वहाँ यह कहता है कि पुस्तक नही है, तो पुस्तक नही है ऐसा जो अभावका ज्ञान किया है वह भी प्रत्यक्ष ज्ञान है। तो जैसे प्रत्यक्षज्ञान उपलब्धि और अनुपलब्धिसे उत्पन्न होना है इसी प्रकार यह तर्क ज्ञान भी परोक्ष उपलब्धि और अनुपलब्धिसे उत्पन्न होता है। अथवा कहो कि तर्क ज्ञानकी अपनी योग्यतासे अपने विषयमे प्रवृत्ति होती है, तर्कका विषय है अविनाभाव सम्बन्धका जानना तो अविनाभाव सम्बन्धका ज्ञान, तर्क ऊहापोहसे ही हो जाता है। साध्यके होनेपर ही साधन हुआ करता है इस बातकी खोज तर्क ज्ञानने की और साध्यका अभाव होनेपर साधन नही रहा करता। इसकी भी खोज ऊहापोहने भी। तो ऊहापोहका ज्ञान अपनी योग्यतासे ऊहापोह द्वारा ही होता रहता है अतएव तर्क प्रमाण स्वतन्त्रज्ञान है और अपनी ही योग्यतासे, अपने विषयमे तर्कज्ञानकी प्रवृत्ति होती है। यो तर्क ज्ञान प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणसे भिन्न प्रकारका ही ज्ञान है और वह प्रमाणभूत है।

गृहीतग्राही बताकर तर्कज्ञानमें अप्रमाणत्वकी आशङ्का—अब यहाँ शङ्काकार कहता है कि सम्बन्ध ज्ञान तो अप्रमाण ही है। सम्बन्ध ज्ञानके मायने तर्क ज्ञान है। साध्य और साधनके सम्बन्धका बोध करने वाला ज्ञान जिसको व्याप्तिज्ञान कहते हैं वही तर्कज्ञान है। सो तर्कज्ञान अप्रमाण है, क्योंकि वह गृहीतका ही ग्रहण करने वाला है। जो ज्ञान गृहीतका ग्रहण करे उसे धारावाही ज्ञान कहते हैं। और, धारावाही ज्ञान अप्रमाण होता है। जैसे चौकीको प्रत्यक्षसे जाना, उस चौकीको उस ही रूपसे बराबर चौकी है, यों सैंकडो वार भी कोई कहे तो वह सब गृहीतग्राहीज्ञान है। नई बात कुछ नहीं समझी गई अतएव उन्मत्त चेष्टावत् वह अप्रमाण है। तो जो गृहीतका ग्रहण करता है, जाने हुए पदार्थको जानता है वह ज्ञान अप्रमाण है। अपूर्व अर्थको ही जाने वही ज्ञान प्रमाण हो सकता है। तर्क ज्ञानने उपलब्धि और अनुपलब्धि ज्ञानके पीछे ही कोई विकल्प किया वह विकल्प गृहीतके सम्बन्धमें है। जैसे अग्नि और धूमके सम्बन्धका ज्ञान तर्क ज्ञानने किया लेकिन अग्नि और धूमका ज्ञान उपलब्धि और अनुपलब्धि द्वारा पहिले ही हो चुका था। अब पहिले ग्रहण किए हुए पदार्थको ग्रहण किया तर्क ज्ञानने, इस कारण वह अप्रमाण है। साध्यका साधनके

साथ सम्बन्ध है, अग्निके कारणमे धूम उत्पन्न होता है इस प्रकारका सम्बन्ध ज्ञान करनेमे तो उपलब्धि और अनुपलब्धि जा बराबर निरखे गए हैं वही प्रमाणभूत है। उसका ज्ञान करनेके लिए तर्क नामका कोई अलग प्रमाणकी कल्पना की जाय वह युक्तिसगत नही है।

तर्कज्ञानकी अपूर्वार्थव्यवसायिता बताकर प्रमाणता घोषित करते हुए उक्त शकाका समाधान—अब उक्त शङ्काके समाधानमे कहते हैं कि इस प्रकारकी शङ्का रखने वाले पुरुषोका वचन बिना विचारे ही निकल गया प्रतीत होता है, क्यो कि तर्क नामका जो ज्ञान है वह कथचित् अपूर्व अर्थका विषय करने वाला है इस कारणसे वह प्रमाण ही है। व्याप्तिके ज्ञान करनेके लिए जो उपलब्धि और अनुपलब्धि बताया है वह तो प्रत्यक्ष है। किसी चीजका सद्भाव निरखा गया उसे उपलब्धि कहते हैं, किसी वस्तुका अभाव निरखा उसे अनुपलम्भि कहते हैं। तो ये दोनो प्रत्यक्ष ज्ञान ही हुए और ये निकट विषयके बलपर ही उत्पन्न हुए हैं। जो सामने विषयभूत पदार्थ हुए उसको ही तो उपलब्धि और अनुपलब्धि ज्ञानने जाना। तो प्रत्यक्ष और अनुपलम्भ ये दोनो सन्निहित पदार्थको विषय करते हैं। किन्तु तर्क ज्ञान सन्निहित पदार्थको विषय नहीं करता, किन्तु विश्वमे जहाँ जहाँ भी साध्य साधन पाये जाते हैं उनके सम्बन्धका निर्णय करता है, इस कारण व्याप्ति ज्ञानका विषय अपूर्व है अतएव प्रमाण है। तर्ककी प्रमाणता प्रत्यक्ष और अनुपलम्भसे नही मानी जाती है क्योकि प्रत्यक्ष और अनुपलम्भ ज्ञान अविचारक ज्ञान है। सामने पदार्थका सद्भाव जाना गया तो बस प्रतिभास हो गया। अब यह विचार करनेमे समर्थ नही है कि जहाँ जहाँ साध्य हो वहाँ वहाँ साधन हुआ करता है अथवा पदाथकी अनुपलब्धिसे जो ज्ञान बना उसमे भी विचार करनेका सामर्थ्य नही है इस कारण प्रत्यक्ष और अनुपलब्धिसे व्याप्तिका ज्ञान नही होता, किन्तु तर्कज्ञानसे ही व्याप्तिका ज्ञान होता है। यदि कहा कि अप्रमाण होकर भी व्याप्तिज्ञान सम्बन्धकी व्यवस्था कर देगा तो यो ही प्रत्यक्ष और अनुमान ज्ञान भी अप्रमाण होकर ही अपने विषयकी व्यवस्था कर लें फिर प्रत्यक्ष और अनुमानकी प्रमाणपनाका साधनोका परिश्रम क्यो किया जा रहा है? इस कारण यह न कहा जा सकेगा कि व्याप्ति ज्ञान अर्थात् तर्कज्ञान प्रमाणभूत न रहे और वह साध्य साधनके अविनाभाव सम्बन्धकी व्यवस्था बनादे क्योकि जो स्वय अप्रमाण है वह किसी जानकारीकी दृढता नही ला सकता, इस कारण तर्कज्ञानको प्रमाण मानना ही पडेगा।

अर्थापत्तिसे साध्यसाधन सम्बन्ध ज्ञानकी असिद्धि—अब मीमासक कहते हैं कि साध्य साधनका सम्बन्ध अर्थापत्तिसे जाना जायगा। अर्थापत्तिका अर्थ है कि चूँकि अनुमानकी उपपत्ति होती है उससे सिद्ध है कि व्याप्तिज्ञान हुआ करता है,

अन्यथा अर्थात् लिङ्ग लिङ्गीका सम्बन्ध नही होता तो उपपत्ति नही बन सकती थी। या अर्थापत्ति प्रमाणके द्वारा साध्य साधनके सम्बन्धका ज्ञान बन जायगा, समाधानमे कहते हैं कि उन मीमासक सिद्धान्तानुयायियोके यहाँ भी यह पूछा जानेपर कि उनकी अर्थापत्ति क्या सम्बन्ध ज्ञानपूर्वक ही बनती है अथवा सम्बन्ध ज्ञानपूर्वक नही बनती ? यह तो कहा नही जा सकता कि सम्बन्ध ज्ञानके बिना ही अर्थापत्ति बन जायगी, क्योकि अर्थापत्तिकी मुद्रा ही इस प्रकार है कि साध्यके होनेपर ही साधन होनेकी बात अर्थापत्तिमे कही जाती है। और, फिर उस साधन ज्ञानसे साध्यका ज्ञान अपने आप कर लिया जाता है। तो सम्बन्ध ज्ञान तो अर्थापत्तिमे माना ही है। अब यह बतलाओ कि अर्थापत्तिमे जो सम्बन्ध ज्ञान हो रहा है वह सम्बन्ध ज्ञान क्या अन्य अर्थापत्तिसे होता है या उस ही अर्थापत्तिसे हो जाता है ? यदि कहो कि सम्बन्धज्ञान अन्य अर्थापत्तिसे होता है तो उसमे अनवस्था दोष आ जायगा। अब दूसरी अर्थापत्ति मे भी सम्बन्धका ज्ञान अनिवार्य है, अन्यथा उस अर्थापत्तिका उदय नही हो सकता। तो उस सम्बन्ध ज्ञानके करनेके लिए क्या अन्य अर्थापत्तिका अनुसरण होगा ? फिर उसमे भी सम्बन्ध ज्ञान पडा हुआ है ? उसके ज्ञानके लिए फिर अन्य अर्थापत्ति माननी होगी। इस तरह परापर अर्थापत्ति मानते चले जाये, कही भी इसकी समाप्ति नही हो सकती। यदि कहो कि अर्थापत्तिमे रहने वाला सम्बन्धज्ञान उस ही अर्थापत्तिसे हो जाता है तो इसमे इतरेतराश्रयका दोप आता है। जब अर्थापत्ति सिद्ध हो ले तब सम्बन्धज्ञान सिद्ध होगा, जब सम्बन्धज्ञान सिद्ध हो ले तब अर्थापत्ति प्रमाण सिद्ध होगा, इस कारणसे अर्थापत्तिकी सिद्धि भी न होगी और न सम्बन्ध ज्ञानकी सिद्धि होगी। तो अर्थापत्तिको सम्बन्ध ज्ञानपूर्वक माननेमे तो अनवस्था दोष आता है और यदि सम्बन्ध ज्ञानपूर्वक अर्थापत्ति नही है, ऐसा स्वीकार करते हो तो फिर जब उसमे सम्बन्ध ज्ञानका समझना न हो सका, सम्बन्ध पडा ही नही है तो अन्य प्रकारसे भी कोई बात हो जाय, जो अर्थापत्तिके प्रतिकूल हो उसमे भी अर्थापत्ति होना मान लिया जायगा। इस कारण सम्बन्धपूर्वक नही है अर्थापत्ति, ऐसी हुई अर्थापत्तिसे प्रकृत साध्य साधनका सम्बन्ध जाना गया तो वहाँ अर्थापत्तिका स्वरूप ही न रह सका और परस्पर आश्रयकी बात तो अभी बता ही दी गई थी कि यदि साध्य साधनकी सबध विषयक इस अर्थापत्तिसे साध्य साधनका सम्बन्ध माना जाय तो यह दोष आता है कि अनुमानज्ञान होनेपर तो अन्यथानुत्पत्तिसे सम्बन्ध ज्ञान समझा जायगा और सम्बन्ध ज्ञान विदित होनेपर अनुमान ज्ञान बन सकेगा। तब किसी एकका भी उदय नही हो सकेगा।

उपमान आदि किसी प्रमाणसे भी साध्यसाधनकी सिद्धि न होनेसे साध्य साधन सम्बन्ध ज्ञान करने वाले तर्कज्ञानकी निर्बाध प्रमाणता—ऐसा भी नही कह सकते कि सम्बन्धको ग्रहण करने वाली अर्थापत्तिको सिद्ध करने वाला,

उस अर्थापत्तिको प्रकट करने वाला कोई अन्य ज्ञान हो, जिससे कि अनुमान उनसे सम्बन्ध ज्ञानको बतानेमें परस्परका आश्रयता दोष दूर किया जा सके। तात्पर्य यह है कि तर्कज्ञान माने बिना न तो अर्थापत्ति सिद्ध होती है, न हेतुका जो प्रधान लक्षण है अन्यथानुपपत्ति, न वह ही सिद्ध होती है, और न अनुमान प्रमाण सिद्ध होता है। तर्क ज्ञान मानना ही होगा तब अन्य प्रमाणकी व्यवस्था बनेगी और तर्कज्ञानमें जो साध्य-साधनके सम्बन्धका ज्ञान कराया जाता है वह भी निर्बाध सिद्ध हो जायगा। कोई यह भी न कह सकेगा कि सनो उपमान आदिक अन्य प्रमाणसे साध्य साधनके सम्बन्धका ज्ञान सिद्ध हो जायगा, क्योंकि उपमान प्रमाणका यह विषय नहीं है कि साध्य साधन की व्याप्ति जानी जाय। उपमान तो सामने देखे गए पदार्थके स्मरणमें आये सदृश पदार्थके साथ तुलना करा देता है। साध्यके साथ साधनकी व्याप्ति है यह विषय उपमान प्रमाणका नहीं, अन्य प्रमाणका भी नहीं, इस कारण उपमान आदिक प्रमाणों से भी साध्य साधनके सम्बन्धका ज्ञान नहीं कराया जा सकता है। इन सब प्रमाणोंसे भिन्न तर्क नामका प्रमाण मानना ही होगा।

समस्त तत्त्वज्ञानोंके मूल प्रकार प्रत्यक्ष व परोक्ष—उक्त प्रकार प्रत्यक्ष अनुमान, स्मृति, तर्क, प्रत्यभिज्ञान इन प्रमाणोंकी सिद्धि की गई है। वस्तुतः ये सब प्रमाण मतिज्ञानके ही अवान्तर हैं। आगम प्रमाण श्रुतज्ञानसे सम्बन्धित है। इन प्रमाणोंके अतिरिक्त उपमान आदिक अन्य प्रमाण भी कुछ लोग मानते हैं। तो ऐसे अन्य प्रमाण चाहने वाले पुरुष तर्क प्रत्यभिज्ञान स्मरण इन प्रमाणोंका निषेध करें तो यह उनकी मूढ़ताको प्रकट करने वाली बात है। अब तक जो प्रमाण सिद्ध किए गए हैं उनकी और उनसे अतिरिक्त जो साक्षात् प्रत्यक्षभूत प्रमाण हैं उन सब प्रमाणोंको संक्षेपरूपमें कहा जाय तो प्रमाणके दो भेद समझना चाहिए—प्रत्यक्ष और परोक्ष। अनुमान आदिक प्रमाणोंका परोक्षमें अन्तर्भाव होता है। प्रत्यक्ष ज्ञान स्पष्ट ज्ञानको कहते हैं और ऐसा प्रत्यक्ष ज्ञान तीन प्रकारके आश्रयमें उत्पन्न हुआ है अथवा कहो कि तीन प्रकारका प्रत्यक्ष होता है—इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष, मानसिक प्रत्यक्ष और अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष। प्रत्यक्ष प्रमाणमें किसी प्रकारकी भ्रान्ति नहीं हुआ करती। परोक्ष प्रमाणमें प्रत्यभिज्ञान आदिक हैं—स्मरण, प्रत्यभिज्ञान, तर्क और अनुमान। आगम भी परोक्ष प्रमाण है इसका अपर नाम श्रुतज्ञान है। ये परोक्ष प्रमाण कहे गए हैं। इस तरह प्रत्यक्ष और परोक्ष इन दो प्रमाणोंमें ही सब प्रमाणोंका संग्रह होता है और वह सब प्रमाण है तत्त्वज्ञान स्वरूप। इस कारण यह अवधारण करना बिल्कुल सही है कि तत्त्वज्ञान प्रमाण ही होता है। प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाणमें जितने भी प्रमाण आते हैं वे सब तत्त्वज्ञानके ही विकास हैं और उन सब प्रमाणोंका प्रमाणत्व भले प्रकार सिद्ध है। यों तत्त्वज्ञान प्रमाण है, यह बात युक्तिसे सिद्ध की गई है।

सकलप्रत्यक्ष स्वरूप केवलज्ञान—अब उन दो प्रकारके प्रमाणोंमेंसे प्रत्यक्ष

प्रमाणकी चर्चा कर रहे हैं। प्रत्यक्ष प्रमाणमे मुख्य प्रत्यक्ष केवलज्ञान है, जो सकल प्रत्यक्ष है, समस्त ज्ञानावरण कर्मके क्षयसे प्रकट हुआ है, एक साथ समस्त अर्थोंको विषय करता है, ऐसा यह केवलज्ञान एक साथ सकल पदार्थोंको जानने वाला है, क्यो कि इस केवलज्ञानमे इन्द्रियका क्रम और व्यवधान नही पाया जाता है। जहाँ व्यवधान पाया जाय और इन्द्रियका क्रम पाया जाय वहाँ ही यह निर्विकल्पता है कि एक साथ समस्त पदार्थोंका प्रतिभास नही कर सकता। केवलज्ञानके बाद केवलज्ञान केवलज्ञान ही होता रहता है, इस बीच किसी भी अन्य ज्ञानका व्यवधान नही आ पाता और केवलज्ञानमे समस्त पदार्थ प्रतिभासित होते हैं, सो सर्व पदार्थोंका परिज्ञान इस केवलज्ञानमे निरन्तर बना रहता है, और समस्त ज्ञानावरणोंके क्षयसे केवलज्ञान प्रकट हुआ है, इस कारण यह अतीन्द्रिय है. अपने आपकी योग्यतासे ही हुआ है, सो केवलज्ञानमे इन्द्रियका क्रम नही है, इन्द्रियका व्यवसाय ही नही है। इन्द्रियके व्यापारसे रहित केवल आत्माके आधीन यह केवलज्ञान प्रकट होता है इस कारण केवलज्ञानमे समस्त पदार्थोंका एक साथ प्रतिभास होता है। यह केवलज्ञान तत्त्वज्ञान स्वरूप है, इस कारण प्रमाणभूत है। सूत्रकार उमास्वामीने भी कहा —सर्वद्रव्य पर्यायेषु केवलस्य। केवलज्ञान का विषय समस्त द्रव्य और पर्याय है।

केवलज्ञान व केवलदर्शनकी युगपद् वर्तना—अब यहाँ शङ्काकार कहता है कि केवलज्ञान और केवलदर्शन समस्त अर्थका एक साथ प्रतिभास करे यह बात अयुक्त प्रतीत होती है। कारण यह है कि केवलज्ञान और केवलदर्शन भी क्रमसे हुआ करता है। जैसे कि चक्षु आदिक इन्द्रियसे उत्पन्न हुआ ज्ञान और दर्शन क्रमसे हुआ करता है, इस कारण एक साथ सर्व पदार्थोंका प्रतिभास चक्षु आदिकमे नही होता। ऐसे ही केवलज्ञान और केवलदर्शन चू कि दो पर्यायें हैं, ज्ञान और दर्शनरूप है तो हम लोगोके ज्ञान दर्शनकी तरह केवलज्ञान और केवलदर्शन भी क्रमसे ही होगा। और क्रमसे माननेपर फिर एक साथ सर्व पदार्थोंका प्रतिभास न कहा जा सकेगा। समाधानमे कहते हैं कि केवलज्ञान और केवलदर्शन क्रमसे नही हुआ करते। ये दोनो एक साथ चलते हैं क्योकि ज्ञानावरण और दर्शनावरणका क्षय एक साथ हुआ है। जीवके साथ ८ कर्मोंका बन्ध है, जिनमे चार तो घातियाकर्म कहलाते हैं और चार अघातियाकर्म कहलाते हैं—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अतराय ये चार घातियाकर्म हैं। इनमे प्रथम मोहनीयकर्मका क्षय होता है। उसके पश्चात् ज्ञानावरण, दर्शनावरण, और अन्तराय इन तीन कर्मोंका एक साथ क्षय होता है। तब केवलज्ञान उसी समय प्रकट होता है। तो ज्ञानावरण, दर्शनावरणका क्षय जब एक साथ होता है तो इसके क्षयसे प्रकट होने वाला ज्ञान और दर्शन भी एक साथ हुआ करता है। ज्ञान और दर्शनको क्रमसे माननेपर प्रभुकी सर्वज्ञता किसी समय कहलायेगी। कादाचित्क सर्वज्ञपना हो जायगा। कभी सर्वज्ञ रहा, कभी न रहा क्योकि केवलज्ञान, केवलदर्शन

क्रमसे प्रगर माना जाता है तो इसका तात्पर्य यह होगा कि ज्ञानके समयमे दर्शन नहीं है और दर्शनके समयमे ज्ञान नहीं है, तो दर्शनके कालमें ज्ञानका प्रभाव हुआ तो उस समयमे वह सर्वज्ञ नहीं रह सकता। अथवा ज्ञानके कालमें दर्शनका प्रभाव हो तो वह सर्वदर्शी न रह सका लेकिन भगवान केवली तो सदा ही सर्वज्ञ है और सदा ही सर्वदर्शी है। तो केवलज्ञान और केवलदर्शनमे क्रमसे वृत्ति नहीं है, अतएव केवलज्ञानके द्वारा एक साथ ही समस्त पदार्थ जान लिए जाते है। यह सफल प्रत्यक्ष है। केवल ज्ञानमे समस्त पदार्थ एक साथ प्रतिभासित होते है और केवलज्ञानका पूर्ण विकासरूप पर्याय है। इस बातकी सिद्धि इसी ग्रन्थमे सर्वज्ञ सिद्ध करते समय विस्तार पूर्वक कहा गया है, ऐसा नहीं है कि लोकमे कोई सर्वज्ञ ही न हो। सर्वज्ञकी सिद्धि "सूक्ष्मान्तरित दूरार्थ" इस कारिकाकी व्याख्या करते समय भले प्रकार करदी गई है।

केवलज्ञान और केवलदर्शनके युगपद्भावकी सिद्धि—अब यहाँ कोई यह जिज्ञासा करे कि केवलज्ञान और केवलदर्शनका एक साथ होना किस प्रकारसे सिद्ध है? तो उसका उत्तर यह है कि सामान्य और विशेषका विषय करने वाले केवलज्ञान और केवल दर्शनमे एक साथ प्रतिभासकी बात आये, यह बात असम्भव नहीं है, क्यों कि यहाँ उन दोनोंका आवरण पूर्णतया नष्ट हो गया है। ज्ञानमें स्वभाव है कि जो भी सत् हो उसका परिज्ञान करले। पर ज्ञानावरण कर्मके उदयसे ज्ञानका यह स्वभाव पूर्णतया प्रकट नहीं हो पाता था, अब जब आवरण ही नष्ट हो गया तो कोई प्रतिबंध उसके रहा ही नहीं। ज्ञानका कोई अन्य प्रतिबंधक नहीं माना गया सिवाय ज्ञानावरण के तो ज्ञानावरणका जब पूर्णतया क्षय हो गया है तो ज्ञान अपने स्वभावके कारण पूर्णतया विकसित होगा जिसमे कि त्रिकालवर्ती त्रिलोकस्थ सभी पदार्थोंका पूर्ण परिज्ञान हो जाता है। सामान्य प्रतिभासको दर्शन कहते हैं और विशेष प्रतिभासको ज्ञान कहते हैं और उनका प्रतिबन्ध करने वाला, आवरण करने वाला, उन्हे प्रवृत्त न होने देने वाला कर्म हैं ज्ञानावरण और दर्शनावरण, जिसके उदयसे हम लोगोके केवलज्ञान और केवल दर्शनका आविर्भाव नहीं होता। ज्ञानावरणके उदयके निमित्तसे केवलज्ञान की उत्पत्ति नहीं होती। और दर्शनावरणके उदयसे केवल दर्शनकी उत्पत्ति नहीं होती जब एक साथ ही आत्माकी शुद्धि बढनेके कारण उन ज्ञानावरण, दर्शनावरण, कर्मों का क्षय हो जाता है, फिर एक साथ प्रतिभास न हो सामान्य विशेषका यह कैसे सम्भव है? यहाँ विषय हैं दो सामान्य और विशेष और उनके प्रतिभासका आवरण करने वाले हैं दो कर्म-ज्ञानावरण और दर्शनावरण। जब दोनो कर्मोंका एक साथ क्षय होगा फिर सामान्य और विशेषका एक साथ प्रतिभास न हो यह कैसे सम्भव है? अर्थात् सामान्य विशेष प्रतिभास एक साथ ही सम्भव है। जिनके समस्त मोहनीय कर्म और अन्तरायकर्म नष्ट हो गए हैं उन जीवोके अब कोई नया प्रतिबन्ध कैसे सम्भव हो सकता है? प्रतिबन्ध अर्थात् रोकने वाली वस्तु। प्रतिबन्ध है, उसमे साक्षात् रागद्वेषा-

दिक भाव ये ज्ञान और दर्शनका रुकावट करते है। अब जहाँ मोहका भी क्षय है और अंतरायका पूर्णरूपसे क्षय है वहाँपर प्रतिबन्धान्तर कैसे उत्पन्न हो सकता है जिस कारण से कि एक साथ ही केवलज्ञान और केवलदर्शन न माने जायें।

मतिज्ञान श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान व मन:पर्ययज्ञानकी क्रमवृत्तिता—अब शङ्काकार कहता है कि केवलज्ञान नामक तत्त्वज्ञान एक साथ सबका प्रतिभास करने वाला हो तो हो जाय। अथवा केवलज्ञानकी सिद्धि बने तो बने किन्तु मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन पर्ययज्ञान ये कैसे एक साथ सबका अवभास कर सकने वाले होंगे? उत्तरमे कहते हैं कि यह शङ्का नही, किन्तु सिद्धान्त है—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मन पर्ययज्ञान ये सभी क्रमवर्ती हैं इन ज्ञानोका युगपत् उपयोग सम्भव नहीं है। क्रमवर्ती हुए विना इनकी प्रवृत्ति नही बन सकती है, इस कारण यह बात कही ही गई है कि मति आदिक तत्त्वज्ञान क्रमभावी हैं और वे भी प्रमाण हैं। केवलज्ञानमे एक साथ समस्त अर्थोका प्रतिभास है और केवलज्ञान केवल दर्शनके सम्भव है। ऐसा केवलज्ञान भी प्रमाणभूत है। इसी बातको उमा स्वामीने सूत्रमे बताया है—'मतिश्रुतावधिमन पर्ययकेवलानि ज्ञानम् तत्प्रमाणे'—यह समस्त तत्त्वज्ञान दो प्रमाणरूप है।

मतिज्ञान श्रुतज्ञान अवधिज्ञान व मन.पर्ययज्ञानकी लब्ध्यपेक्षया युगपत् सभवता तथा उपयोगापेक्षया क्रमवर्तिता—अब यहाँ शङ्काकार कहता है कि मति आदिक ४ ज्ञान भी एक साथ ही तो सूत्रकारने माने हैं, फिर कैसे मना किया जा रहा है? मति, श्रुत, अवधि, मन पर्यय ये चार ज्ञान क्रमवर्ती है। सूत्रजीमे बताया है कि 'तदादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्ना चतुर्भ्य' मतिज्ञान और श्रुतज्ञानको आदिसे लेकर चार ज्ञानो तक एक जीवमे एक साथ समझना चाहिए। अर्थात् मति-ज्ञान, श्रुतज्ञान एक जीवमे एक साथ हो सकते है। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान अथवा मन पर्ययज्ञान ये तीनो भी एक जीवमे एक साथ हो सकते हैं और चारो भी एक जीवमे एक साथ हो सकते हैं, ऐसा सूत्रकारका वचन है। इससे भी यह सिद्ध होता है कि चारो ज्ञान एक साथ हो सकते हैं। फिर इसे क्रमवर्ती क्यो कहा जा रहा है? इस शङ्काके समाधानमे कहते हैं कि मति, श्रुत, अवधि, मन.पर्यय ये चार ज्ञान अनुपयुक्त होकर ही एक साथ बताये गए हैं। उपयोगकी अपेक्षासे तो दो ज्ञान भी एक साथ नही हो सकते अर्थात् जब मतिज्ञानका उपयोग किया जा रहा है उस समय किसी दूसरे ज्ञानका उपयोग नही है। जब श्रुत, अवधि, मन पर्ययमेसे किसी भी ज्ञान का उपयोग चल रहा है उस समय अन्य ज्ञानका उपयोग नही है। उपयोगका अर्थ है व्यापार। जाननका व्यापार जिस ज्ञान सम्बन्धी चल रहा है उस समय अन्य जाननेका व्यापार नहीं है। तो उपयोगकी अपेक्षा ये चारो ज्ञान क्रमवर्ती हैं, पर योग्य

अपेक्षा ज्ञानावरणके उस प्रकारके क्षयोपशमकी दृष्टिसे एक जीवमे दो ज्ञानसे लेकर ४ ज्ञान तक एक साथ सम्भव हो सकते हैं।

सिद्धान्तानुसार ज्ञान दर्शनमे युगपद्भाव व क्रम वृत्तित्वकी योजना— शङ्काकार कहता है कि छद्मस्थके ज्ञानदर्शन उपयोगकी अपेक्षा यह वचन है कि एक साथ दो नही हो सकते ऐसा तो कुछ कहा नही गया। उत्तरमे कहते कि जब विशेषता से कुछ नही कहा गया छद्मस्थके एक साथ दो उपयोग नही होते और केवलज्ञानीके एक साथ सर्वज्ञानोका उपयोग होता है ऐसा कोई विशेष करके नही कहा गया तो इसमे यह तात्पर्य जानना चाहिए कि जो बात जिस प्रकार सम्भव है उसे उस प्रकारसे लगा लेना चाहिए। छद्मस्थ चू कि अनेक ज्ञानावरणोसे आवृत्त है और उसका इद्रिय और मनसे सम्बन्ध है, केवलज्ञानीकी तरह सर्वथा इद्रिय मनके व्यापारसे रहित नही है, ऐसी स्थितिमे रहने वाले छदमस्थमे एक साथ समस्त लोकालोकका प्रतिभास होना सम्भव नही है, और चू कि उसका व्यापार किसी एक ओर ही होगा, जब सर्व पदार्थों का ज्ञान नही है, कुछ ही पदार्थोंका ज्ञान चल रहा है तो भी क्रमसे ही व्यापार होने पर ज्ञान होगा अतएव उपयोगकी अपेक्षासे ये चारो ज्ञान एक साथ नही हो सकते। जिस जीवके केवलज्ञान हुआ है उसके तो केवल यह केवलज्ञान ही है, उसके अन्य ज्ञानो का तो प्रश्न ही नहीं है। कारण यह है कि जहाँ ज्ञानका पूर्ण विकास है वहाँ अधूरे विकासकी बात नहीं बन सकती। दूसरी बात यह है कि अन्य ज्ञानोकी उत्पत्तिके साधन जो हैं वे अब यहाँ नही रहे, इद्रिय और मनसे मतिज्ञान, श्रुतज्ञान होता है, अवधिज्ञान शरीरके भीतरके किन्ही विशिष्ट चिन्होके साधनमे होता है। मन पर्याय ज्ञान मन पर्यय ज्ञानावरणके क्षयोपशमसे होता है। तो ज्ञानावरणोका क्षयोपशम न रहा और मन पर्ययका साधन न रहा, इस कारण केवलज्ञानके साथ बाकीके ज्ञान सम्भव नही है। परमार्थत वहाँ तो उपयोग भी नही है। केवली प्रभु निरुपयोगी होते हैं, अर्थात् उन्हें किन्ही भी पदार्थोंके जाननेके लिए व्यापार नही करना पडता है, किंतु सहज ही समस्त पदार्थ उनके ज्ञानमें आ जाया करते हैं। शङ्काकार कहता है कि जो सामान्य कथन हुआ करता है वह विशेषोमे भी लागू कर दिया जाता है, ऐसा न्याय है। इस न्यायसे इस विशेषकी सिद्धि हो जायगी कि छदमस्थके एक साथ दो उपयोग नही हैं और केवलीके हैं। समाधानमें कहते हैं कि यह बात युक्त नहीं है। विशेष गति अगर करना है तो अन्य प्रकारसे भी की जा सकती है। यो कहा जा सकता कि छदमस्थके दो उपयोग नही हैं और केवलज्ञानीके भी नही है। विशेष अर्थ निकालनेमें कुछसे भी कुछ अर्थ निकाला जाय उसमे प्रमाणका अभाव है।

सोपयोग मतिज्ञानादिका एक साथ होनेकी निरशवादी शकाकारकी शका— अब यहाँ क्षणिकवादी शङ्का करता है कि देखिये ! एक अनुमान द्वारा

छदमस्थ जीवोका भी उपयोग एक साथ सिद्ध हो जाता है। किसी ससारी आत्मामे मति आदिक ज्ञान सोपयोग होते हुए एक साथ सम्भव होते है, क्योकि एक साथ ही उनका निकट स्वविषय प्राप्त है। जैसे कि कभी लम्बी पपडी खाते समयमे पाँचो इन्द्रियोका ज्ञान एक साथ बन जाता है। कोई बेसनकी कडी पपडी तेलमे बनाई गई तो उस पपडीको हाथमे लेकर कोई मु हसे दबाये तो देखो ! उसे कड-कड भी शब्द सुननेमे आ रहे, वह पपडी भी दिख रही है, उसकी गध भी आ रही, स्वाद भी आ रहा और कडा - कडा स्पर्श भी ज्ञानमे आ रहा है। तो देखो ! उस समय पाँचो इन्द्रियोसे उत्पन्न हुये ज्ञान एक साथ हो गए ना ! इस अनुमानसे इष्ट विशेषकी सिद्धि हो जायगी अर्थात् सभी उपयोग एक साथ हो सकते है, यह उदाहरण साध्यरहित नही है। चक्षु आदिक ज्ञान यदि क्रमसे चलते हो तो वहाँ तो परस्पर उनका व्यवधान हो जायगा। क्रमसे चलने वाले ज्ञानमे व्यवधान हुआ करता है। अब यह ज्ञान है तो दूसरा ज्ञान आयगा तो एक ज्ञान समाप्त हुआ दूसरा ज्ञान आ गया इस बीच विराम मिलेगा ना। तो यह चक्षु आदिक ज्ञानका क्रमसे प्रवर्तन माना जाय तो परस्पर व्यवधान सिद्ध होगा और वहाँ फिर उनका विच्छेद प्राप्त हो जायगा। लो अब कोई ज्ञान न रहा, लेकिन ऐसा देखा कहाँ जा रहा? अभी जो दृष्टात दिया गया कि लम्बी पपडी खाते समयमे पाँचो ज्ञान एक साथ हो रहे। यद्यपि कभी-कभी ससारी जीवोमे एक एक उपयोग होता है, इसलिए यहाँ प्रसिद्ध कर दिया गया कि रूपादिक ज्ञान क्रमसे हुआ करते हैं, पर नियम तो नहीं बनाया जा सकता। यदि कोई जीव इन ज्ञानोका क्रमसे उपयोग करता है तो करे, परन्तु सभी जीवोमे ऐसा नियम नही बनाया जा सकता कि यह उपयोग सभीमे क्रमसे होता है। दृष्टान्तमे साध्यकी सिद्धि भली प्रकार है। लम्बी पापुडी खानेके समयमे पाँचो इन्द्रियोका ज्ञान एक साथ हो रहा है अतएव यह बात कहना कि मति आदिक ज्ञान एक साथ सम्भव नही होते, और उनका उपयोग एक साथ सम्भव नही है, यह कथन युक्त नही है।

इन्द्रियज्ञान पञ्चकको क्रमवर्तिता सिद्ध करते हुए उक्त शकाका समाधान—उक्त शङ्काके उत्तरमे कहते हैं कि चक्षु आदिक पाँचो इन्द्रियोका ज्ञान जो हो रहा है उस लम्बी पपडीके खानेके समयमे वहाँपर भी वस्तुत परस्पर व्यवधान है, अर्थात् एक साथ उन पाँचो इन्द्रियोका ज्ञान नही हो रहा है, व्यवधान होनेपर भी विच्छेद नही मालूम होना ऐसा वहाँ तथ्य है, अर्थात् उस समय यद्यपि ऐसा लग रहा है कि पाँचो इन्द्रियोका वहाँ एक साथ ज्ञान हो रहा है। पपडी भी दिख रही, शब्द भी सुनाई दे रहे, गध आ रही, रस भी जाना जा रहा, स्पर्शका भी ज्ञान हो रहा, ये सब पाँचो ज्ञान एक साथ हो रहे हैं, उनमे विच्छेद नही मालूम पडता फिर भी परस्पर उनका व्यवधान है, वे ज्ञान क्रमसे हो रहे हैं। यदि उन रूप ज्ञान, रस ज्ञान आदिक पाँचो ज्ञानोको एक साथ मान लिया जायगा तो रूप रस आदिकमे सतान भेद

माना गया है क्षणिक सिद्धान्तमे, याने रूपक्षण भिन्न पदार्थ है, रस क्षण भिन्न पदार्थ हैं और यो ही रूपज्ञान भिन्न पदार्थ है, रसज्ञान भिन्न पदार्थ है। यहाँ तो निरंशवाद की पराकर्पता है। जो कुछ भी स्वरूप जरा भी भिन्न समझमे आया वह सारा ही एक पदार्थ मान लिया गया है। तो जब रूपज्ञान, रसज्ञान ये सब भिन्न-भिन्न सतान हैं तो परस्पर प्रत्यवमर्शका अभाव हो जायगा अर्थात् एक साथ पाँचो इन्द्रियाका ज्ञान न हो सकेगा अन्य संतानोकी तरह। जैसे बहुतसे पुरुष बैठे हैं और उन सब पुरुषोको रस ज्ञान हो रहा है एक साथ या कोई कुछ ज्ञान कर रहे कोई कुछ, तो किसी एक जगहमे एक जीवमे सभी ज्ञानोका परामर्श तो नही हो सकता, क्योकि भिन्न-भिन्न सतासमे अगर सभी ज्ञान उत्पन्न ही हो गए तो हो जायें, पर एक जीवमे या एक स्थल मे एक साथ सबका बोध नही हो सकता है। तव ऐसे रूपका ज्ञान, रसका ज्ञान, गध का ज्ञान ये सभी भिन्न-भिन्न सतान हैं। तो उन ५ ज्ञानोके होनेपर भी वहाँ पाँचो का बोध न हो सकेगा। इस कारण पाचोका एक साथ बोध इस प्रकार भी सम्भव नही है।

दृष्टान्तपूर्वक लघुवृत्तिवाले इन्द्रियज्ञान पञ्चकोमे क्रमवर्तिताकी सिद्धि—स्पष्ट वात तो यह है कि इस मनकी गति, उपयोगकी गति इतनी तीव्रतासे चलती है कि वहाँ क्रम होनेपर भी यह विदित नही हो पाता कि यह सब कुछ क्रमसे जाना जा रहा है। जैसे पानके १०० पत्तोपर एक सूई को जोरसे मारा गया तो सभी पत्ते एक साथ छिद गए, वहाँ ऐसा मालूम होता है कि वे सभी पत्ते एक साथ छिदे, लेकिन युक्ति कहती है कि जब वे सभी पत्ते क्रमसे लगे हुए हैं तो उनमे छिद्र भी क्रम से ही होगे। तो यद्यपि क्रमसे ही उस सूईने सभी पत्तोको छेदा लेकिन वहाँ क्रमसे छेदनेका ज्ञान नही होता। यह मालूम होता है कि वे सभी पत्ते एक साथ छिद गए, ठीक इसी भाँति पाँचो इन्द्रियोका ज्ञान वहाँ एक साथ नही होता, क्रमसे होता है लेकिन ज्ञान परिणति इतनी तीव्रतासे चलती है, वहाँ यह बोध नहीं हो पाता कि ये सब ज्ञान क्रमसे होते हैं, सब एक साथ ही जाने गए इस प्रकारसे प्रतीत हुआ करता है। यो मति आदिक ज्ञान एक साथ उपयोग द्वारा सम्भव नही हैं।

इन्द्रियज्ञानपञ्चकोका परस्पर परमार्श सिद्ध करनेके लिए सतानभेद के अभावका शङ्काकारका प्रस्ताव—क्षणिकवादियोने मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान व मन पर्ययज्ञानका उपयोग सहित भी एक साथ होना सिद्ध करनेके लिए लम्बी पापडीके भक्षणमे पाँचो ज्ञानोका एक साथ सद्भाव होनेका उदाहरण दिया था, जो उदाहरण सङ्गत नही बैठता कारण कि वहाँ जो ५ प्रकारके विषय ज्ञात हुए वे तो स्वलक्षण हैं—रूपक्षण, रसक्षण, गधक्षण, स्पर्शक्षण और शब्दक्षण। और, उनका विषय भी करने वाले ज्ञान ५ हैं—रूपज्ञानक्षण, रसज्ञानक्षण आदिक। तो जब वे

पृथक् पृथक ज्ञानक्षण हैं तो पृथक सतान हो गए । पृथक सतान होनेके कारण यदि उन ५ ज्ञानोको एक साथ माना जाता है तो परस्पर उनका परामर्श नही होसकता । जैसे कि दूसरे पुरुषके जाने हुए रसज्ञानोंको दूसरा पुरुष नही समझ सकता । ऐसे ही उन पांचोका एक उपयोगमे मिश्रण न वन सकेगा । इस दोषके निवारणके लिए यदि निरशवादी यह कहे कि पांचो ज्ञान एक साथ होते हैं तिसपर भी उनमे सतान-भेद नही है । उन पांचो ज्ञानोमे सतानभेद न माननेसे लाभ निरशवादियोको यह है कि पांचो ही ज्ञानोका परस्पर परामर्श वन जायगा ज्ञान श्रद्धान निर्णय वन जायेगा ।

ज्ञानपञ्चककी युगपत्ता होनेपर भी सतानभेदका अभाव माननेपर इन्द्रियज्ञानके साथ मानसिक प्रत्यक्षको युगपत् माननेका प्रसङ्ग वताते हुए उक्त शङ्काका समाधान—अव उक्त शङ्काका समाधान सुनिये । यदि उन पांचो ज्ञानोका परामर्श सिद्ध करनेके लिए उन पांचो ज्ञानोके एक साथ होनेपर भी उनमे सतान भेद नही माना जाता और यो ५ ज्ञानोका एक साथ होना सिद्ध किया जाता तो सतानभेदके अभावमे ५ ज्ञानोको एक साथ माना जानेपर इन्द्रियज ज्ञान और मानसिकज्ञान भी एक साथ वन जाना चाहिये । निरशवादियोके यहाँ इन्द्रियजज्ञान और मानसिकज्ञान इन दोनोका क्रमसे उत्पन्न होना माना है । जव इन्द्रियज प्रत्यक्ष है तव मानसिक प्रत्यक्ष नही है, इन्द्रियज प्रत्यक्षके वाद मानसिक प्रत्यक्ष होता है लेकिन सतानभेद न माननेपर भी युगपद मान लिया गया उन पांचो ज्ञानोको तो इसी प्रकार उन पाचो ज्ञानोके साथ एक मानसिक प्रत्यक्षका भी एक साथ होना मान लिया जाय, क्योकि उन पांचो ज्ञानोके एक साथ होनेमे जैसे सतानभेदका अभाव माना है उसी प्रकार मानसिक प्रत्यक्ष भी तो सतानभेदके अभावमे होता है । वही जीव पांचो ज्ञानोको कर रहा है तो वही जीव मानसिक प्रत्यक्षको भी कर रहा है । चक्षु आदिक इन्द्रियोके विषयमे ज्ञानके अनन्तर होने वाले मानसिक प्रत्यक्षमे कोई भेद नही है । क्रमवर्ती जैसे ५ ज्ञान है ऐसे ही क्रमवर्ती मानसिक ज्ञान हैं लेकिन जव पांचो ज्ञानोको एक साथ मान लिया गया तो मानसिक प्रत्यक्षको भी एक साथ क्यो नही मान लिया जाता ?

मानस प्रत्यक्षकी क्रमवृत्ति माननेमे व्यवधान प्रतिभासके विकल्पकी असम्भवता—और भी वात सुनो । यदि पांचो इन्द्रियोके ज्ञानसे मानसिक ज्ञानको पृथक कालमे माना जाता है तो जव मानसिक ज्ञान है उस समय ५ ज्ञान नही हैं । फिर प्रतिभास विकल्पका निर्णय कहाँ किया जा सकेगा ? यह कैसे जान लिया जायगा कि उन ज्ञानोमे अथवा इन्द्रियज्ञान और मानसिक ज्ञानमे प्रतिभासभेद है । प्रतिभासभेद तव ही तो जाना जा सकता जव मुकावलेमे दोनो प्रतिभास समक्षमे हो पर मानसिक प्रत्यक्षको जव इन्द्रियज प्रत्यक्षके वाद मान लिया गया तो वहाँ प्रतिभास

भेदका ज्ञान नही किया जा सकता । तव यह भी ज्ञानमे न आयगा कि यह इन्द्रिय ज्ञान है अथवा मानसिक ज्ञान है, ऐसा भी नही कह सकते कि इद्रियजज्ञान जो कि एक साथ हुआ करते हैं उन ज्ञानोसे और क्रमसे होने वाले मानमिक प्रत्यक्षोंमें कोई व्यवधानरूपसे प्रतिभासभेद है, यह यो नही कहा जा सकता कि सतान एक है । उमी जीवने इद्रियज ज्ञान किया, उमीने मानसिक ज्ञान किया और प्रतिभास जो इद्रिय ज्ञानोका होता है उसमे जो एक दृढता आती है वह मानसिक प्रत्यक्षमे आती है । तो सभी चीजे जव एक साथ होनी पडेंगी तो व्यवधानके द्वारा प्रतिभाम भेदका ज्ञान नही किया जा सकता ।

अक्षज्ञान और मानस प्रत्यक्ष अतिशीघ्रतासे क्रमवर्ती होनेसे उसमे व्यवधानप्रतिभास विदित न होना माननेपर अक्षज्ञानपञ्चकोमे भी क्रमवर्तिताकी सिद्धि—शङ्काकार कहता है कि मानसिक ज्ञान और इन्द्रिय ज्ञान ये होते तो क्रमसे हैं, इन्द्रियज्ञान एक साथ हो गए, पर मानसिकज्ञान उसके वाद हुए, तो मानसिक ज्ञान और इद्रियज ज्ञान इन दोनोका होना तो क्रमसे है लेकिन वहुत शीघ्रतासे यह हो जाया करता है, इस कारण व्यवधानपूर्वक उन प्रतिभाम भेदोका ज्ञान नही हो पाता है । वस्तुत मानसिक ज्ञानका काल अन्य है और इद्रियज ज्ञानका काल अन्य है । इन्द्रियज ज्ञानके वाद मानसिक ज्ञान होता, लेकिन वहुत शीघ्र होता इसलिए भेद नहीं समझा जा पाता । जैसे पानके १०० पत्तोंमें सूई एक वारमें शीघ्रतासे छेद करे तो वहाँ छिद्र तो सभी पानोमे क्रमसे हुए हैं, लेकिन शीघ्रता होनेके कारण वहाँ छिद्रोका क्रमसे ज्ञान नहीं हो पाता, इसी तरह इद्रियज्ञान और मानसिक ज्ञानमे क्रमसे वोध नही हो पाता । इस शङ्काके समाधानमे कहते हैं तो वस, इस ही कारण इद्रिय ज्ञानमे भी परस्पर विच्छेदका ज्ञान न होवे । तो इद्रियज्ञान पाँचोका उत्पन्न होना तो क्रमसे है लेकिन वहुत जल्दी वृत्ति होनेसे उनमे क्रमभाविताका वोध नही होता है ऐसा उन ५ ज्ञानोंमे भी मान लीजिये, क्योकि शीघ्र वृत्ति होनेके कारण जहाँ मानसिक ज्ञान इन्द्रियज ज्ञानमे क्रमभाविताका पता नही रहता उसी प्रकार रसादिक ज्ञानोंमे भी उन पाँचो ज्ञानोमे क्रमभाविताका वोध नही हो पाता । होते वे सब क्रमसे ही हैं । और, स्पष्ट दोष तो यह नजर आता है कि यदि उन पाँचो ज्ञानोको एक साथ मान लिया जाय तो स्पर्शादिक ज्ञानोका निश्चय न हो सकेगा कि यह रसज्ञान है, यह स्पर्शादिकका ज्ञान है । यो उस लम्वी पपडीके खानेके कालमे भी उसके पाँचो विषयोका क्रमसे ही ज्ञान हुआ है, यह वात जैन सिद्धान्तमे भी प्रसिद्ध है और लौकिक जन भी सूक्ष्म दृष्टिसे देखें तो अनुभवसे भी समझ सकते हैं ।

सोपयोग व निरुपयोगकी दृष्टिसे मतिज्ञानादि चार ज्ञानोकी क्रमभाविता व अक्रमभाविताका कथन—जैसे चक्षु आदिक ज्ञानोका क्रमसे ही उत्पाद

माना गया है उसी प्रकार मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन पर्ययज्ञान भी उपयोग सहितकी दृष्टिसे क्रमसे उत्पाद होता है। यदि निरुपयोगकी दृष्टिसे चार ज्ञानो की बात कहो तो वह एक साथ होता है, इसमे किसी भी प्रकारका विरोध नही है। कारण यह है कि ज्ञानावरणके क्षयोपशमसे यह ज्ञान प्रकट होता है, मतिज्ञानावरण का क्षयोपशम होनेपर मतिज्ञान, श्रुतज्ञानावरणका क्षयोपशम होनेपर श्रुतज्ञान, अवधिज्ञानावरणका क्षयोपशम होनेपर अवधिज्ञान और मन पर्ययज्ञानावरणका क्षयोपशम होनेपर मन पर्ययज्ञान प्रकट होता है। सो ये चारो ज्ञान चारो ज्ञानावरणोका क्षयोपशमके होनेपर एक जीवमे एक साथ सम्भव है, परन्तु लब्धिकी अपेक्षासे चारो ज्ञान तक एक जीव एक साथ सम्भव हुए, उपभोगापेक्षया युगपत् चसम्भव हैं, क्योकि उपयोगकी अपेक्षा एक कालमे एक ही ज्ञान होता है। जैसे कोई पुरुष हिन्दी, सस्कृत, प्राकृत तीन भाषाओका ज्ञाता है तो लब्धिकी अपेक्षा तीन भाषाओका ज्ञान उस पुरुष मे सदा है। किन्तु जैसे जब सस्कृतमे लिखा कोई पत्र आया, उसको वह पढ रहा है तो उपयोगकी दृष्टिसे तो सस्कृत भाषाका ही व्यक्त ज्ञान वन रहा है, उपयोग सस्कृत भाभामे ही है। ऐसे ही समझिये कि लब्धि और व्यापारकी अपेक्षासे इन चारो ज्ञानो मे अन्तर है, लब्धिकी अपेक्षासे चारो ज्ञान एक साथ होते है, किन्तु व्यापारकी दृष्टि से ये ज्ञान क्रमश हुआ करते हैं। मतिज्ञान आदिकका जो स्वरूप है वह स्वरूप अनेकान्तात्मक है, लब्धि और उपयोगकी अपेक्षासे, अर्थात् लब्धिकी अपेक्षासे चारो ज्ञान एक साथ सम्भव हो सकते हैं, किन्तु उपयोगकी अपेक्षासे युगपत् असम्भव है। चारो ज्ञान हो तो सकते है एक जीवमे, परन्तु उनका उपयोग क्रमसे होता है। यो उपयोग सहित मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, और मन पर्ययज्ञान ये क्रमसे हुआ करते है।

स्याद्वाद नयसे तत्त्वज्ञानकी क्रमभाविता व अक्रमभाविताका प्रतिपादन—तत्त्वज्ञानकी क्रमभाविता व अक्रमभाविताकी बात स्याद्वादनयसे समझ लेना चाहिए। मतिज्ञानादिक चार ज्ञान नयोसे उपलक्षित हुआ करते हैं वे क्रमसे भी हैं और एक साथ भी हैं यह सिद्ध हो जाता है। जैसे केवलज्ञान और मतिज्ञान आदिक चारो ज्ञानोमे स्याद्वादसे उपलक्षित होनेपर अनेकान्त घटित होता है, इसी प्रकार चारो ज्ञानोमे भी अनेकान्त घटित होता है, केवलज्ञान और उन चारो ज्ञानोमें अनेकान्त घटित होता है विकल विषय और सकल विषयकी अपेक्षासे। केवलज्ञानकी अपेक्षासे तो वह ज्ञान एक साथ समस्त पदार्थोंको विषय करता है, और मतिज्ञानादिककी अपेक्षासे पदार्थोंको क्रमसे विषय करता है। नय और स्याद्वाद ये भी विकल और सकलको विषय करते हैं। नय तो विकल ज्ञान है और स्याद्वाद सकलज्ञान है। इस तरह नयसे उपलक्षित होनेपर तो मतिज्ञानादिकमे क्रमभाविता है और स्याद्वादसे उपलक्षित होनेपर केवलज्ञानमे युगपत सर्व पदार्थोंका ज्ञान सिद्ध होता है। यो तत्त्वज्ञान क्रमभावी भी है, अक्रमभावी भी है। स्याद्वाद और नयसे सस्कृत करके यह अने-

कान्त घटित हो जाता है। मतिज्ञान श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन पर्ययज्ञान ये चारो ज्ञान भी तत्त्वज्ञान हैं और ये तत्त्वज्ञान निरुपयोग लब्धिकी अपेक्षासे सब एक साथ हो सकते हैं, किन्तु उपयोगकी अपेक्षासे क्रमसे ही हो सकते हैं. और तत्त्वज्ञान सामान्य के लिए अनेकान्त यो घटित किया जायगा कि तत्त्वज्ञान एक साथ होता है, क्योंकि सकल विषयकी अपेक्षासे देखनेपर केवलज्ञानमे एक साथ समस्त पदार्थोंका ज्ञान होना निश्चित है। केवलज्ञान भी तो तत्त्वज्ञान ही है और वह सकल विषय वाला है, तथा वह अक्रम है। और मति आदिक ज्ञानोकी अपेक्षासे तत्त्वज्ञान क्रमभावी है। ये चारो ज्ञान विकल विषय वाले हैं अर्थात् समस्त् विश्वका ज्ञान नही करते अतएव यह उपयोगकी अपेक्षासे क्रमसे हुआ करता है। यो तत्त्वज्ञान युगपत् है। तत्त्वज्ञान क्रमसे है और तत्त्वज्ञान उभयरूप है। क्रमसे भी है और युगपद भी है क्योंकि दोनो विषयोंकी अपेक्षासे यहाँ उभयता सिद्ध होती है, किन्तु उन दोनो बातोंको एक साथ कहा जाना अशक्य है इस दृष्टिसे तत्त्वज्ञान अवक्तव्य है। इसी प्रकार शेष तीनो भङ्ग भी लगा लेना चाहिए।

प्रमाण और नयके आधारसे तत्त्वज्ञानकी प्रमाणता व सदसत्ताके विषय मे सप्तभङ्गीकी प्रसिद्धि—प्रमाण और नयके आधारसे सप्तभङ्गीकी उत्पत्ति होती है अथवा पदार्थोंके ज्ञान परिणमनकी दृष्टिसे उस ज्ञान पर्यायको अपेक्षामे लेकर स्याद्वादनयसे सस्कृत होकर इस अनेकातको घटित कर लेना चाहिए वह इस प्रकार होगा कि तत्त्वज्ञान कथचित् प्रमाण है क्योंकि वह इन विषयोंकी जानकारीके प्रति साधकतम है। उस तत्त्वज्ञानके द्वारा उसका विषय भलीप्रकार जान लिया जाता है। तत्त्वज्ञान कथचित् अप्रमाण है क्योंकि प्रमाणान्तरके द्वारा वह प्रमेय हुआ और जिस विवक्षित प्रमाणसे जाना जा रहा वह अविवक्षित हुआ तो उस दृष्टिमे अप्रमाण है। इस प्रकार स्वतत्र दो भङ्ग सिद्ध हुए, उस आधारपर शेषके ५ भङ्ग भी लगा लेना चाहिए अथवा तत्त्वज्ञान कथचित् सत्रूप है, क्योंकि स्वरूप चतुष्टयकी अपेक्षासे वह सत्रूप ही है। वह तत्त्वज्ञान कथचित् असत्रूप है, क्योंकि पररूपादिक चतुष्टयसे वह असत् रूप ही है। इस प्रकार दो भङ्ग हुए, पर इन दोनोको एक साथ कहा नही जा सकता इस कारणसे वह अवक्तव्य है, यो तीन स्वतत्र भङ्ग होनेपर उनके सयोगी चार भङ्ग और भी लगा लेना चाहिये। जैसे तत्त्वज्ञान स्यात् सत् असत् है, तत्त्वज्ञान स्यात् सत् अवक्तव्य है, तत्त्वज्ञान स्यात् असत् अवक्तव्य है, तत्त्वज्ञान स्यात् सत् असत् अवक्तव्य है। इस प्रकार प्रमाणके स्वरूपके वर्णनमे यह सिद्ध किया गया कि तत्त्वज्ञान प्रमाण है और वह तत्त्वज्ञान प्रभुका तो एक साथ सर्व पदार्थोंका प्रतिभास करने वाला है और छद्मस्थोका मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मन पर्ययज्ञान ये क्रमसे उत्पन्न होते हैं और कुछ पदार्थोंका प्रतिभास करने वाले होते हैं। अब प्रमाणके फलमे अनेक दार्शनिक विवाद करते हैं उन विवादोकी निवृत्तिके लिए प्रमाणका फल बताते हैं।

उपेक्षा फलमाद्यस्य शेषस्यादानहानधी. ।
पूर्वा वाऽज्ञाननाशो वा सर्वस्यास्य स्वगोचरे ॥ १०२ ॥

ज्ञानके अर्थात् प्रमाणके साक्षात् फल व परम्परा फलका प्रतिपादन— इन ज्ञानोंमें जो आद्य ज्ञान है अर्थात् केवलज्ञान है उस केवलज्ञानका साक्षात् फल तो समस्त पदार्थोंका एक साथ परिज्ञान कर लेना है यो साक्षात् फल अज्ञान निवृत्ति है। जो उस केवलज्ञानमे उपयोग व्यापार किए बिना ही सम्भव हो रहा है। और, केवलज्ञानका व्यवहित फल, परम्परा फल उपेक्षा रागद्वेषके न होनेको कहते हैं, यह केवलज्ञानमे व्यवहितफल बताया गया है और अन्य मत्यादिक ज्ञानोंका साक्षात् फल तो अज्ञान निवृत्ति ही है, जिस ज्ञानका जितना विषय है उतने विषयमे उन अज्ञानोकी निवृत्ति है और परम्परा फल उनके विषयको ग्रहण करने और त्याग करनेकी बुद्धि होनी है। अज्ञान नाश तो सभी ज्ञानोका साक्षात् फल है, पर केवलज्ञानमे उपादेयको ग्रहण करनेकी बुद्धि और हेय पदार्थोंको त्यागनेकी बुद्धि नही होती, क्योकि वह निर्विकल्प और सम्पूर्ण ज्ञान है, निरावरण निर्मोह ज्ञान है। किन्तु मत्यादिक ज्ञान सावरण हैं और रागसहित अवस्थामें होते हैं। किन्ही ज्ञानी साधुओंमे यद्यपि राग नही है और मति, श्रुत, अवधि मन, पर्यय ज्ञान है, लेकिन उन ज्ञानोमे पूर्व सस्कारवश वह परम उपेक्षा भाव नही है फिर भी वहाँपर उपेक्षा भाव तो है सो अपेक्षाभाव मतिज्ञान, श्रुतज्ञान आदिक सभी ज्ञानोका परम्परा फल है।

केवली भगवान्के परमोपेक्षा भावकी सिद्धि—अब यहाँ यह जिज्ञासाकी जा रही है कि केवली भगवानके सर्व पदार्थोंमे उपेक्षाभाव है यह कैसे जाना? समाधान उसका यह है कि केवली, भगवानके समस्त हेय उपादेय पदार्थोंमे उपेक्षाभाव है। न उपादेयकी बुद्धि है न त्यागनेकी बुद्धि है, पूर्ण समता है, क्योकि वह शुद्ध प्रयोजन है केवली भगवानका प्रयोजन समस्त पूर्णतया सिद्ध हो गया है। प्रयोजन तो यह है कि ससार और ससारके कारण हे, हैं, उनका तो त्याग किया जाय और मोक्ष और मोक्षके कारण उपादेय हैं उनको ग्रहण किया जाय, सो सिद्ध भगवानके ससार और ससारके कारण सब छुट चुके हैं तथा मोक्ष स्वरूप हैं और मोक्षके कारण सब ग्रहण हो चुके थे, अब उनकी आवश्यकता नही रही। यों केवली भगवानका प्रयोजन समस्त सिद्ध हो चुका है, इस ही कारण उनका सर्व पदार्थोंमें उपेक्षाभाव है।

करुणारूप शुभ भावके अभावमे भी वीतराग प्रभुके निमित्तसे पर जीवोंके दु खोंका निराकरण—यहाँ सौगत मतानुयायी शङ्का करते हैं कि भगवान तो करुणावान हैं। जिनके करुणा जगे वे ही दूसरोका दु ख दूर करनेकी इच्छा रखते हैं, उनके उपेक्षा कैसे बता दी गई है। और, यदि करुणावान नही हैं तो उनको ग्र

पहुंचा हुआ, उत्कृष्ट पुरुष कैसे कहा जा सकता है ? इस शङ्काके समाधानमें कहते हैं कि प्रभुके करुणा सम्भव नहीं है। करुणा भी तो मोहकी एक विशेष परिणति है। अब रही दूसरोंके दुःखके निराकरणकी बात तो दूसरोंके दुःखका निराकरण करुणाके ही हो जाता है। इसी तरह मोहकी विशेष परिणतिरूप जो कि स्वयं मलिन परिणति है ऐसी करुणा नहीं भी है तो भी प्रभुके निमित्तसे दूसरे जीवोंके दुःखोंका निराकरण हो जाता है।

परदुःख जिहासु करुणावान प्रभुके उपेक्षाकी अनुपपत्तिकी आशंका—शङ्काकार कहता है कि दयालु जो होगा उसकी ही यह परिणति बनेगी कि अपने दुःख दूर कर सकता है। जैसे कि हम लोग जब अपने आपपर कुछ दया करते हैं तो अपने दुःख दूर कर लेते हैं। इसी प्रकार प्रभुने जो अपना दुःख दूर किया है तो दयावश ही तो किया है और जब दयावश अपना दुःख दूर किया है तो दयासे ही वह दूसरोंका दुःख दूर करेगा। सुनो ! उसका अनुमान प्रयोग भी है। जो जो पुरुष अपने आपमें दुःखको दूर करता है वह पुरुष अपने आत्मामें दया रखते हैं तब अपने आपके दुःखको दूर करते हैं। इसी प्रकार योगी भी अपने आपमें संसारके समस्त दुःखोंको दूर करते हैं। इससे सिद्ध है कि वह भी अपने आपमें दयावान हैं। इस अनुमान प्रयोगमें जो यह हेतु दिया गया है कि अपने आपमें दुःखको दूर करता है और उससे साध्य यह सिद्ध किया गया है कि इस कारण वह अपने आपमें दयावाला है। सो इस अनुमान प्रयोगमें दिया गया हेतु विरुद्ध भी नहीं है और अनैकान्तिक भी नहीं है, क्योंकि जितने भी विपक्ष हैं अर्थात् करुणारहित पुरुष हैं, करुणारहित पदार्थ हैं उन सबमें दुःखनिवर्तनकी बात नहीं देखी जाती है, क्योंकि ये प्राणी अपने आपमें दयारहित हैं, अपने आपमें अपने दुःखको दूर नहीं कर सके। इस प्रकार बाधक प्रमाणके द्वारा दयाहीन विपक्षमें अपने दुःखको दूर कर देने रूप हेतुका अभाव सिद्ध होता है। कि प्रभु केवली दयावान होना चाहिए अन्यथा न वे अपने दुःख दूर कर सकते थे और न दूसरे प्राणियोंका दुःख दूर कर सकते थे। तो इस हेतुका अपने साध्यके साथ अविनाभाव सिद्ध होनेसे यह प्रकृत सिद्धान्त पूर्णतया सङ्गत होता है कि केवली प्रभु दयावान हैं। देखिये ! जो अपनेमें दयारहित होता है वह अपने दुःखको दूर नहीं कर पाता। जैसे द्वेषादिक परिणामोंमें कोई पुरुष विषको खा ले तो उसने अपने आपका दुःख दूर तो नहीं किया। उसने तो अपनेको दुःखमें ही डाल दिया क्योंकि उसने अपने आपमें दया नहीं की। तो वहाँ दया नहीं है तो अपने दुःखको वह दूर भी न कर सका।

अथ लोभ आदिसे दुःखनिवर्तनमें व अदृष्टवश दुःखनिवर्तनकी घटनामें भी आत्मकरुणासे ही दुःखनिवर्तनकी सिद्धि का प्रयास—यहाँ कोई यह कह

कि भय और लोभादिकसे अपने दु खोंको भी दूर करने वाले पुरुष पाये जाते है । तब देख लीजिए । कि उनके दया ता नही है, अपने दु ख दूर करनेके लिए यत्नवान है तो इस घटनामे आपके हेतुका व्यभिचार आयगा, सो ऐसा नही कह सकते । जो लोग भयके कारण लोभादिकके कारण भी अपना दु ख दूर करने वाले नजर आते है उनमे भी दया बनी हुई है । यदि अपनेमे दया न होती तो दूसरोसे भय, लोभ और मान भी सम्भव न होता । जो पुरुष दूसरोसे डरते हैं तो उनको अपने आपमे दया है अथवा दु ख दूर करनेका भाव है तब ही तो उसके विपरीत बात आनेपर भय उत्पन्न होता है अथवा अपने आपमे दया है, अपना दु ख दूर करना चाहता है, तब ही लोभ भी होता है । वह समझता है कि लोभ करनेसे मेरा दु ख दूर हो जायगा । तो अपने आपपर दया ही तो की, जिससे कि लोभ पैदा हुआ । अथवा जो कोई पुरुष मान करता है तो उसको भी अपने आपमे दया ही तो सम्भव हुई है, तब ही तो वह अपना दु ख दूर करनेकी इच्छासे मान कर रहा है । इन सब जीवोंमे आत्मकरुणा बराबर बनी हुई है, उसीकी वजहसे ये भय भी करते, लोभ भी करते, मान आदिक भी करते है । इस तरह परम्परासे यह सिद्ध हुआ कि करुणावान पुरुष ही अपनेमे दु खको दूर करते हैं । यदि कोई पुरुष तपश्चरण भी कर रहा है ता वह अपने आपमे दयावान है, अपने समझे हुए दु खको दूर करनेकी इच्छा कर रहा है, इसीलिए तपश्चरण करता है । तो भय आदिकके कारण भी किन्ही-किन्ही जीवोमे करुणा उत्पन्न होती है और वह उत्पन्न होती हुई करुणा अपने दु खको दूर करती है । इस कारण साक्षात् करुणासे ही अपने दु ख दूर करनेकी प्रवृत्ति होती है । अत इसके दिए गए हेतुमे व्यभिचार दोष नही आता है और इस ही प्रकारसे कोई ऐसा दोष बताने लगे कि देखा अदृष्ट विशेषकी वजहसे अपने आपमे जो दु ख दूर करनेमे तत्पर हुए है पुरुष अर्थात् किसी जीवके पुण्यका उदय हुआ और पुण्यके उदय होनेसे अन्य प्राणी उसके दु ख दूर करता है । जैसे कि प्रकट देखा ही जाता है । कोई बालक उत्पन्न हुआ तो उस बालकको लोग बहुत ढङ्गोसे खुश रखनेका प्रयत्न करते हैं, उसके सभी प्रकारके दु ख दूर करने का प्रयत्न करते हैं । तो देखिये । उस बालकके भाग्यसे ही तो उसके दु ख दूर करने मे इतने लोग लगे हुए है । तो उन लोगोके दया कहाँ है ? वे तो उस बालकके भाग्य की प्रेरणासे दु ख दूर करनेमे लगे हैं, तब उन पुरुषोके साथ इस हेतुका दोष हो जायगा, यह भी नही कह सकते, क्योकि उन तटस्थ पुरुषोमे भी करुणा ही उत्पन्न होती है, इस कारण दु ख दूर कर रहे है । सिद्धान्त भी ऐसा है कि प्रत्येक प्राणी जो कुछ भी चेष्टा करते हैं वे अपने ही दु खको दूर करनेके लिए चेष्टा करते है । इस कारणसे जो करुणारहित पुरुष हैं उसकी यह प्रवृत्ति बन जाय कि अपना दु ख दूर करले, यह नहीं हो सकता । इस कारण यह समाधान देना युक्त नही है कि केवली भगवानके प्रयोजन सब सिद्ध हो गए, इसलिए उनकी उपेक्षा है । यह समाधान

यों युक्त नहीं है कि करुणावान प्रभु हैं तभी तो दूसरोंके दुःख दूर कर रहे हैं, उनकी उपेक्षा कैसे कही जा सकती है ?

स्वभावसे ही दीपके स्वपरतमोविगमकी तरह प्रभुके स्वपरदुःखनिराकरणकी सिद्धि करते हुए उक्त शंकाका समाधान—अब सौगतानुयायियोंकी इस शङ्काका समाधान करते हैं। देखिये ! स्वभावसे भी अपने और दूसरोंके दुःख दूर किए जा सकते हैं। जैसे प्रदीपकी वृत्ति स्वभावसे ही अपने और दूसरेके दुःखको दूर करने जैसी पायी जाती है। दीपक कहीं दयालुताके कारण अपने और दूसरेके अन्धकारको दूर नहीं करता, किन्तु स्वभावसे ही दूर करता है। क्या दीपक अपनेमें दया उत्पन्न करता है कि मैं अपनेको प्रकाशित कर दूं अथवा क्या इस तरहका दयाभाव करता है कि मैं दूसरोंका दुःख मेट दूं ! उस दीपकका स्वभाव ही ऐसा है कि अपना अन्धकार दूर करता है और दूसरोंका भी अन्धकार दूर करता है। इसी प्रकार मोहात्मिका करुणाके न होनेपर भी प्रभुके अपने दुःखकी निवृत्ति व अन्यके दुःखकी निवृत्ति स्वतः सिद्ध है और, कदाचित् दयालुताकी कल्पना केवलीके करले तो भी दुःख निवर्तनका कारण कुछ और ही खोजना पड़ेगा। केवली भगवानमें दुःख दूर करनेका कारण (निवृत्तिका कारण) कर्म नहीं है, किन्तु स्वभाव ही है। और, केवली भगवानका तो निमित्त मात्र है। वास्तवमें तो जिन जीवोंका भवितव्य अच्छा है वे अपने आपके सुयोगके कारण अपना दुःख दूर कर लेते हैं। तो दयालुताकी भी कल्पना करली जाय तो भी दुःख दूर होनेके स्वभावका कोई कारण जरूर ही है। तब परम्पराका ऐसा परिश्रम करना कि भगवानके करुणा है और करुणासे दूसरोंके दुःख दूर किए जाते हैं तो कमके द्वारा करुणा बनी और करुणाके द्वारा भगवान बने और यों वे दूसरोंके दुःखको दूर करते हैं इस तरह परम्परासे करुणासे दुःख दूर करनेकी सिद्धि किस लिए की जाती है ? प्रभुका स्वभाव ही ऐसा मान लीजिए कि वह अपने और दूसरोंके दुःख को दूर करनेका स्वभाव ही रखते हैं।

घातियाकर्मोंके निःशेषतया नष्ट होजानेसे प्रभु केवलीके परमोपेक्षाभावकी सिद्धि—उक्त प्रकार यह सिद्ध हुआ कि समस्त अन्तरायका क्षय होनेसे अभयदान स्वरूप हो गए हैं अब प्रभु। यों प्रभुने अपने आपको भी अभय बना लिया है और उनके निमित्तसे दूसरे जीव भी अभय प्राप्त करते हैं। तो जिनके समस्त आवरण दूर हो गए हैं ऐसे प्रभु स्वयं अभयरूप हैं, यही उनकी उत्कृष्ट दया है, उनकी दयामें मोह रागद्वेषादिकी परिणति नहीं है और ऐसा ही मोहका अभाव होनेको उपेक्षा कहते हैं क्योंकि उनके राग और द्वेष दोनों ही व्यापार नहीं हैं। तीर्थंकरत्वके उदयसे जो हितोपदेशकी प्रवृत्ति होती है उससे ही दूसरोंके दुःखोंका निराकरण होता है, पर बुद्ध की तरह करुणासे केवली भगवानकी प्रवृत्ति होती हो सो नहीं है। केवलज्ञान तो

निर्दोष और परिपूर्णज्ञान है। केवलज्ञानमे रागद्वेष, प्रवृत्ति, व्यापार या हेय पदार्थका त्याग, उपादेय पदार्थका ग्रहण, ये सभी बातें पाई जाती हैं इसलिए केवलज्ञानका फल उपेक्षा ही कहा जायगा। इस प्रकार सिद्ध किया गया कि केवलज्ञानका साक्षात् फल तो अज्ञाननाश है, जिससे कि एक साथ ही समस्त लोकालोकका परिज्ञान हो जाता है तथा परम्परासे फल उपेक्षाभाव है याने किसी भी विषयमे प्रभुके राग और द्वेष उत्पन्न नही होता है। समवशरणमे प्रभुका जो दिव्योपदेश दिव्यध्वनिके रूपमें होता है उसका कारण भव्य जीवोका भाग्योदय है और अघातिया कर्मोंके सद्भावमे वचन योग कारण है। किन्तु ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय व अन्तरायका जहाँ नि शेष तया क्षय हो गया है उन प्रभुके न करुणारूप रागपरिणति जग सकती है और न किसी अन्य प्रकारका कषायलेष भी जग सकता है। प्रभु पूर्ण वीतराग हैं उनके परमोपेक्षा पूर्णतया है। यह परमोपेक्षा केवलज्ञानका साक्षात् फल है।

ज्ञानका साक्षात् फल अज्ञाननिवृत्ति—आद्यज्ञान अर्थात् केवलज्ञान अव्यवहित अर्थात् साक्षात् फल अज्ञानकी निवृत्ति ही है। जैसे कि मति आदिक ज्ञान की अपने विषयोमे अज्ञाननिवृत्ति होना साक्षात् फल माना गया है। इसी बातको स्पष्ट भी समझ लीजिए। मति आदिक ज्ञानोका साक्षात् फल अपने विषयमे व्यामोह-विच्छेद करना है अर्थात् अपने विषयके अज्ञानकी निवृत्ति करना है। अज्ञाननिवृत्तिका अभाव होनेपर निर्विकल्प ज्ञानमे क्षणिक परिणामकी उपलब्धिकी तरह अप्रमाणिकता आ जायगी, क्योकि निर्विकल्प ज्ञानमे पदार्थका निश्चय नही है और उसी प्रका मत्यादिक ज्ञानोंमे भी पदार्थका निश्चय करने वाला यदि नही माना जाता तो दोनोमे अविसम्वादकता नही रहती, लेकिन ऐसा नही है। जब एकका ज्ञान करते हैं तो जिस पदार्थको निरखना है उस पदार्थके सम्बन्धमे हमे पूर्णरीतिसे उसका परिज्ञान होजाता है, उसका अज्ञान नही रहता। इस कारण मति आदिक ज्ञानोका साक्षात् फल अपने विषयभूत पदार्थमे अज्ञान न रहना है। यो ही केवलज्ञानका साक्षात् फल अपने विषय का अज्ञान न रहना है। निर्विकल्प ज्ञानमे विसम्वादकपना कैसे है ? यदि यह जानना चाहते हो तो सुनो!, यदि निर्विकल्प प्रत्यक्ष जैसा कि क्षणिकवादियोंने समझा है वह यदि विसम्वादक न होता तो अनुमानका आश्रय लेनेकी क्यो आवश्यकता होती ? तब इससे सिद्ध है कि ज्ञानका-साक्षात् फल है कि पदार्थके अज्ञानका अभाव होना और इस निर्णयका अर्थात् ज्ञानका साक्षात् फल पदार्थका अज्ञान न रहना है। इस निर्णयसे यह सिद्ध हुआ कि जो लोग प्रमाणके फलको प्रमाणसे भिन्न मानते है उनकी कल्पना झूठी हो जाती है। तो एक ही निर्णय है इस सम्बन्धमे कि ज्ञानका फल साक्षात् अज्ञाननिवृत्ति है।

ज्ञानका परम्पराफल—ज्ञानका परम्परासे फल है त्यागने और ग्रहण

करनेका ज्ञान होना अथवा उपेक्षा हो जाना किसी भी बातको जानकर यह निश्चय बनना है कि यह पदार्थ छोड देना चाहिए अथवा यह पदार्थ ग्रहण कर लेना चाहिये। तो ग्रहण करने और छोड देनेका जो परिज्ञान होता है तथा त्यागना और ग्रहण करना है वह परम्पराफल है अथवा उपेक्षाभाव हो जाय, न उसे त्यागे, न ग्रहण करे, दोनोसे ही उदासीन हो जाय, ऐसी उपेक्षा भी मति आदिक ज्ञानोका परम्परा फल है, त्याग करना और ग्रहण करना यह केवलज्ञानका फल नही है क्योकि वह सम्पूर्णज्ञान है, वीतराग विज्ञान है, कृतकृत्यका ज्ञान है, जिसको अब लोकमे कुछ भी कार्य करना शेप नहीं है, जो सबसे निराले अपने केवलस्वरूपमे आ गया है उसको अब ग्रहण करने और त्यागनेकी वृत्ति नही जगती। तो ग्रहण करनेका ज्ञान होना अथवा त्यागनेका ज्ञान होना यह मति आदिक ज्ञानोका परम्परा फल है। तो यह है परम्पराफल।

प्रमाण और फलका कथचित् एकत्व व नानात्व—उक्त विवेचनसे यह निर्णय हुआ कि प्रमाणका फल प्रमाणसे अभिन्न ही होता है, ऐसा जिन दार्शनिकोका एकान्त मत है वह मत नष्ट हो जाता है। अब यही बात स्पष्ट की जाती ह कि करण का अर्थात् व्यापारके ज्ञान होनेरूप प्रमाणका और क्रियाका अर्थात् पदार्थके जाननेरूप फलका कथचित् एकपना है दीपक और अधकारके विनाशकी तरह। जैसे अधकारका निनाश ही परम्परासे प्रदीप कहलाता है उसी प्रकार ज्ञान हो जाना यह हो प्रमाण कहलाता है। तो यो करणमे और क्रियामे कथचित् एकपना है और कथचित् नानापन है। जैसे प्रयोग किया कि देवदत्तने कुल्हाडीसे लकडीको काटा, तो यहाँ करण तो है कुल्हाडी, जिसके द्वारा काटनेकी क्रिया बनी और फल है काठका कट जाना। तो जैसे काटनेकी क्रिया उस कुल्हाडीसे अलग है इसी प्रकार प्रमाण और फलमें भी कथचित् नानापन है।

प्रमाण और फलमे भेदैकान्तका शङ्काकार द्वारा कथन—अब यहाँ शङ्काकार कहता है कि जैसे यह प्रयोग किया कि देवदत्त काठको कुल्हाडीसे काटता है, तो इस प्रयोगमे कारण और क्रिया ये भिन्न-भिन्न सिद्ध हुई। करण है कुल्हाडी, क्रिया है काठका काटना और यह भी देखो कि कि छिदना हो रहा है काठका और करण तो कुल्हाडी है, वह है देवदत्तमे। तो क्रियाका आधार भी न्यारा है और करणका आधार भी न्यारा है। इससे सिद्ध है कि करणमें और क्रियामे नानापन है। और, जैसे यह भी कहा जाय कि दीपक अधकारको प्रकाशके द्वारा नष्ट करता है। तो यहाँ भी यह निरख सकेंगे कि करण तो है उद्योत और क्रिया है अधकारका विनाश तो उद्योत प्रदीपमे है और अधकारका विनाशरूप परिणमन अधकारमे हुआ और वहाँ इस तरह भी भेद सिद्ध होता है कि प्रकाश अलग चीज है और अधकारका नाश होना यह क्रिया अलग चीज है। यो भी करणमे और क्रियामें नानापन सिद्ध

होता है। तो दोनो ही उदाहरणोंमे देवदत्त कुल्हाड़ीसे काठको काटता है। इस उदाहरणसे भी करण और क्रियामे भेद सिद्ध हुआ और दीपक प्रकाशके द्वारा अंधकारको नष्ट करता है, इस उदाहरणसे भी उद्योत और क्रियामे भेद सिद्ध हो गया। तो इसी तरह प्रमाण और फलमे भी भेद सिद्ध होना चाहिए। प्रमाण तो है कारण और फलज्ञान है क्रिया। इसमे भी भेद सिद्ध होना चाहिए। इसमे भेद नही है, ये एक हैं ऐसा सिद्ध करनेके लिए कोई दृष्टान्त नही मिलता, ऐसी नैयायिक सिद्धान्तकी ओरसे शङ्का की गई है। अब इसके उत्तरमे समाधान देंगे।

प्रदीपके उदाहरणसे कर्ता क्रिया और करणको भेद बताकर प्रमाण और फलमे कथञ्चित् अभेद सिद्ध करते हुए उक्त शङ्काका समाधान—शङ्काकारका उक्त शङ्कामे यह भाव था कि जैसे देवदत्त कुल्हाड़ीसे काठ काटता है, इसमे क्रिया और करणमे भेद देखा जाता है और दीपक प्रकाशके द्वारा अंधकारका नाश करता है, इस प्रमाणमे भी करण और क्रियाका भेद देखा जाता है। इसी प्रकार प्रमाण और फलमे भी भेद ही मानना चाहिए। ऐसी शङ्का करते हुए शङ्काकारने प्रदीपका उदाहरण देनेमे भूल की है। देवदत्त कुल्हाड़ीसे काठ काटता है, यह तो करण क्रियाके भेदका स्पष्ट दृष्टान्त है, उसको तो इस प्रकरणमे ग्रहण नही करना है, किंतु दीपका जो दृष्टान्त दिया है उस दृष्टान्तसे भी भेद सिद्ध नही होता, किंतु अभेद सिद्ध होता है। दीपक अपने आपके द्वारा अपने आपको प्रकाशित करता है। यह वहाँ पाया जा रहा है और ऐसा लोग अनुभव भी करते हैं। तो यहाँ क्या बात मिली कि कर्ता प्रदीप है याने दीपक प्रकाश करता है। तो कर्ता जो है वह स्वयं दीप स्वरूप है और उससे अभिन्न है करण अर्थात् अपने आपके द्वारा प्रकाशित करता है, वह अपने आपका स्वरूप करण है, वह कर्तासे अभिन्न है और इसमे प्रकाशन है क्रिया। प्रकाशन क्रिया भी दीपस्वरूप है। तो यो इस उदाहरणमे कर्ता करण और क्रिया ये सब एक पदार्थमे पाये गए। अब जैसे दीपकके उदाहरणमे अभेद सिद्ध हुआ इसी प्रकार प्रमाण और फलमें भी कथञ्चित् अभेद सिद्ध होता है। इस अभेदको सिद्ध करने वाला उदाहरण निर्बाध प्रसिद्ध होता है।

प्रमाण और फलमे सर्वथा अभेद माननेपर प्रमाण और फलकी व्यवस्थाकी अनुपपत्ति—अब प्रमाण और फलको कोई सर्वथा तादात्म्य रूप मान ले तो यह भी बात प्रमाणसिद्ध नही होती। प्रमाण और फलको सब प्रकारसे अगर एकरूप मान लिया जाय तो प्रमाण और फलकी व्यवस्था न बनेगी, क्योकि सर्वथा प्रमाण और फलको एकरूप मान लेनेपर प्रमाण और फलकी व्यवस्थाका विरोध है। तब मान लीजिए कि वही प्रमाण है, वही फल है। तो अब यह व्यवस्था कैसे बनेगी कि निर्विकल्प दर्शनमे जो तादूप्य है, प्रमेयरूपपना है — तो है प्रमाण और जो निश्चय है

निर्णय है, जानकारी है वह है फल। तो जव प्रमाण और फनको सर्वथा एकरूप मान लिया गया तो वहाँ प्रमाणका स्वरूप और फलका स्वरूप वताना फिर व्यर्थ है, प्रमाणफलकी वहाँ व्यवस्था ही न वनेगी।

प्रमाण और फलको सर्वथा एक माननेकी शङ्का—शङ्काकार कहता है कि देखिये ! प्रमाण और फल यद्यपि एक हैं फिर भी अन्यापोहके प्रसादमे प्रमाण और फलकी व्यवस्था वन जायगी अर्थात् निर्विकल्प दर्शनमें जो सारूप्य वताया गया है उस सारूप्यका अर्थ है असारूप्यमे अलग होजाना। जैसे गोका अर्थ है अगोव्यावृत्ति याने गायका मतलव क्या ? गायको छोडकर जगतमे जितने भी पदार्थ हैं उनका न होना, यह गाय कहलाता है तो अन्यापोहसे अर्थकी व्यवस्था मानी गई है। और, इसी पद्धतिसे निर्विकल्प दर्शनमे सारूप्य है असारूप्यकी व्यावृत्ति, और अधिगम है अनधिगमसे व्यावृत्ति याने जानकारीसे मतलव क्या ? अजानकारी न रहना। अजानकारीसे व्यावृत्ति होनेका नाम जानकारी है। तो यों प्रमाण और फलमे व्यावृत्तिके भेदसे प्रमाण फलकी व्यवस्था वनती है। प्रमाणमे (दर्शनमे) तो है असारूप्यव्यावृत्ति और फलमे है अनधिगतिव्यावृत्ति। फल कहते हैं जानकारीको, प्रमाण कहते हैं तद्-रूप्यको अर्थात् जिस पदार्थको प्रतिभासमे लिया है उस पदार्थके आकारका ग्रहण हो जाना यह कहलाता है सारूप्य। तो सारूप्य और अधिगम व्यावृत्तिके भेदसे भिन्न करके प्रमाण और फलकी व्यवस्था वना ली जायगी अर्थात् उस एकमें जो असारूप्य व्यावृत्ति है वह तो है प्रमाणका स्वरूप और उसमे जो अनधिगम व्यावृत्ति है वह है फलका स्वरूप। तो इस तरह प्रमाण और फल एक होनेपर भी व्यावृत्तिके भेदसे उनमे प्रमाण और फलकी व्यवस्था वन जायगी।

प्रमाण और फलको सर्वथा अभेद मान लेनेपर सुयुक्तिपूर्वक दोषापत्ति बताते हुए उक्त शङ्काका समाधान—अव उक्त शङ्काका समाधान करते हैं कि प्रमाण और फलको एक माना शङ्काकारने और सर्वथा एक मान लेनेपर यह प्रमाण है, यह फल है, यह भेद नही किया जा सकता। इस आपत्तिको दूर करनेके लिए जो अन्यव्यावृत्तिका भेद करके भेद वताया है सो अन्यव्यावृत्तिका भेद भी स्वभावभेद माने विना नही सिद्ध किया जा सकता। जैसे गाय किसे कहते हैं ? अगोव्यावृत्तिको अर्थात् जो गाय नहीं है उनका परिहार हो गया तो आखिर ऐसा परिहार तभी तो सम्भव है जव गोमें गोस्वभाव हो और जो गो नही है ऐसे अन्य पदार्थोंमे उनका स्वभाव पडा हो तभी तो यह वताया जा सकता है कि इस पदार्थमे अन्य पदार्थोंका सद्भाव नहीं है। तो स्वभावभेद माने बिना अन्यव्यावृत्तिका भेद नहीं वन सकता है। तव यह वात सिद्ध हुई कि प्रमाण और फलको सर्वथा एकरूप भी नही माना जा सकता। क्योकि प्रमाण और फलको सर्वथा एकरूप मान लेनेपर प्रमाण व फलकी

व्यवस्था नही बनती । अथवा ग्राह्याकार और सम्विदाकारमे अर्थात् सारूप्य और अधिगममे प्रमाणफलकी व्यवस्था किसी प्रकार बना ली जानेपर भी इतना तो मानना ही पडेगा कि वहाँ अज्ञाननिवृत्ति हुई है। प्रमाणफलकी व्यवस्था बना लेनेपर भी अगर अज्ञाननिवृत्तिका अभाव मानते हो तो जहाँ अज्ञाननिवृत्ति नही है अर्थात् पदार्थ-विषयक अज्ञान दूर नही हुआ है तो इसका तात्पर्य यह हुआ कि वहाँ विसम्वाद खतम नही हुआ । और जहाँ विसम्वाद खतम नही है, विसम्वाद बना हुआ है तो ऐसी दशा मे निर्विकल्प दर्शन प्रमाणपनेको प्राप्त नही हो सकता, क्योकि जहाँ कोई जानकारी नही है वहाँ प्रमाणपना नही बनाया जा सकता । केवल किसी पदार्थका दर्शन होगया और उसकी जानकारी बनी नही तो जानकारी जब नही है तो ऐसे पुरुषका वह दर्शन प्रमाण नही कहा जा सकता । जैसे दृष्टान्त लीजिए कि सामने विष पदार्थ पडा हुआ है उसका किसी पुरुषने दर्शन तो कर लिया, पर उसका ज्ञान नही है कि यह विष है, तो जब उस पदार्थका ज्ञान नही है तो उसका दर्शन होनेपर भी वहाँ प्रमाणपना नही आता । प्रमाणपनेका यही तो फल है कि जो हेय हो उसे त्याग दे और जो उपादेय हो उसे ग्रहण करले । यदि विषदर्शन करके उस सम्बन्धमे यह ज्ञान होता कि यह विष है तो उसे वह त्याग देता, पर जानकारी न होनेसे कहो उसे कोई कोई ग्रहण भी कर ले या कुछ भी हो किन्तु जानकारीके अभावमे केवल दर्शन हो जाना प्रमाण नही कहला सकता ।

अज्ञाननिवृत्ति हुए बिना दर्शनमात्रको प्रमाण मान लेनेपर अनुमानमे अप्रमाणकी सिद्धि——प्रतिभासमे प्रमाणता तब ही आती है जब वहाँ अज्ञाननिवृत्ति हुए बिना दर्शनमात्रसे ही प्रतिभासको प्रमाण मान लिया जाय, तो लो, निर्विकल्प दर्शनमे प्रमाणपना मान लिया गया ना । अब निर्विकल्प दर्शनने विषय किया क्षणिकपनेको, क्योकि क्षणिकवादसिद्धान्तमे निर्विकल्प दर्शनका विषय माना गया है क्षणिकपना निरशपना । तो निर्विकल्प दर्शनमे जैसे क्षणिकपनेका प्रतिभास हुआ है, उसको मान लिया,प्रमाण तो अब निर्विकल्प दर्शनसे पदार्थ प्रतिभास करनेके बाद जो क्षणिकपना सिद्ध करनेके लिए अनुमान बनाया जाता है तो वहाँ यह बताया जा सकेगा कि इस अनुमानने अधिगत अर्थको ही जाना है अर्थात् पहिले निर्विकल्प दर्शन द्वारा क्षणिकत्वका ज्ञान किया गया था, क्योकि उसे प्रमाण माना है, तो निर्विकल्प प्रत्यक्षसे जाने गए पदार्थको ही अनुमानने जाना और दर्शनशास्त्रमे यह माना गया है कि जो जाने गए पदार्थको जाने उस ज्ञानको धारावाही ज्ञान कहते हैं। धारावाही ज्ञानको दर्शनशास्त्रमे प्रमाण नही माना गया । तो अब अनुमान प्रमाण न बन सकेगा, क्योकि अनुमानने निर्विकल्प प्रत्यक्षसे जाने गए पदार्थको ही जाना है । तो यदि दर्शनमात्रसे निर्विकल्प दर्शनको प्रमाण मान लिया जाता तब अनुमानमे प्रमाणता नही बनती । इस कारण प्रमाण और फलको सर्वथा एक माननेपर भी

परम्परासे ये सारे दोष आ जाते हैं, इस कारण प्रमाण और फलके सम्बन्धमे यही निर्णय करना कि प्रमाणसे फल कथचित् भिन्न है और कथचित् अभिन्न है। प्रमाणका साक्षात् फल तो अज्ञाननिवृत्ति है और परम्परया फल उपेक्षा, हेयका त्याग, उपादेयका ग्रहण है। तो इन सब फलोको प्रमाणसे भेदरूप जाननेपर और अभेदरूप जाननेपर व्यवस्था बनती है। प्रमाणसे फलको सर्वथा भिन्न माननेमे भी सचाई नहीं है और सर्वथा एक माननेमे भी व्यवस्था नही है। इस प्रकार प्रमाणके स्वरूपका वर्णन करनेके बाद प्रमाणके फलका वर्णन सङ्क्षतविधिसे समाप्त किया गया।

स्यात् शब्दकी निष्पत्ति व स्वरूप सम्पत्तिकी जिज्ञासा—अब यहाँ एक जिज्ञासा होती है कि तत्त्वज्ञानका स्वरूप कहते समय यह बताया गया था कि वह तत्त्वज्ञान स्याद्वाद और नयसे सस्कृत है। अर्थात् स्याद्वाद और नयकी विधिसे तत्त्वज्ञानमें प्रमाणताका पोषण होता है और इसी प्रकार फलको भी बताया गया है कि यह भी स्याद्वाद और नयसे सस्कृत हैं, तब ही तो यह वर्णन किया गया कि प्रमाणका फल कथचित् भिन्न है व कथचित् अभिन्न है। तो इस प्रकार जो स्याद्वादके सस्कारकी बात कही गई हैं तो इस प्रकरणमे यह जिज्ञासा होती है कि स्यात् शब्दका व्युत्पत्यर्थ क्या है? स्यात् शब्दकी निष्पत्ति हुई किस प्रकार, ऐसी जिज्ञासा होनेपर समतभद्राचार्य कारिका द्वारा स्यात् शब्दका अर्थ बतला रहे हैं।

वाक्येष्वनेकान्तद्योति गम्य प्रति विशेषणम् ।

स्यान्निपातोर्थयोगित्वात्तव केवलिनामपि ॥ १०३ ॥

स्यात् शब्दके विवरणसे सम्बन्धित वाक्यके लक्षणके वर्णनकी प्राथमिकता—वाक्योंमे अनेकान्तका सकेत करने वाला यह स्यात् शब्द अर्थको यथार्थरूपसे जनानेके लिए समर्थ है। यह स्यात् शब्द निपात शब्द है। और यह पदार्थका यथार्थ स्वरूप समझा देता है। ऐसे हे भगवान। तुम्हारे सिद्धान्तमें और श्रुत केवली साधु परमेष्ठीके सिद्धान्तमें यथार्थरूपसे बताया गया है। इस कारिकामें अनेक बातोका स्पष्टीकरण किया गया है। स्यात् शब्द निपात शब्द है, और यह निपात शब्द केवल द्योतकमात्र ही नहीं है, किन्तु पदार्थकी जानकारीसे सम्बध बनाता है। यह स्यात् शब्द अनेकान्त विषयको प्रकट करने वाला है। अब इस स्यात् शब्दके विवरणसे सम्बन्धित वाक्यके लक्षणका विश्लेषण कर रहे हैं। वाक्य कहते किसे है,? पहिले यह जान लेना इस कारण जरूरी है कि वाक्यके लक्षणमें ही अनेक दार्शनिक परस्पर विवाद करते हैं। लोकमे जो कुछ भी व्यवहार चलता है वह जानकारीके आधारपर चलता है। जानकारीका साधन वाक्य प्रयोग है। किसी पुरुषके द्वारा वाक्य प्रयुक्त होनेपर उसका अर्थ जाना जाता है और अर्थ जाननेपर लोग यथायोग्य प्रवृत्ति किया करते हैं। तो

कहा—मैं अब एक घण्टा बाद मन्दिर जाऊगा । अब इसमे कितनेपद हो गये ? उन पदोंमेसे यदि किसी पदको उडा दिया जाय तो वक्ताका भाव समझमे न आयगा। अतएव जितने पद बोले गए हैं उन सबकी परस्पर अपेक्षा है। यदि इस वाक्यमे केवल इतना ही कहा जाय —मैं तब क्या अर्थ निकला ? मैं जाऊगा, इतना कहा तो इसमे भी क्या भाव निकला ? मैं मन्दिर इतना बोलनेपर भी क्या भाव निकला ? तो जितने पद बोले गए हैं इस वाक्यमे उन सब पदोको समझनेपर ही भाव समझमे आयगा कि यहाँ कहा है कि एक घण्टे बाद मदिर जाऊगा, तो जितने पदोकी परस्पर अपेक्षा है उनकी तो आवश्यकता है पर इसके अतिरिक्त अन्य किसी वाक्यके पदकी यहाँ अपेक्षा नहीं है, क्योकि इतने पदोंसे ही इस वाक्यका पूरा भाव जान लिया गया है। तो यो वाक्यका लक्षण यही सत्य बैठना है कि परस्परापेक्षा पदोंका निरपेक्ष समुदाय वाक्य कहलाता है। जो अन्य प्रक.रसे दार्शनिकोंने १० लक्षण वाक्यके बताये हैं उन वाक्योमे या तो विशेष विचार और विशेषण बनानेपर यही वाक्यका अर्थ मानना पडेगा अथवा उनका लक्षण बनता ही नही है।

आख्यात शब्दको वाक्य मानने वाले दार्शनिकके विवादका परिहार- जैसे पहिले दार्शनिकका कथन था कि आख्यात शब्दको वाक्य कहते हैं तो वहाँ यह बतायें कि उनका आख्यात शब्द प्रसिद्ध शब्द अन्य पदोकी अपेक्षा रख रहा या नहीं रख रहा ? यदि अन्य पदोकी अपेक्षा न रखकर आख्यात शब्दको वाक्य मान लिया जाय तो यह कैसे सम्भव है ? पदान्तरकी अपेक्षा न रखने वाले शब्दको एक पद ही कहेगे। जैसे किसी वाक्यमें जो भी एक विभक्ति वाला शब्द है उतना मात्र एक पद है। जब वह अन्य पदोकी अपेक्षा रखता है तब वाक्यका रूप बनता है। तो पदान्तर की अपेक्षा न रखकर आख्यात शब्द तो पद ही रह गया अन्यथा अर्थात् पदान्तरकी अपेक्षा न रखकर शब्द यदि पद न रहे, वाक्य बन जाय तो आख्यात पदका लक्षण भी नही बन सकता। फिर बतलाओ पद किसका नाम है ? पदान्तर निरपेक्ष शब्द तो वाक्य बन गया। अब पदका लक्षण बतायें। तो पदान्तरकी अपेक्षा न रखकर आख्यात शब्दको वाक्य नही कह सकते। यदि कहो कि पदान्तरकी अपेक्षा रखने वाले शब्दको ही वाक्य कहते है याने जो आख्यात शब्द है वह अन्य पदोकी अपेक्षा रखकर वाक्य बनाता है, तब यह बतलाओ कि अन्य पदोकी अपेक्षा तो रख ली आख्यात शब्द ने लेकिन क्या अपेक्षा ही अपेक्षा रखता जायगा या किसी अन्य पदकी अपेक्षा छोड देगा ? याने अन्य वाक्यमे रहने वाले पदोंसे निरपेक्ष बनता है या नहीं ? यदि कहो कि वह तो अपेक्षा ही अपेक्षा रखता है याने आख्यात शब्दने अन्य पदोकी अपेक्षा रखनेकी ठान ली तब तो जैसे अपने वाक्यके पदोकी अपेक्षा ठानी इसी प्रकार दूसरे दूसरे वाक्योमे आये हुए पदोकी भी अपेक्षा रखेगा तब तो कभी वाक्य बन ही नहीं सकता, क्योकि प्रकृत अर्थकी समाप्ति ही नही हो सकती। तब अन्य अन्य वाक्यान्तरो

मे रहने वाले पदोकी अपेक्षा रखने लगा आख्यात शब्द तब वह कभी वाक्य बन ही नही सकता। इस कारण आख्यात शब्द याने प्रसिद्ध शब्द पद पदान्तरकी अपेक्षा रख रहा है इतना तो ठीक है, पर अन्य पदोकी आकांक्षा यदि रखे, अन्य वाक्योके पदोकी भी अपेक्षा करे तो वाक्य नही बन सकता। तब यदि मान लिया जाय कि वह कही निराकांक्ष भी बनता है शब्द अर्थात आख्यात शब्दने अपने वाक्यमे रहने वाले पदोकी अपेक्षा रखी और अन्य वाक्यमे रहने वाले पदोकी अपेक्षा न रखी ऐसा यदि मानते हो तो बस ठीक है, वही तो वाक्यका लक्षण बताया जा रहा है कि परस्पर अपेक्षा रखने वाले पदोका जो निरपेक्ष समुदाय है उसको वाक्य कहते हैं। बडे-बडे निबन्धोके लेखोमे जितने भी वाक्य आते हैं उन सब वाक्योमे यही तो देखा जाता है कि उस वाक्यमे जितने पद बोले गए हैं और उनसे जो कुछ भाव विदित होता है वह भाव उतने पदोके समुदायमे ही विदित होगा। उनमेसे किसी पदको कमकर दिया जाय तो भाव विदित नही होता और उतने पदोसे भाव विदित हो ही जाता है। उस भावको समझनेके लिए दूसरे वाक्यके पदकी अपेक्षा नही रखनी होती तभी तो वह स्वतन्त्र वाक्य कहलाता है। उस वाक्यमे क्रिया समाप्त हो जाती है। तो इस तरह वाक्यका लक्षण आख्यातशब्द न रहकर यही बनेगा कि परस्पर सापेक्ष पदोका निरपेक्ष समुदाय वाक्य है॥

संघातको वाक्य कहने वाले दार्शनिकके विवादका निराकरण—दूसरा दार्शनिक कहता है कि संघातको वाक्य कहते हैं। जितने पद समुदायमे एक आख्यात पद होता है, प्रसिद्ध पद होता है उतने समुदायको संघात कहते हैं। तो पदोके संघात का नाम वाक्य है, ऐसा कहने वाले दार्शनिक यह बतायें कि क्या परस्पर अपेक्षा रखने वाले पदोके समुदायको वाक्य कहा जा रहा है या परस्पर पदोकी अपेक्षा न रखने वाले पदोके समुदायको वाक्य कहा जा रहा है। यदि कहो कि परस्परापेक्ष पदोके समुदायका नाम वाक्य है, तब वहाँ यह भी बतलाओ कि परस्परापेक्ष पदोका समुदाय तो मान लिया मगर कही निराकांक्षपना भी है या नही? अर्थात अन्य वाक्योके पदोकी अपेक्षा न रखे, ऐसी स्थिति वहाँ है या नही? यदि कहो कि हाँ, वह स्थिति है याने अन्य वाक्योके पदोकी अब वहाँ आकांक्षा नही है, उनकी अपेक्षा नही रहती, तो बस ठीक ही है, यही तो वाक्यका लक्षण बताया जारहा है कि परस्परापेक्ष पदो का समुदाय हो और वह अन्य वाक्योके पदोकी अपेक्षा न रखता हो, ऐसे संघातका नाम वाक्य है। यदि यह कहो कि परस्परापेक्ष पदोका समुदाय तो है किन्तु वह अन्य पदोकी भी अपेक्षा रखता है, ऐसा माननेपर यह वाक्यका लक्षण न बनेगा। जो बात आख्यात शब्दके वाक्यपनेके निराकरणमें बताई थी कि यदि अन्य वाक्योमे रहने वाले पदोकी अपेक्षा रखता है तो कभी वाक्य बन ही न सकेगा क्योंकि जो उस वाक्यमें प्रकृत अर्थ बताया था उसकी कभी समाप्ति ही न हो[illegible]गी अर्थात अन्य अन्य पदो

की अपेक्षा रखता है तो प्रकृत वाक्य बन ही न सकेगा। यदि शङ्काकार यह कहे कि परस्पर अनपेक्ष पदोके संघातका नाम हम वाक्य कहते हैं तो इस विकल्पमे तो बडा अतिप्रसङ्ग आता है। बहुतसे पुरुष पदोका उच्चारण करते है और करते ही रहते हैं। तो उन सबके पदोका नाम वाक्य हो जाना चाहिए क्योकि अब तो यह माना जा रहा है कि परस्पर अपेक्षा न रखने वाले पदोके समुदायको वाक्य कहते हैं, तो कोई पुरुष कोई शब्द बोल रहा, कोई पुरुष कोई दूसरा शब्द बोल रहा तो ऐसे बीसो पुरुषोके बोले गए किन्हीं किन्हीं ही पदोके समुदायको वाक्य कह दिया जायगा, पर यो बनता तो नही। ऐसे पदोके कितने भी समूह बना लिए जायें, उनसे कोई एक भाव विदित ही न होगा। अत संघात वाक्य है, यह कथन भी वाक्यका उक्त लक्षण स्वीकार किए बिना सही नही होता।

संघातवर्तिनी जातिको वाक्य मानने वाले दार्शनिकके विवादका निराकरण—अब तीसरा दार्शनिक कहता है कि न तो आख्यात शब्दका नाम वाक्य है और न संघातका नाम वाक्य है, किन्तु संघातमें रहने वाली जो जाति है, पदोकी समानता है, सदृशता है उसका नाम वाक्य है। उसके समाधानमें कहते हैं कि यह कथन भी युक्तिसगत नही है, क्योकि यहाँ भी यह बतलाओ कि पद समूहमे रहने वाली जातिको वाक्य तो बताया लेकिन वह परस्परापेक्ष रखने वाले और अन्य वाक्यामे अपेक्षा न रखने वाले पदोके समूहमे रहने वाली जातिको वाक्य कहा जाय तो वह युक्तिसगत है और इसमें भी वही लक्षण आ गया कि परस्परापेक्ष पदोका निरपेक्ष समुदाय वाक्य कहलाता है अन्य प्रकारसे जातिको वाक्य माननेमे वाक्यपनेका विरोध आता है। तो जातिके कहनेसे एक सदृश परिणमनपर ही तो दृष्टि डाली, सो मान लिया जाति, लेकिन जिन पद समूहोमें रहने वाली जातिको वाक्य कहा जा रहा है वह पद समूह परस्परापेक्ष हो और अन्य वाक्योंसे निरपेक्ष हो तो इस दृष्टिमें भी वाक्य का वही एक लक्षण स्वीकार किया गया समझना चाहिए। यदि परस्परापेक्ष और अन्य वाक्योंमे रहने वाले पदोकी निरपेक्षता नही मानी जाती तो वह वाक्य नही बनता।

एक अनवयव शब्दको वाक्य कहने वाले दार्शनिकके विवादका परिहार—चौथा दार्शनिक कहता है कि एक निरश शब्दका नाम वाक्य है, यह कथन तो स्पष्ट अयुक्त है, क्योकि जो एक निरंश शब्द है वह प्रमाण करने वाला नहीं है, क्योंकि स्रोत्र बुद्धिमें अर्थात् कर्ण इन्द्रिय द्वारा होने वाले भावोंमे एक निरश शब्द प्रतिभास नहीं होता है। और, कोई कहे कि उस निरश एक शब्दका प्रतिभास करने वाला अनु-

मान बन जायगा तो अनुमान भी नही बनता, क्योकि उस साध्यका प्रतिबन्ध अविनाभावी कोई साधन नही है, इस कारण निरश एक शब्दको ग्रहण करने वाला न तो श्रावण प्रत्यक्ष है और न अनुमान प्रमाण है, अतएव निरंश एक शब्दका नाम वाक्य है यह कथन अयुक्त है। यदि शङ्काकार यह कहे कि निरंश एक शब्दको ग्रहण करा दे ऐसा चिन्ह अर्थापत्ति ही तो है। अर्थापत्ति उसे कहते है कि जिसके होनेपर जो हो। जैसे अन्य नु पत्ति मे यो कहा जाता कि जिसके न होनेपर जो न हो, तो निरंश एक शब्दके होनेपर जो कुछ होता है वह लिङ्ग बन जायगा। तो समाधानमे कहते हैं कि ऐसी बात तो निरश शब्दके बिना भी हो जाती है। अर्थात् जो बात व्यवहारमे आती है उस व्यवहारकी बातसे लिङ्गसे निरश एक शब्दकी सिद्धि करते हो तो वह केवल कल्पना ही है। इस व्यवहारसे हो परस्परापेक्ष साश शब्दकी सिद्धि होती है। अतएव निरश एक शब्दका नाम वाक्य है, यह कथन जरा भी युक्ति सगत नहीं बैठता।

शब्दोके क्रमको ही वाक्य मानने वाले दार्शनिकके विवादका निराकरण—अब ५ वें दार्शनिक कहते हैं कि क्रमका नाम वाक्य कह दिया जाय, याने वाक्यमे कुछ शब्द तो रखे ही जाते हैं और उन शब्दोंमें क्रम होता है। लिखे हुए वाक्य मे भी क्रम पाया जाता है बोलते समय वाक्यमे भी क्रम पाया जाता है तो उसी क्रम का नाम वाक्य है। समाधानमे कहते हैं कि यह कथन भी विचार करनेपर अयुक्त सिद्ध हो जाता है। यदि क्रमका नाम वाक्य कहा जाय तो वर्ण मात्रका भी क्रम होता है। जैसे क ख ग घ इन शब्दोका, वर्णोका भी क्रम पाया जाता, तो यदि क्रमका नाम वाक्य हो तो केवल इन वर्णोके क्रमका नाम भी वाक्य बन जायगा, पर ऐसा कहाँ है? क्या क ख ग घ इतना बोलनेसे वाक्य बन गया ? क्रम तो यहाँ भी पाया गया पर यह वाक्य तो नहीं कहलाया। इस कारण क्रमका नाम वाक्य है यह बात युक्तिसगत नही है। शङ्काकार कहता है कि पदरूपताको प्राप्त हुए वर्ण विशेषोके क्रमका नाम वाक्य है ऐसा समझना चाहिए। तो उत्तरमे पूछते हैं कि पदरूपको प्राप्त हुए वर्णोके क्रमका नाम वाक्य है यह तो ठीक है पर यह बतलाओ कि कैसे पदोके क्रमका नाम वाक्य है? क्या परस्परापेक्ष और वाक्यान्तरमे रहने वाले पदोंमे निरपेक्ष समुदायका नाम वाक्य है ? यदि ऐसा है तो पदोका समुदाय ही वाक्य कहलाया क्योकि, क्रमसे होने वाले वर्णोंका कालकी समीपतासे ही समुदायपना है। और एक साथ होने वाले पदार्थोके देशकी समीपतासे ही समुदायपना होता है। यदि कहो कि पदोका क्रम सापेक्ष है तो वह वाक्य न बनेगा अर्द्धवाक्यकी तरह और परस्पर निरपेक्ष पदोके क्रमको वाक्य मानने पर तो यह दोष आता है कि बहुतसे पुरुष उच्चारण करे कुछ भी, उन सबको मिलाकर भी उनको वाक्य कह देना पडेगा, इस कारण क्रमका नाम वाक्य है, यह कथन भी उक्त वाक्य लक्षण माने बिना समीचीन नही सिद्ध होता।

बुद्धिको वाक्य मानने वाले दार्शनिकके विवादका निराकरण—छठा

दार्शनिक कहता है कि बुद्धिका नाम वाक्य है सो इस सम्बन्धमें यह दर्शनिक बतलाये कि बुद्धिका नाम जो वाक्य कहा गया है वह भाववाक्य है या द्रव्यवाक्य ? यदि कहो कि भाववाक्य है बुद्धि तब तो यह इष्ट ही है। बुद्धिमें जो भाव आया समझ आयी उसको नाम भाववाक्य है। यदि कहो कि द्रव्यवाक्य बुद्धिका नाम है तो इसमें परस्पर विरोध है। द्रव्यवाक्य तो शब्दरूप हुए और शब्दात्मक वाक्यको बुद्धिरूप कोई कैसे मान लेगा ? वह तो अचेतनकी चीज है। और बुद्धि चेतनका धर्म है। तो द्रव्यवाक्य को बुद्धिरूपसे माननेमें प्रतीतिका ही विरोध आता है, अब बुद्धि वाक्य है ऐसा कथन करना भी एकान्ततः युक्तिसगत नहीं है। हां वाक्यका जो लक्षण बताया गया है उसके आधारसे जो भाववाक्य बना वह बुद्धिरूप है, ऐसा कहनेमें वाक्यलक्षणका कोई विरोध नहीं है।

अनुसंहृतिको वाक्य माननेवाले दार्शनिकके विवादका परिहार—सातवां दार्शनिक कहता है कि अनुसंहृतिका नाम वाक्य है, अनुसंहृतिका अर्थ है पदोंके अनुसार स्मरण। जैसे कि पद बोला गया है उन पदोंके अनुसार जो स्मरण होता है उसको वाक्य बताया है। इस दार्शनिकका यह कथन भी अनिष्ट नहीं है, क्योंकि जो वास्तविक वाक्य है भाववाक्य है वह ऐसा ही तो बनता है, जिस पुरुषको कहे गए पदोंका अनुकूल स्मरण हो रहा है उस पुरुषके ही तो भाववाक्य बनता है, और ऐसा मानना अभीष्ट है, इसमें किसी भी प्रकारका विरोध नहीं है। वाक्यका जो लक्षण बताया गया है कि परस्पर अपेक्षा रखने वाले पदोंके निरपेक्ष समुदायको वाक्य कहते हैं तो पदकी अपेक्षा रखे तो उन कागजपर लिखे गए शब्दोंने अपेक्षा नहीं रखी, अथवा जो बोलनेमें शब्दरूप परिणमन हुआ है उन परिणमनोंने अपेक्षा नहीं रखी, किन्तु समझने वालेने उन पदोंकी परस्पर अपेक्षा रखी है। और इस तरह परस्पर अपेक्षा रखना तब ही बना कि जब उनका स्मरण भी साथ साथ चलता रहता है। तो वाक्य के उस लक्षणसे सम्बन्ध रखते हुए पदोंके अनुसहरणका नाम वाक्य कहा जाय तो इसमें किसी भी प्रकारका विरोध नहीं है। इस लक्षणसे मेल खाता हुआ अनुसंहृति को वाक्य कहा जाय तो इस कथनमें किसी भी प्रकारकी असंगतता नहीं है।

आद्यपद, अन्त्यपद व सापेक्षपदको वाक्य माननेवाले दर्शनोंकी समीक्षा—अब ८ वां दार्शनिक कहता है कि आद्यपदका नाम वाक्य है सो इस सम्बन्ध में भी यदि ऐसा मान लिया जाय कि अन्य पदोंकी अपेक्षा रखने वाला आद्य पद वाक्य है तो इसमें भी कोई अनिष्ट बात नहीं है और इसी प्रकार ९ वां दार्शनिक मानता है कि अन्त पदका नाम वाक्य है, इसमें भी यदि पूर्व पदोंका आधार लेकर उनकी अपेक्षा रखकर अन्तिम पदको वाक्य कहा जाय तो इसमें कोई आपत्ति नहीं है, इसी प्रकार १० वें दार्शनिकने कहा कि सापेक्ष पदका नाम वाक्य है सो वह युक्ति सगत ही है।

पदान्तरकी अपेक्षा रखने वाले पद चाहे आदि हों, अन्त हों या अन्य हों वह वाक्य कहलाता है इस लक्षणमें और जो ऊपर वाक्यका लक्षण किया है कि परस्परमें पद का निरपेक्ष समुदाय वाक्य है इस लक्षणमें समंजसता ही है, किसी भी प्रकारका विरोध नहीं है। तो इस पद वाक्यके लक्षणमें भी यह बात सिद्ध होती है कि जहाँ आवश्यक पदोंकी अपेक्षा है और अनावश्यक अर्थात् अन्य वाक्यमें कहे गए पदोंकी अपेक्षा नहीं है तो ऐसे परस्पर सापेक्ष पदके समुदायको वाक्य कहते हैं। यदि यह लक्षण नहीं माना जाता तब पदोंका लक्षण भी सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि पदोंका लक्षण भी तो ऐसा ही माननेमें निर्बाध स्वरूप बनता है कि परस्पर अपेक्षा रखने वाले वर्णोंका निरपेक्ष समुदाय पद कहलाता है। जैसे "मैं एक घंटे बाद मन्दिर जाऊंगा" ऐसा वाक्य बोला गया तो इसमें पद है—मैं, एक, घंटे, बाद मन्दिर जाऊंगा, किन्तु इसमें एक एक पदमें अनेक वर्ण हैं। तो फिर जैसे उन पदोंकी अपेक्षा रखनेपर वह वाक्य बना और वक्ताके कथनका भाव समझा जा सका इसी प्रकार एक पदमें जैसे कि मन्दिर पद बोला तो म दि र जैसे ये तीन स्वरांत शब्द हैं ये भी यदि परस्पर अपेक्षा न रखे, मैं किसीने बोल दिया, दि कहीं बोला गया र कहीं बोला गया, और उनकी अपेक्षा न रखी तो कोई पद भी न बन सकेगा। पदोंमें भी यह लक्षण बनता है कि परस्पर अपेक्षा वर्णोंका निरपेक्ष समुदाय पद कहलाता है। तो वाक्यका उस पद्धतिसे लक्षण न माननेपर पदका स्वरूप भी नहीं बन सकता है इस कारण वाक्यका लक्षण जो जानना चाहा था कि वाक्य कहते किसे हैं, निर्दोष लक्षण यह सिद्ध होता कि परस्परापेक्षा पदोंका निरपेक्ष समुदाय वाक्य है।

साकांक्षतामें वाक्यस्वरूप बननेके अनवकाशकी शंका—अब यहाँ शङ्काकार कहता है कि यदि वाक्यका लक्षण ऐसा मान लिया जाता कि निराकांक्ष परस्परापेक्ष पद समुदायका नाम वाक्य है तब फिर यह बात यहाँ बन ही न सकेगी। जैसे कि अनुमान-प्रयोग द्वारा कोई बात सिद्ध की जाती है और उस अनुमान प्रयोगमें अनुमानके कुछ अंगोंके बोलनेके बाद भी किसीको अर्थका ज्ञान हो जाता है और वह वाक्य मान लिया जाता है तब तो वाक्य न बन सकेगा। जैसे अनुमान प्रयोग किया कि जो सत् है वह सब परिणामी है अर्थात् परिणमन करने वाला है। जैसे कि घड़ा, और शब्द भी सत् है इस कारण शब्द परिणामी है, यों आकाशके गुणको परिणामी सिद्ध करनेके लिए जो अनुमान किया है उस अनुमानमें जो साधन वाक्य कहा वह तो पूर्ण वाक्य न बन सकेगा, क्योंकि इतना कहनेके बाद उसे आकांक्षा रही आयी कि इस कारण शब्द परिणामी है। अनुमानके अंग ५ कहे गए हैं—प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन तो प्रतिज्ञा, हेतु दो कहकर भी साधन वाक्य मान लेना कहीं तीन अंग कहकर भी उस वाक्यके कथनको पूरा मान लिया जाता, कहीं चार अंग कहकर मान लिया जाता तो ये अंग कैसे बन सकेंगे, क्योंकि इन सबके किसी

अङ्गकी अपेक्षा बनती रहती है और जब उसकी अपेक्षा बनी रही तब फिर वह वाक्य न कहला सकेगा, क्योंकि निरपेक्ष समुदायको वाक्य कहा है, इतना कहनेके बाद भी जब आकांक्षा बनी रही तो यह वाक्य कैसे बन सकेगा ?

प्रतिपत्ताकी निराकांक्षताके आधारपर वाक्यके स्वरूपका निर्णय— उक्त शङ्काके समाधानमें कहते हैं कि कुछ भी कथन करनेके बाद यदि श्रोता मान समझ लेता है तो उतनेको ही वाक्य मान लीजिए, इसमें कोई आपत्ति नहीं, क्योंकि इस समझने वालेको उतना ही सुन करके पूर्ण भाव ज्ञात हो गया, अब आगे की आकांक्षा न रही। तो निराकांक्षपना होना याने अन्य पदोंकी आकांक्षा न रखना यह बात तो जानने वालेका धर्म है। और, जानने वालेके इस धर्मको वाक्यमें आरोपित किया जाता है। वाक्यका लक्षण करते समय जो यह कहा गया कि परस्पर अपेक्षा रखने वाले पदोंका निरपेक्ष समुदाय वाक्य कहलाता है तो क्या ये शब्द अथवा पुस्तकमें लिखे हुए अक्षर ये अपेक्षा रखते हैं ? अपेक्षा रखना, इच्छा करना यह तो चेतनका धर्म है। तो जाननहारके इस धर्मको वाक्योंमें आरोपित करके यह कहा जाता है। शब्दका धर्म नहीं है कि वह निगमनकी अपेक्षा करे। शब्द तो अचेतन है। यदि जाननहार पुरुष उतने ही शब्द बोलकर सुनकर अर्थको समझ लेता है तो फिर किसलिए शेष पदोंकी आकांक्षा करे वह जाननहार पुरुष ? तो यह मानना होगा कि समझने वाला पुरुष अपनी कोई समझ बनानेके लिए जहाँ तक पदोंकी अपेक्षा रखता है उतने पदोंके समुदायको वाक्य कहते हैं अन्यथा यदि जाननहारका धर्म न माना जाय आकांक्षा रखना और जाननहारकी निराकांक्षतापर वाक्यकी समाप्ति न मानी जाय तो उपसंहार बोल देनेपर भी उतना कथन तक करने वालेके वाक्यमें अर्थप्रतिपत्ति तो हो जाती है, मगर हठ कर दिया जाय यह कि अभी वाक्य कैसे बनेगा ? निगमनकी तो अपेक्षा है अभी, अर्थात् अनुमानमें जो फलित निर्णय बोला जाता है कि इस कारण शब्द परिणामी है अथवा पर्वतमें अग्नि है यों जो उपसंहारात्मक वच बोला जाता है उनकी अपेक्षा बताना हो तो कभी कोई निगमन पर्यन्त भी अनुमानके अवयव बोले जायें तो पञ्च अवयव वाले वाक्यसे भी अर्थप्रतिपत्ति हो गई। लेकिन वहाँ यह प्रसंग लगाया जाता कि ठहरो ठहरो अभी वाक्य कैसे हो जायगा ? अभी साधनके अंग अवयवके वचनकी भी अपेक्षा है। जैसे अनुमानमें यह जान लिया कि इस पर्वतमें अग्नि है धूम होनेसे। जहाँ जहाँ धूम होता है वहाँ वहाँ अग्नि होती है, जहाँ अग्नि नहीं होती वहाँ धूम नहीं होता। और यहाँ धूम है इस कारण अग्नि होना चाहिए। अनुमानका यह प्रयोग पूरा हो गया। अब यह प्रयोग पूरा बोल देनेके बाद यह कह दिया जायगा कि ठहरो ठहरो, अभी दूसरी प्रकारसे कुछ अवयव भी बोलने बाकी रह गये। जैसे अग्निको जिसने जन्म दिया है ऐसा यह पर्वत है या अन्य अन्य प्रकारसे उस बातको बोलनेकी अपेक्षाका अलग लगाया जा सकता है और फिर इस पद्धतिमें पुरुष कहीं भी

निराकांक्ष नहीं बन सकता कि उसे जो कुछ समझना था वह पूरा समझ गया, अब अन्य पदोंके बोलने सुननेकी आवश्यकता नहीं रही। तो यों फिर कहीं भी निरपेक्षता न रह सकेगी और इस तरह तब कभी कोई वाक्य ही न बन सकेगा क्योंकि कुछ भी बोल दिया जानेपर भी अन्य पदोंकी आकांक्षा तो मानी जाया करेगी तो वाक्य न बनेगा। फिर वाक्यके अर्थका ज्ञान किसीको भी नहीं हो सकता इस कारण यह मान लेना चाहिए कि जिस ज्ञानी पुरुषको जितना परस्परापेक्ष पदोंके समुदाय कर लेनेपर निराकांक्षता जग जाय, अन्य आकांक्षा न रहे उस पुरुषको उतने ही पदोंमें वाक्यपनेकी सिद्धि होती है अर्थात् उसके लिए उतने पदोंके समुदायका नाम वाक्य है, यों परस्परापेक्षता मात्र लेनेपर सर्व बात युक्तिसंगत समीचीन सिद्ध हो जाती है।

प्रकरणवश थोड़े पदोंको सुनकर अर्थ परिज्ञान होनेमें भी वाक्यलक्षण की सुघटितता—शङ्काकार यहाँ कहता है कि कभी प्रकरण आदिकसे भी तो अर्थ की प्रतिपत्ति हो जाती है। न भी वाक्यके पूरे शब्द बोले जायें, थोड़ा भी कहा जाय तो उस अधूरे वाक्यसे भी तो प्रकरणके वशसे अर्थका परिज्ञान कर लिया जाता है। तब यह बात कहाँ रही कि परस्परापेक्ष पदोंके समुदायको वाक्य कहते हैं। इस शङ्का के समाधानमें कहते हैं कि जहाँ प्रकरणवश थोड़े पदोंको सुनकर अर्थ ज्ञान लिया जाता है वहाँ जितना आवश्यक है परस्परापेक्ष पद उन पदोंका इस प्रतिपत्ताने प्रयोग किया और उसके आगे अन्य पदोंकी आवश्यकता न रही, इस कारण निराकांक्षता रही। ऐसी स्थितिमें भी जो सर्व प्रथम वाक्यका लक्षण बताया गया है उस लक्षणमें दोष नहीं आता। जो पुरुष प्रकरण आदिक द्वारा किसी अर्थको जान लेते हैं तो उस स्थितिमें जाननेमें सहायक जितने पदोंकी अपेक्षा रहती है उन अनेक पदोंको सुनकर उस प्रतिपत्ताको अब आगेके पदोंकी आकांक्षा नहीं रहती। तो वाक्यका लक्षण तो वहाँ भी सिद्ध हो गया। वाक्यका लक्षण यह बताया गया था कि परस्परापेक्ष पदोंका निरपेक्ष-समुदाय वाक्य कहलाता है सो उस प्रकरणमें प्रतिपत्ताने जितने पदोंकी अपेक्षा की जितना आवश्यक थी उनकी तो अपेक्षा हुई, अब जब उतनेसे ही सब अर्थ जान लिया गया तब अन्यकी अपेक्षा नहीं रही। वह पदान्तर ही कहलाया, जिसकी अपेक्षा आवश्यक नहीं हुई। जैसे प्रकरण कोई सत्यभामाके कथनका चल रहा है और वहाँ कोई "सत्य", इतना ही शब्द बोल दे अथवा 'भामा' इतना ही शब्द बोल दे तो जैसे वहाँ पूरे नामका ज्ञान हो जाता है इसी तरह प्रकरणवश कुछ ही पद सुननेपर वहाँ पूरे अर्थका भान हो जाता है, तो कुछ पदकी अपेक्षा रही, और इतने पदको सुनकर जब पूरा अर्थ समझ लिया गया तो अन्य पदोंकी आकांक्षा न रही, इस कारण वाक्य का लक्षण वहाँ भी सही घटित होता है।

स्यात् शब्दकी अनेकान्ततत्त्व प्रकाशकता—उक्त प्रकार वाक्यका

निर्णीत करके अब बताते हैं कि उक्त लक्षणवाले वाक्योंमे जहाँ स्यात् शब्द पड़ा है वह अनेकान्तका प्रकाश करने वाला है। जैसे 'स्यात् अस्ति' यह पूरा नय वाक्य है। 'स्यात् नास्ति' यह पूरा नय वाक्य है, अथवा उसको विशेषतासे कहे तो स्यात् जीव अस्ति, अथवा स्यात् जीव नित्य अस्ति। जितना जो कुछ कहा है वह उस ा पूरा एक एक वाक्य है, तो इन वाक्योंमे जो स्यात् शब्द दिया गया है वह अनेकान्त शब्दका प्रकाश करने वाला है, न कि वह स्यात् शब्द विधि विचार, प्रश्न, निमंत्रण आदिक विषयोंको बताने वाला है, क्योंकि विधि, विचार, प्रश्न आदिककी विवक्षा वहाँ नहीं है। तो यह स्यात् शब्द अनेकान्तका प्रकाश करता है कि इस अपेक्षासे पदार्थका यह धर्म है। और अन्य अपेक्षासे पदार्थमे अन्य भी धर्म हैं इस प्रकारकी ध्वनि बताता है अब यहाँ यह जिज्ञासा होती है कि वह अनेकान्त क्या है? जिस अनेकान्तको स्यात् शब्द प्रकाशित करता है? तो सुनो अब अनेकान्तका स्वरूप। अनेकान्तका मुख्यतया यह स्वरूप है कि सत् असत् नित्य अनित्यादिक जितने सर्वथा एकान्तरूप हैं उन सर्वथा एकान्तरूपका निराकरण कर दे ऐसे लक्षण वाला अनेकान्त होता है, पर ऐसा वह अनेकान्त प्रत्यक्ष और आगमसे अविरुद्ध होता है। क्योंकि, कोई भी वक्तव्य, कोई भी विषय रूपान्तरसे रहित नहीं होता। यदि किसी भी पदार्थको सत् भी कहा गया है कि सत् है तो इसके साथ यह जुड़ा हुआ होना ही चाहिए कि यह अन्य अपेक्षासे असत् है, तो जब कोई भी बात रूपान्तरसे रहित नहीं है तो वहाँ अनेकान्त होगा ही और ऐसा नियमित प्रकारका अनेकान्त कि जिसमे न तो प्रत्यक्षसे बाधा आये और न आगमसे बाधा आये, न अन्य प्रमाणसे बाधा आये, इस प्रकार सर्वथा एकान्त निराकरण करने वाला अनेकान्त होता है। तो वहाँ किसी जगह प्रयोग किया गया स्यात् शब्द वस्तुका विशेषणरूप होनेसे अर्थात् उस अर्थ समुदायका वाचक होनेसे जो प्रकृत अर्थ तत्त्व है उसकी सूचना देता है।

स्यात् शब्दकी शभवी अनेक भावोंकी द्योतकता—पदार्थके सम्बन्धमें जो कुछ भी भाव बताया जा रहा है उस भावकी सूचना भी यह स्यात् शब्द देता है, क्योंकि, निपात शब्दमे प्रकृत अर्थकी सूचना देनेका स्वभाव है, जैसे "एव" शब्द निपात शब्द है जिस 'एव' का अर्थ 'ही' होता है, अवधारण कराने वाला शब्द है 'एव' तो जिसके साथ 'एव' शब्द लगता है वह प्रकृत अर्थका पूर्णतया पोषण करने वाला होता है। अब इसके साथ यह भी बात समझना चाहिए कि निपात द्योतक भी हुआ करता है। केवल वाचक ही हो, सूचक ही हो, इतनी ही बात नहीं है किन्तु द्योतक भी होता है, तब स्यात् शब्दने अनेकान्तका प्रकाश भी किया, लेकिन कोई यह सोचे कि स्यात् शब्दने जब अनेकान्तका प्रकाश कर दिया है तब विशेष शब्दोंका कहना व्यर्थ हो जायगा जब 'स्यात्' इतने शब्दसे ही यह जान लिया गया कि अस्तिका कथन इस ढग मे चल रहा है तो फिर वहाँ जीव अस्ति [illegible] प्रकारके शब्दोंका उच्चारण

करना व्यर्थ हो जायगा, सो ऐसी आशंका न करना चाहिए क्योंकि ऐसा न्याय है कि सामान्यका वर्णन होनेपर भी विशेषका वर्णन किया जाता है। तो स्यात् शब्द द्वारा यदि सामान्यतः अनेकान्तको प्रकाश कर दिया गया फिर भी उस ही तत्त्वको जीवादिक पदोंके द्वारा विशेष रूपसे कहा जाता है। इसमें किसी भी प्रकारके दोषकी बात नहीं है। बल्कि यह न्यायसगत ही बात है। जीवादिक पदोंके ग्रहण करनेका अविरुद्ध रूपसे स्यात् शब्द द्वारा योग बनता है तो वहां स्यात् शब्दके योगसे अनेकान्त सामान्यकी प्रतिपत्ति हुई। फिर भी विशेष प्रतिपत्तिके लिए अन्य पदोंकी आवश्यकता समझी ही गई है।

सूचक स्यात् शब्दकी गम्य अर्थवाचकता—अब स्यात् शब्दके सूचकपनेके पक्षकी बात सुनो—जहां यह माना जाय कि स्यात् शब्द तो किसी कही हुई बातकी सूचना ही करता है। तो स्यात् शब्दको सूचना करने वाला माननेके पक्षमें भी यह बात आयी कि जो अर्थरूप गम्य है, स्यात् जीव ऐसा कहनेपर उसका प्रतिपक्षी अभाव भी जान लिया जाता है और उसका असत् रूपसे वर्णन करना ध्वनित होता है ऐसे गम्य अर्थरूपके प्रति वह स्यात् शब्द विशेषण रूप है। अर्थात् वह भेद बताने वाला है कि यह जीव है, अजीव नहीं है, तब गम्य अर्थका वह विशेषक ही हुआ। गम्य अर्थ है अजीव, उससे अपरत बुद्धि कराया कि यह जीव है, अजीव नहीं है। तो सूचकपनेके पक्षमें भी वह गम्य अर्थका विशेषक ही बना तब अनेकान्तका ही द्योतन किया गया। देखिये कोई भी वाक्य केवलज्ञानकी तरह समस्त पदार्थोंको एक साथ नहीं बता सकता है। इसी कारण स्यात् शब्द अभिधेय विशेषका सूचक माना गया है और इसी कारण इस सूचनाके लिए स्यात् शब्दका प्रयोग किया जाता है। वचन क्रमसे हुआ करते हैं और उन वचनोंके अनुसार जो बुद्धि बनती है वह बुद्धि भी क्रमसे हुआ करती है। इस कारण किसी भी प्रतिपाद्य तत्त्वको समझनेके लिए स्याद्वादकी आवश्यकता होती है। इसी कारण हे भगवन्! तुम्हारे सिद्धान्तमें और श्रुतकेवलीके मार्गमें स्यात् निर्गत शब्द मानना इष्ट ही है। क्योंकि उस स्यात् शब्दसे अर्थका योग बनता है। पदार्थके सम्बन्धमें इसकी जो यथार्थ जानकारी करता है वचनोंके द्वारा उसका प्रयोग किया जानेपर भी पूर्ण अर्थ ज्ञानमें आ जाय ऐसा चमत्कार इस स्यात् शब्दके प्रयोगमें बसा हुआ है? स्यात् शब्दके प्रयोग बिना हम छद्मस्थ जीवोंको अनेकान्तात्मक अर्थकी प्रतिपत्ति नहीं हो सकती। इस तरह जो एक जिज्ञासा की गई थी इस कारिकाके प्रारम्भमें कि वह स्यात् शब्द क्या कहलाता है जिस स्याद्वादसे संस्कृत तत्त्वज्ञानको प्रमाण कहा गया है। और उसके फलको भी स्याद्वादसे संस्कृत किया गया है उस स्यात् शब्दका इस कारिकामें भली भांति अर्थ बताया गया है। अब शंकाकार ऐसी शंका कर सकता है कि कथंचित् कथंचन आदिक शब्दोंसे भी तो अनेकान्त अर्थकी प्रतिपत्ति हो जाती है फिर स्यात् वचनका

ही महत्त्व क्यों बताया जा रहा है ? उसका समाधान संक्षेपमें यह है कि कथंचित आदिक शब्दसे भी अनेकान्तात्मक अर्थका ज्ञान किया जाता है सो तो सत्य है पर वह कथंचित, कथंचित् आदिक शब्द पद्धति भी स्यात् वचनका पर्याय रूप है। चाहे कथंचित् वाद कहो, अपेक्षावाद कहो, स्याद्वाद कहो, ये सब ही एकार्थवाची शब्द हैं। तो कथंचित् विधिका प्रयोग भी स्याद्वाद पद्धति है, इसी बातको अब इस कारिकामें बतायेंगे।

स्याद्वादः सर्वथैकान्तत्यागात् किंवृत्तचिद्विधिः।
सप्तभंगनयापेक्षो हेयादेयविशेषकः ॥१०४॥

स्याद्वादकी किंवृत्तचिद्विधिता—स्याद्वाद अर्थात् स्याद् यह शब्द सर्वथा एकान्तका त्याग होनेसे कथंचितका ही प्रयोगरूप है। और वह कथंचितका प्रयोग अथवा स्याद्वाद सप्तभंगनयोंकी अपेक्षा रखता है और हेय उपादेयका भेद कराने वाला होता है। किंवृत्तचिद्विधि इस शब्दका अर्थ यह है कि जो कि शब्दसे निष्पन्न हो है उसे कहते हैं किंवृत्तचिद्विधि, अर्थात् कथंचित कथंचन किंचित, किञ्चन आदिक शब्द ये स्याद्वादके सूचक हैं सो यह स्याद्वाद अनेकान्त को अभिप्रायमें रखकर सप्तभङ्गनयोंकी अपेक्षा रखता हुआ स्वभावसे सत् और परभावसे असत् आदिक रूपसे व्यवस्थाको करता है। स्याद्वादमें जिस भङ्गमें जिस धर्म का प्रयोग किया गया है उस धर्मका एकान्त नहीं है। किन्तु उस धर्मका प्रयोग करने वाला पुरुष अपने अभिप्रायमें अनेकान्त स्वरूपको बनाये हुए है और अनेकान्त स्वरूपका प्रकाश पाकर फिर उसमेंसे किसी धर्मको प्रधानतासे कहनेका प्रकार। वह स्याद्वादका एक भङ्ग है। इस तरह स्याद्वाद अनेकान्तको विषय करके सप्तभङ्ग और नयोंकी अपेक्षा रखता हुआ हेय और आदेयका भेद करने वाला होता है।

द्रव्यार्थिकनय व पर्यायार्थिकनयकी शुद्धि व अशुद्धिके माध्यममें सात नयोंकी निष्पत्ति—इस प्रकरणमें यह भी जान लेना चाहिए कि वे ७ भङ्ग कौन हैं और ७ नय कौन हैं, क्योंकि इस कारिकामें सप्तभङ्ग और नयोंकी अपेक्षा करनेकी बात कही गई है। तो इसमें सप्तभङ्गका तो वर्णन बहुत विशेष रूपसे कर ही दिया गया। अब नयोंकी बात सुनो। नयके मूल भेद दो हैं (१) द्रव्यार्थिकनय, (२) पर्यायार्थिकनय। तो मूल ज्ञान दो विभागोंके वशसे अर्थात् इन दो मूल नयोंके प्रकाशमें नैगम आदिक अनेक प्रकारके नय उत्पन्न होते हैं। जो नय कोई तो शब्दका विषय करने वाले हैं, कोई अर्थका विषय करने वाले हैं। अर्थात् कुछ नय शब्दनय हैं कुछ अर्थनय हैं। ऐसे ये नैगम आदिक नाना नय होते हैं और इन नाना नयोंकी उत्पत्तिका साधन यह है कि मूल नय जो द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक ये दो हैं इन दो नयोंकी शुद्धि और अशुद्धि की जानेसे नयोंके बहुत विकल्प बन जाते हैं। शुद्धिका

अर्थ है भेद और अशुद्धिका अर्थ है अभेद। शोधन करना भेद पद्धतिमे बनता है। जैसे व्यवहारमें कोई कहता है कि इन चावलोंको शुद्ध करो अर्थात् कूड़ा कचरा निकाल कर केवल चावल रह जायें ऐसी प्रक्रिया बनाओ। तो शुद्ध करनेकी पद्धति भेदवाद ही तो हुई। वहां यह पहिचान गए कि ये चावल हैं और ये चावलके अतिरिक्त पदार्थ हैं। उनको भेद मालूम किया गया। उसका फल यह हुआ कि वहां शुद्धि प्रकट हुई। तो शुद्धिका अर्थ भेद है और अशुद्धिका अर्थ अभेद है। तो मूल दो नयो की शुद्धि और अशुद्धि होनेसे नैगम, संग्रह आदिक अनेक नय प्रकट होते हैं। जिनको अनेक शास्त्रोंमें बताया गया है द्रव्यार्थिकनयके विभागमें हैं नैगम, संग्रह, व्यवहार ये तीन नय। इन तीन नयोंका सम्बन्ध द्रव्य दृष्टिसे है इस कारण यह द्रव्यार्थिकनयके विभाग से सिद्ध होता है और पर्यायार्थिक नयके विभागसे निकले हैं नय ऋजुसूत्रनय शब्दनय, समभिरूढ़नय और एवंभूतनय क्योंकि इन नयोंका प्रधान विषय पर्याय है। तो उन ७ प्रकारके नयो में चार नय तो अर्थनय कहलाते हैं अर्थात् नैगम, संग्रह, व्यवहार और ऋजुसूत्रनय, ये चार नय अर्थनय हैं क्योंकि इन नयोंका जो विषय है वह अर्थप्रधान है याने ये चार नय अर्थको विषय करते हैं इस कारण इन्हें अर्थनय कहा गया है, शेषके तीन नय शब्दनय कहलाते हैं। शब्द नय, समभिरूढ़नय, एवंभूतनय इन तीन नयोंमें शब्दकी प्रधानता है। शब्दोंके विभागके अनुसार इन नयोंका भाव बनाया जाता है। इस तरह वे ७ नय मूल द्रव्यार्थिकनय और पर्यायार्थिकनय इन दो नयोंके विभाग हैं और इनमें चार नय तो अर्थनय हैं और शेष तीन नय शब्दनय कहलाते हैं।

द्रव्यार्थिक व पर्यायार्थिकनयकी शुद्धि व अशुद्धिका विवरण—यहां मूलनय दो बताये गए हैं द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक इसकी शुद्धि और अशुद्धिके कारण अनेक नय हो जाते हैं। शुद्धिका अर्थ है भेद करना और अशुद्धिका अर्थ है अभेद करना। कहीं शुद्धिका अर्थ अभेद है और अशुद्धिका अर्थ भेद भी है। याने दो प्रकारसे अर्थ होनेका कारण यह है कि जब शुद्धि शब्दमें यहां विवक्षित होता है कि शोधन किया किसीने निराकरण किया और इष्टको ग्रहण किया तो ऐसी वृत्ति भेदमे होती है तब वहां शुद्धिका अर्थ भेद है। जहां ऐसी शुद्धि नहीं है, सबको एक माना है। किसीको हटाना, किसीको ग्रहण करना यह बात जहां नहीं आती वहां अभेद होता। अतएव अशुद्धिका नाम अभेद है। किन्तु जब शुद्धिका अर्थ यह विवक्षित होता है कि शुद्धि, (Purity), पवित्रता, कैवल्य जहां विवक्षित हो उसका नाम शुद्धि है, तब इस शुद्धिका अर्थ अभेद हो जाता है और ऐसी शुद्धि जहां नहीं है उसे कहते हैं अशुद्धि, जिसका अर्थ जान लेना चाहिए। यहां तात्पर्य यह बताया जा रहा है कि जितने नयोंके भेद प्रभेद बनते हैं वे सब मूल दो नयोंकी शुद्धि और अशुद्धिके माध्यमसे बनते हैं।

द्रव्यार्थिकनयकी शुद्धि अशुद्धिमे नैगम संग्रह व व्यवहारनयका

विशेष—अब द्रव्यार्थिकनयके ३ भेद हैं जो ये किस प्रकारकी शुद्धि और अशुद्धिके कारण प्रकट हुए हैं, इस बातको बता रहे हैं। मूल नय है द्रव्यार्थिक नय। शुद्धके कारण संग्रहनय प्रकट होता है। यहाँ शुद्धिका अर्थ है भेद। जहाँ अभेद दृष्टिसे द्रव्य को निरखा जाता है वहाँ सभी द्रव्योंका संग्रह होना है अर्थात् द्रव्य इस नयके परिज्ञात होते हैं अतएव द्रव्यार्थिककी शुद्धिसे संग्रहनय प्रकट होना ठीक ही कहा गया है। संग्रहनयसे शुद्ध किया गया है तो यहाँ यह सिद्ध है कि समस्त उपाधियोंसे रहितपनेरूप से इस नयने शुद्धिको सन्मात्रको विषय किया है। सत् ऐसा कहनेमें समस्त पदार्थ गृहीत हो जाते हैं। इस सत्के कहनेमें शुद्ध सन्मात्र विषय किया है, उसमें भेद नहीं किया गया कि द्रव्य गुण है, कर्म है अथवा अमुक पदार्थ है। तो यों समस्त उपाधियों से रहितकी पद्धतिसे शुद्ध सन्मात्रको विषय किया जानेसे यह संग्रह नय द्रव्यार्थिकनय की शुद्धिमें प्रकट हुआ है और यह समस्त पदार्थोंको एकतारूपसे संग्रह करता है। अब उस ही मूल द्रव्यार्थिकनयकी अशुद्धिसे अथवा उस संग्रहनयमें और भेद डालनेसे व्यवहार प्रकट होता है। यहाँ अशुद्धिका अर्थ भेद है। इस व्यवहारसे संग्रहनयसे ग्रहण किए गए पदार्थका विधिपूर्वक भेद किया है और वहाँ द्रव्यत्व आदिक विशेषणके रूपसे अपने आप अशुद्धताको स्वीकार किया है। जैसे जो सत् है वह द्रव्य है अथवा गुण है आदिक रूपसे भेदको विषय किया है। संग्रहनयसे जाने गए पदार्थमें भेद करना व्यवहारका कार्य है तो यह व्यवहारनय द्रव्यार्थिकनयकी अशुद्धिमें प्रकट होता है। तो द्रव्यार्थिकनयके ये तीन भेद हैं—नैगम संग्रह, व्यवहार जिनका निर्देश किया गया है। अब इसमें पूर्व नैगमनयके विषयमें अभी कुछ अधिक यों नहीं कहा गया कि इन तीन नयोंमें महाविषय नैगमनयका है और उसके आगे कुछ अन्य भेद बनाकर संग्रह व्यवहार प्रकट होता है तो इस पद्धतिमें सबसे महाविषय नैगम नयका है और उसके आगे कुछ अन्य भेद बनाकर संग्रह व्यवहार प्रकट होता है। तो इस पद्धतिमें सबसे महाविषय नैगमनयका है। तो इतनी ही बात समझनेके लिये नैगमनयका संक्षेपरूपसे वर्णन किया। अब चूंकि इस प्रयोजनकी पूर्ति द्रव्यार्थिकनयके तीन भेदोंको बताकर हो गया है तब नैगमनयके सम्बन्धमें अब विशेष विवरण करते हैं।

नैगमनयका विशेष विवरण—नैगमनय भी अशुद्धिसे प्रवर्तमान है। यहाँ अशुद्धिका अर्थभेद है, नैगम उपाधिसहित वस्तुको विषय करता है क्योंकि यह ज्ञाननय है, संकल्पपर आधारित है। अतएव सोपाधि वस्तुको विषय करनेके कारण इसकी वृत्ति अशुद्धि पद्धतिसे होती है। इसी कारण नैगमनयके अनेक भेद प्रभेद हो जाते हैं। नैगमनयकी प्रवृत्ति तीन प्रकारसे होती है—एक प्रकार तो यह है कि दो द्रव्योंमें किसी को गौणरूपसे किसीको प्रधानरूपसे विवक्षित बनाकर, गौणको प्रधानमें गर्भित कर गौणके वर्णनमें भी प्रधानरूपसे वर्णन कर दिया जाता है। तब इस नैगमका अर्थ हुआ—द्रव्य नैगम। दूसरा प्रकार है—इस पर्यायमें गौण और प्रधानसे विवक्षा करने

पर एकका दूसरेमें उपचार करके वर्णन करना यह है पर्याय नैगम। तीसरा प्रकार इस पर्यायमें गौण और प्रधानसे विवक्षा करनेपर एकका दूसरेमें उपचार करके वर्णन करना यह है पर्याय नैगम। तीसरा प्रकार है द्रव्यपर्याय नैगम। द्रव्य और पर्यायोंमें गौण और प्रधानतासे विवक्षा करनेपर एकका दूसरेमें आरोप करना यह है द्रव्यपर्याय नैगमनय। नैगमनयकी विशेषता ही यह है कि वह किसी एकपर दृढ़ नहीं है अर्थात् उसने सत और असत दोनोंको विषय किया है और असत्‌में सत्‌का आरोप करके कथन किया है। एक दृष्टिसे निरखा जाय तो इन नयोंकी प्रणाली यह है कि पूर्वनय महा विषय वाला होता है और उत्तरनय सूक्ष्म विषय वाला होता है। तो संग्रहनयसे जब समस्त सतका संग्रह किया तो इससे भी महान विषय संग्रहनयका होना चाहिए। तो जब सत संग्रहनयमें आ गए तो बचा ही क्या? बुद्धिमें आरोपित असत बचा, तो नैगमनय सत असत दोनोंको विषय करता है। पृथक्–पृथक् नहीं, किन्तु असत्‌में सतका विचार बनाकर वर्णन करता है। इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार है कि 'नैकं गमः नैगमः' जो एकपर न जाय उसे नैगम कहते हैं। इसमें सामान्य लक्षण यह है कि अवर्तमान अर्थका अन्य जगह संकल्प मात्रसे ग्रहण करलेना सो नैगमनय है। अब नैगमनयके जितने भेद प्रभेद किए जायेंगे उन सबमें यह लक्षण लक्षित रहेगा। जैसे कोई पुरुष भात बनानेके लिए प्रयत्न कर रहा है और प्रयत्न यह हो रहा है कि रसोई घरमें लकड़ियाँ इकट्ठी कर रहा अथवा आग जला रहा या पानी भर रहा, ऐसी स्थितिमें उससे कोई पूछता है कि भाई क्या काम करते हो? तो वह उत्तर देता है कि मैं भात बनाता हूँ। तो भात तो वहाँ असत है, है ही नहीं, अवर्तमान है। लेकिन संकल्प उसका अवश्य है कि भात बनाना है। तो संकल्प मात्रसे उस असत पदार्थको इन प्रवृत्तियोंमें ग्रहण किया इस नैगमनयने, इस कारण नैगमनयका विषय संकल्प भी बताया जाता है। तो जिस तरह यहाँ दो द्रव्योंमें गौण और प्रधानकी विवक्षासे नैगमनय कहा है इसी प्रकार सब नैगमनयोंमें यही अर्थ आयगा कि अवर्तमान अर्थका संकल्पमात्रसे ग्रहण करना नैगमनय है।

द्रव्यनैगम, पर्यायनैगम, द्रव्यपर्याय नैगम नामके नैगमनयोंका वर्णन—

अब नैगमनयमें जो तीन प्रकार बताये हैं—द्रव्यनैगम, पर्यायनैगम और द्रव्य पर्याय नैगम, इन तीनमेंसे प्रथम कहे गए द्रव्यनैगमके भेद करते हैं। द्रव्यनैगमनय दो प्रकारसे प्रवृत्त होते हैं। शुद्धद्रव्यनैगम और अशुद्धद्रव्यनैगम। दो शुद्ध द्रव्योंमें गौण प्रधानकी विवक्षासे किसीमें किसी दूसरेको संकल्पमात्रसे ग्रहण करना शुद्धद्रव्यनैगम है और दो अशुद्ध द्रव्योंमें अथवा एक शुद्ध दूसरा अशुद्ध हो ऐसे दो द्रव्योंमें गौणप्रधान भावकी विवक्षासे संकल्पमात्रका ग्रहण किया जाना, अवर्तमान अर्थको ग्रहण करना अशुद्धद्रव्यनैगम है। अब द्वितीय प्रकार जो नैगमका पर्याय नैगम है उसके भेद कहते हैं। पर्याय नैगमनय तीन प्रकारसे प्रवृत्त होते हैं। दो अर्थ पर्यायोंमें गौण और प्रधानकी विवक्षा

से संकल्पमात्रमें प्रवर्तमानको ग्रहण करना अर्थ पर्यायनैगमनय है। व्यञ्जनपर्यायनैगमनय दो व्यञ्जन पर्यायोंमें गौण और प्रधानकी विवक्षामें संकल्पमात्रमें प्रवर्तमान तत्त्वको ग्रहण करना सो व्यञ्जनपर्याय नैगमनय है। तीसरी पर्याय नैगमनय है—अर्थ व्यञ्जन पर्याय नैगमनय। अर्थपर्यायमें और व्यञ्जनपर्यायमें गौण प्रधानकी विवक्षासे संकल्पमात्रमें प्रवर्तमान तत्त्वको ग्रहण करना अर्थव्यञ्जनपर्याय नैगमनय है। अब पर्याय नैगमनयमें कहे गए इन तीन प्रकारोंमें अर्थपर्याय नैगमनयके भेद कहते हैं। अर्थ पर्यायनैगमनय तीन प्रकारसे प्रवृत्त होते हैं। दो ज्ञानार्थ पर्यायोंमें गौण और प्रधानता की विवक्षासे संकल्पमात्रमें ग्रहण करने वाला नय ज्ञानार्थ पर्यायनैगमनय है। दूसरा है ज्ञेयार्थपर्यायनैगमनय। दो ज्ञेय अर्थ पर्यायोंमें गौण प्रधानताकी विवक्षासे संकल्पमात्र साधनको ग्रहण करना ज्ञेयार्थपर्यायनैगमनय है। तीसरा है ज्ञानज्ञेयार्थपर्याय नैगमनय ज्ञानार्थपर्यायमें और ज्ञेयार्थपर्यायमें गौण प्रधानताकी विवक्षासे संकल्पमात्र तत्त्वको ग्रहण करना सो ज्ञानज्ञेयार्थपर्याय नैगमनय है।

व्यञ्जनपर्यायनैगमनयके छह भेदोंका विवरण—अब व्यञ्जन पर्यायनैगमनयकेभेद बताते हैं। व्यञ्जनसे मतलब है उन तीन नयोंका जो शब्दको प्रधानतासे विषय करते हैं। ऐसे नय हैं शब्दनय समभिरूढनय और एवंभूतनय। दो नयोंके संयोग से व्यञ्जन पर्याय नैगमनयकी उत्पत्ति होती है। उनमें पहिला है शब्द व्यञ्जनपर्याय नैगमनय। दो शब्दोंके विषयके बीच गौण और प्रधानकी विवक्षा किसी एकको मुख्य करके प्रतिपादन करनेका नाम शब्द व्यञ्जनपर्याय नैगमनय है। दूसरा व्यञ्जनपर्याय नैगमनय है समभिरूढनय व्यञ्जनपर्याय नैगमनय। दो समभिरूढनयोंकी पर्यायोंमें गौण और प्रधानताकी विवक्षासे जो किसी एक पर गमन होता है उसे समभिरूढ व्यञ्जन पर्याय नैगमनय कहते हैं। तीसरा व्यञ्जनपर्यायनैगमनय है एवंभूत व्यञ्जनपर्याय नैगमनय। दो एवंभूत व्यञ्जनपर्यायोंमें गौण और प्रधानतासे विवक्षा करनेपर जो किसी एकका उपचार कर जानना होता है उसे एवंभूतव्यञ्जनपर्यायनैगमनय कहते हैं। चौथा व्यञ्जनपर्याय शब्द समभिरूढ व्यञ्जन पर्याय। शब्दनय और समभिरूढनय इन दोनोंके विषयभूत पर्यायोंमें गौण और प्रधानतासे विवक्षा करनेपर किसी एककी मुख्यतासे वर्णन करनेको शब्द समभिरूढव्यञ्जन पर्याय नैगमनय कहते हैं। ५ वाँ है शब्दएवंभूतव्यञ्जनपर्याय नैगमनय। शब्दनय और एवंभूतनयके विषयभूत पर्याय गौण और प्रधानतासे विवक्षाको करनेपर किसी एकके जाननेको शब्द एवंभूतव्यञ्जन पर्याय नैगमनय कहते हैं। छठा व्यञ्जनपर्याय नैगमनय है समभिरूढ एवंभूत व्यञ्जन नैगमनय। समभिरूढ और एवंभूत व्यञ्जन पर्याय नैगमनय इन दो शब्दनयोंकी पर्यायोंमें गौण और प्रधानतासे विवक्षा करनेपर किसी एक आरोपित तत्त्वके वर्णनको समभिरूढएवंभूतव्यञ्जन पर्याय नैगमनय कहते हैं।

अर्थव्यञ्जनपर्याय नैगमनयके प्रकार—अब अर्थव्यंजक पर्याय नैगमनयके

भेद रहते हैं। अर्थव्यञ्जनपर्याय नैगमनयका अर्थ है कि अर्थनय और व्यञ्जकनय, इन दोनोंके विषयमे गौण और प्रधानतासे विवक्षा करनेपर किसी एक विषयका वर्णन करना सो अर्थव्यञ्जनपर्याय नैगमनय है। चूकि यह पर्यायनैगम है तो अर्थनयोमे शब्दनय, समभिरूढनय और एवभूतनय है। तब यहाँ ३ भेद होते हैं—ऋजुसूत्रनय और शब्दनयके विषयोमे गौण व प्रधानता करके वर्णन करना सो ऋजुसूत्रशब्दनयका अर्थव्यञ्जन पर्यायनैगमनय है। ऋजुसूत्रनय व समभिरूढनय इन दोनों विषयोमे गौण प्रधानतासे वर्णन करना सो ऋजुसूत्रसमभिरूढनयका अर्थव्यञ्जन पर्यायनैगमनय है और ऋजुसूत्रनय एवभूतनय इन दोके विषयमे गौण प्रधानतासे विवक्षा करनेपर एकका दूसरेमे आरोप करके कथन करना सो ऋजुसूत्र एवभूतका अर्थव्यंजनपर्याय नैगमनय है।

द्रव्यपर्यायनैगमनयके आठ प्रकार—द्रव्यपर्यायनैगमनय ८ प्रकारका है। द्रव्य दो प्रकारके होते हैं शुद्ध द्रव्य और अशुद्ध द्रव्य। और पर्यायनय तीन प्रकारके होते है—शब्दनय, समभिरूढनय एवभूतनय। तो इनके परस्पर मेलमे ८ प्रकार बन जाते हैं। जिनमे पहिला प्रकार है—शुद्धद्रव्य और ऋजुसूत्रनय। इन दो के विषयमे गौण और प्रधानताने विवक्षा करनेपर एकमे दूसरेका आरोप करना, कथन करना। दूसरा है शुद्धद्रव्य शब्दनयका द्रव्यपर्याय नैगमनय। शुद्धद्रव्य और शब्दनयके विषयमे गौण प्रधानतासे विवक्षा करनेपर, वर्तमानको गौण और अवर्तमानको प्रधान करके अवर्तमानका वर्णन करना यह है शुद्धद्रव्य शब्द विषयक द्रव्यपर्यायनैगमनय। तीसरा है शुद्धद्रव्यसमभिरूढनयका द्रव्यपर्यायनैगमनय शुद्ध द्रव्य और समभिरूढनयके विषयभूत तत्त्वोमे गौण और प्रधान भावसे विवक्षा करनेपर वर्तमानको गौण और प्रधान भावसे विवक्षा करनेपर वतमानको गौण करके अवर्तमानका मुख्यता से आरोप करना, वर्णन करना सो शुद्धद्रव्य समभिरूढनय विषयक द्रव्यपर्यायनैगमनय है। चौथा है शुद्धद्रव्यएवभूत विषयक शुद्धद्रव्य और एवभूतनय इन दोनों विषयोमे गौण और प्रधानतासे विवक्षा करनेपर वर्तमानको गौण कर उस गौणमे अवर्तमानको प्रधानतासे आरोपित करके अवर्तमानकी सिद्धि करना सो शुद्धद्रव्यैवभूत विषयक द्रव्यपर्यायनैगमनय है। तो जिस प्रकार शुद्धद्रव्यके साथ तीन नयोके मेल करके द्रव्यपर्याय नैगम बताये गए हैं उसी प्रकार अशुद्धद्रव्यके साथ ऋजुसूत्रनय, शब्दनय और समभिरूढनय तथा, एवभूतनय, इन विषयोमें गौणप्रधान रूपसे विवक्षा करनेपर गौणमे प्रधानको आरोपित कर अवर्तमानका वर्णन करना, सो शेषके चार द्रव्यपर्यायनैगम सिद्ध हो जाते हैं। इस तरह नैगमका बहुत बडा विस्तार बनता है। उन सबके उदाहरण भी जिसपर लोक विरुद्ध न हो, आगम विरुद्ध न हो उस तरह लगाया जाना चाहिए। यहाँ तक नैगम, सग्रह, व्यवहार इन द्रव्यार्थिकनयोका विभाग बताया गया है। अब पर्यायार्थिकनयके विभागमे किस तरह कौन कौन नयोंकी उपपत्ति होती है

इसका वर्णन करते हैं।

पर्यायार्थिकनयकी शुद्धि अशुद्धिसे ऋजुसूत्रनय, शब्दनय समभिरूढ़नय व एवंभूयनयकी उत्पत्ति—मूल दो नयोंमे कहा गया है एक पर्यायार्थिकनय। उसकी अशुद्धिसे ऋजुसूत्रनयकी उपपत्ति होती है। यहाँ अशुद्धिका अर्थ अभेद है। ऋजुसूत्रनयका विषय बताया गया है वर्तमान अर्थको ग्रहण करना। वर्तमान पर्यायो रूपमे अर्थको ग्रहण किया उस प्रतिभासमे काल कारक, लिङ्ग आदिकका भेद पडा भी हो तब भी उस भेदकी दृष्टिको ग्रहण न करना, तो चूंकि इन शब्दोंमे अनेक प्रकारका भेद होनेपर भी अभेदसे ही वर्तमान पर्यायको ऋजुसूत्रनयने ग्रहण किया, इस कारण पर्यायार्थिकनयकी अशुद्धिसे अर्थात् अभेदसे ऋजुसूत्रनयकी उपपत्ति हुई। उदाहरणके लिए जैसे ऋजुसूत्रनयसे कोई स्त्रीका बोध किया, तो वह स्त्री पर्याय अनेक शब्दो द्वारा वाच्य होती है। जैसे दार भार्या, कलत्र आदि। तो इन पर्यायो को ऋजुसूत्रनय किसी भी शब्दसे बोल देगा उन शब्दोके भेदसे उसमें भेद न करेगा। तो यों पर्यायार्थिकनयकी सीमामे अभेद द्वारा ऋजुसूत्रनयकी उपपत्ति हुई है। अब पर्यायार्थिकनयकी शुद्धिसे अर्थात् भेदसे शब्दनयकी उपपत्ति बताते हैं। ऋजुसूत्रनसे जो पर्याय ग्रहण किया गया है उसको काल आदिकके भेदसे भेद करके ग्रहण करने का काम शब्दनयका है। जैसे दार शब्दसे जिस स्त्रीका ग्रहण किया गया वह अन्य रूप है, कलत्र शब्दसे जो ग्रहण किया वह अन्य रूप है। इनमें अर्थभेद है—स्त्री उसे कहते हैं जिसमे गर्भ धारण हो, दार कहते हैं उसे जो अपने कुटुम्बको न्यारा न्यारा करा दे, भार्या कहते हैं उसे जो अपने कुटुम्बका निर्वाहन भलीप्रकार करे कलत्र कहते हैं उसे जो अपने पति, पुत्रादिकके शरीरोकी रक्षा करे। तो इस अर्थभेदसे उस पर्याय मे भी भेद निरखता है शब्दनय, इस कारण शब्दनय पर्यायार्थिकनयके भेदसे उपपन्न होता है। जब यही भेद कुछ और बढता जाता है तो समभिरूढनयकी उत्पत्ति होती है। शब्दनयसे जिस अर्थको ग्रहण किया है, जिस पर्यायको जाना है वहाँ उस शब्दसे अनेक अनेक अर्थ ध्वनित होते हैं अर्थात् कुछ शब्द ऐसे हैं जो अनेक पदार्थोंमेसे अन्य पदार्थोंका त्यागकर किसी रूढ पदार्थको ही ग्रहण कराये, ऐसा समभिरूढनयका काम है। तो समभिरूढनयसे पर्यायवाचक शब्दोका चूंकि परस्पर अभेद है तो वस्तुमें भी भेद दिखा दिया। यो विशेष भेदसे समभिरूढनयकी उपपत्ति होती है। जब यह भेद और अधिक हो जाता है तब एवंभूतनयकी उपपत्ति होती है। समभिरूढनयने जिस विषयको ग्रहण किया उसमें क्रियाके भेदसे और भी भेद करके अन्यको छोडकर क्रियागत वस्तुको ग्रहण करे; ऐसा एवंभूतनयका काम है। जैसे समभिरूढनयने गौ शब्दसे वाणी आदिक अनेक अर्थ हटाकर केवल गायका ग्रहण किया था तो अब एवंभूतनयमे गौ शब्दका क्रियापरक अर्थ करके कि जो जाये सो गौ, गच्छति इति गौः। तो जब वह जाये ऐसी गमन क्रियामे रहती हुई गायको ही गाय कहा गया ऐसा एवं-

सूत्रनयका अभिप्राय है। इस तरह पर्यायार्थिकनयकी शुद्धि और अशुद्धिसे इन चार प्रकारके हैं नयोकी उपपत्ति होती है। ये सब नयोंके विषय हैं। यद्यपि इनकी अपेक्षासे व्यवहार कुछ चलता नहीं है, लेकिन व्यवहार न चले, विषय तो उसका यही है, और उसको समझाया गया है। कोई भी नय निर्विषय नहीं होता। जब उनका विषय है तो उनका ज्ञान कराने वाले नय भी बताये जाते हैं, इस तरह मूल दो नयोकी शुद्धि और अशुद्धिके माध्यमसे बहुत प्रकारके नय मानना चाहिए।

नयोंका परिमाण और नयोंकी उपयोगितामे स्याद्वादकी सर्वतत्त्वप्रकाशकता—ये सब नय पहिले-पहिलेके नय महान-महान विषय वाले हैं और उत्तरोत्तरके नय अल्प विषय वाले हैं और इन नयोके कितने भेद बताये जायें, जितने बताये जा सकते बताये जाते हैं, पर नयोंके भेदकी पद्धति यह है कि जितने प्रकारके शब्द परिमाण हो उतने नय होते हैं और जितने अपने विकल्प हो, अभिप्राय हो उतने नय होते हैं। परोपदेशकी अपेक्षासे अर्थात् दूसरोको बता सके इस दृष्टिसे नय शब्दोंके परिमाण बराबर हैं अर्थात् जितने शब्द हैं उतने ही प्रकारके नय कहे जा सकते हैं और अपने ज्ञान विकल्पकी अपेक्षासे जितने अभिप्राय हो उतने नय कहे जा सकते हैं। तो शब्दोंके परिमाणसे विकल्पोका परिमाण अधिक होता है। इस तरह नयोंके अनगिनते भेद किए जा सकते हैं इस तरह इस प्रकरणमे यह बताया गया कि सप्तभङ्ग और नयकी अपेक्षा रखकर यह स्याद्वाद हेय और उपादेयका भेद करा देने वाला है। स्याद्वादकी पद्धति अपनाये बिना हेय और उपादेयकी व्यवस्था नहीं बन सकती। अतएव यह स्याद्वाद हेय और उपादेयकी व्यवस्था बनाने वाला है और साथ ही यह स्याद्वाद समस्त तत्त्वोका प्रकाश करने वाला है, और जैसे कि केवलज्ञान सर्वतत्त्वोका प्रकाश करने वाला है इसी प्रकार यह स्याद्वाद भी सर्व तत्त्वोका प्रकाश करता है। तो स्याद्वाद सर्व तत्त्वोका प्रकाशक है, इस बातका अब भी समंतभद्राचार्य जी वर्णन करते हैं।

स्याद्वादकेवलज्ञाने सर्वतत्त्वप्रकाशने।
भेदः साक्षादसाक्षाच्च ह्यवस्त्वन्यतमं भवेत् ॥ १०५ ॥

स्याद्वाद और केवलज्ञानकी सर्वतत्त्व प्रकाशकता—स्याद्वाद और केवलज्ञान ये सर्व तत्त्वोका प्रकाश करने वाले हैं, केवल इनमे भेद है तो साक्षात् और असाक्षातका भेद है। अर्थात् केवलज्ञान तो साक्षात् समस्त पदार्थोंका परिज्ञान करने वाला है और स्याद्वाद समस्त तत्त्वोका असाक्षात् याने परम्परया अथवा परोक्षरूपसे सर्वतत्त्वोंका प्रकाश करने वाला है। इन दो उपायोको छोड़कर जाननेका अन्य और कोई उपाय नहीं है, अन्य प्रकारसे प्रतीयमान कोई वस्तु ही नहीं है, स्याद्वादका मर्म है दृष्टिवाद,

अपेक्षावाद, सुनयवाद, अनेकांतवाद। पदार्थोंका स्याद्वाद पद्धतिसे नय विभाग पूर्वक किसी धर्मको मुख्य करके किसी धर्मको गौण करते हुए वर्णन करना स्याद्वाद है। स्याद्वाद अनेकान्तका द्योतन करने वाला है इस कारण यह किसी एकान्त धर्मका हठ नही करता, किन्तु प्रमाणसे समस्त धर्मोंका ग्रहण करके उनमेंसे फिर विवक्षावश किसी एक धर्मका मुख्यतासे प्रतिपादन करना सो नय कहलाता है। ऐसे सर्व नयोंके उपयोग पूर्वक जो कथन है उसे स्याद्वाद कहते हैं। तो स्याद्वाद विधिसे अर्थात् आगमद्वारा भी समस्त तत्त्वोका ज्ञान किया जाता और केवलज्ञान द्वारा समस्त तत्त्वोंका ज्ञान किया जाता है। केवल इसमें साक्षात् और असाक्षात्का भेद है। साक्षात् प्रतिभासी ज्ञान तो केवलज्ञान है और असाक्षात् प्रतिभासी ज्ञान स्याद्वाद है, आगमज्ञान है। तो इन दो पद्धतियोंसे प्रतिभास किया करे, ऐसे ज्ञानोंसे भिन्न ज्ञान और अन्य कोई नहीं है।

स्याद्वाद और केवलज्ञानमें परस्पर हेतुत के कारण दोनोंका महत्त्व – इस कारिकामें जो स्याद्वाद व केवलज्ञान इन दो नयोका न्यास किया गया है। उनमें पहिले स्याद्वाद कहा, इसके बाद केवलज्ञान कहा। तो इस क्रमप्रयोगके निर्देशसे यहाँ यह सिद्ध होता है कि इन दोनोमें पूज्य और महत्त्वशाली कौन है? इसका कोई नियम नही बनाया जा सकता अर्थात् स्याद्वाद महान पूज्य उपयोगी है या केवलज्ञान महान पूज्य उपयोगी है? इस विषयमे किसीको एकान्तसे नहीं कहा जासकता क्योंकि ये दोनो परस्पर हेतुभूत हैं। स्याद्वादके प्रतापसे साधुजन केवलज्ञान उत्पन्न करते हैं। तो केवलज्ञानके होनेमें यह स्याद्वाद साधन है। तो अब देखिये! इस प्रसङ्गमें स्याद्वाद की महत्ता हुई। जिस स्याद्वादके प्रसादसे केवलज्ञान उत्पन्न होता है उस स्याद्वादकी महिमाका कौन वर्णन कर सकता है। अब दूसरे स्थानकी बात देखिये! केवलज्ञान जिन्हें उत्पन्न हुआ है ऐसे सर्वज्ञ वीतराग जिनेन्द्र प्रभुकी दिव्यध्वनिसे इस आगमकी प्रमाणता और उपपत्ति होती है। तब स्याद्वादका उपपन्न होनेका साधन और प्रमाणताका वास्तविक रूप इस केवलज्ञानसे बना है? तब केवलज्ञान कितना महान है और इसका विषय भी स्पष्ट महान है, इस कारण यह केवलज्ञान पूज्य और महिमाशाली हुआ। तो परस्पर ये एक दूसरेके हेतु हैं, पूरक हैं, इस कारण इनमें पूज्य और महिमाशालीका विषय नहीं है, यह बात यह क्रम प्रयोग बताता है। इस कथनमें अन्योन्याश्रय दोष भी नहीं आता कि कोई यों पूछने लगे कि जब स्याद्वाद हो तब स्याद्वाद बने? यह दोष यों नहीं आता कि इसमें परम्परा है, अनादिपना है। पूर्व सर्वज्ञके द्वारा प्रकाशित आगमसे उत्तर सर्वज्ञके केवलज्ञान उत्पन्न होते हैं और उस उत्तर सर्वज्ञके केवलज्ञानसे आगेके लिए आगमका प्रकाश होता है। इस प्रकार अनादिसे ही सर्वज्ञ और आगमकी सतान परम्परासे अब तक चली आई है।

अभ्यर्हितत्त्व होनेपर भी पर्वनिपातका अनियम – शङ्काकार कहता है

है कि स्याद्वाद और केवलज्ञानमे केवलज्ञान ही पूज्य है क्योंकि वहाँ सर्व कर्म कलङ्कोंसे छुटकारा है और तीन लोकके जीव अर्थात् तीन लोकके इन्द्र इस केवलज्ञानकी पूजा करते हैं और केवलज्ञानी परमात्मा कहलाते हैं। तब केवलज्ञान पूज्य हुआ और पूज्य होनेके नातेसे केवलज्ञानका पहिले निर्देश करना चाहिए था। इस शङ्काके समाधानमे कहते हैं कि यद्यपि यह बात सत्य है, केवलज्ञान पूज्य है और अनेक स्थलोपर पूज्यका प्रथम निर्देश होता है लेकिन इस विषयमे नियम नहीं है कि केवलज्ञान पूज्य होनेके कारण उसका पूर्वनिपात ही हो। अनेक उदाहरण ऐसे मिलते हैं कि जहाँ पूज्यसे पहिले भी उपासकका निर्देश कर दिया जाता है। जैसे—शिष्योपाध्याय, यहाँ शिष्य और उपाध्याय दो का द्वन्द्व समास किया गया है। और इस समासमें शिष्यका पूर्वनिपात है। तो यह नियम नहीं रहता कि पूज्यका ही नाम प्रथम आये। उपासकका भी पहिले नाम आ सकता है, शिष्योपाध्यायकी तरह। अन्य भी अनेक उदाहरण इस बातका समर्थन करते हैं कि पूज्यका पूर्वनिपात हो, ऐसा नियम नहीं है। इससे यह बात निर्दोष सिद्ध है जो इस कारिकामे कहा है—स्याद्वाद केवलज्ञाने। इससे स्याद्वादका पूर्वनिपात होना यहाँ हम सब कल्याणार्थियोंको मुक्तिका उपाय शीघ्र विदित हो इसमे भी सहायक है। तब यह कारिकामे जो कहा गया है कि स्याद्वाद और केवलज्ञान ये समस्त तत्त्वोंका प्रकाश करने वाले हैं, यह पूर्णतया युक्तिसङ्गत है। केवल भेद साक्षात् और असाक्षात् प्रतिभास करनेका है।

पर्यायापेक्षया इस प्रसङ्गका कथन न होनेसे कारिकार्थका सूत्रार्थके साथ अविरोध—अब शङ्काकार कहता है कि स्याद्वाद सर्व तत्त्वोंका प्रकाश करने वाला कैसे सिद्ध होगा? सूत्र जीमे भी कहा है कि 'मतिश्रुतयोर्निबन्धो द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु' मतिज्ञान और श्रुतज्ञानके विषयका नियम सर्व द्रव्योंमे तो है, किन्तु समस्त पर्यायोंमें नहीं है। तो इस सूत्रके कथनसे भी यह सिद्ध होता है कि श्रुतज्ञान समस्त पर्यायोंको विषय नहीं करता। इस सिद्धान्तमे जब सबको प्रकाश करनेका निर्देश नहीं, कुछ ही पर्यायोंका श्रुतज्ञान निर्देश करता है। जानता है, तब फिर इस कारिकामे यह कथन कैसे संगत होगा कि स्याद्वाद समस्त तत्त्वोंका प्रकाश करने वाला है। इस कथनका सूत्र कथनके साथ विरोध आता है। इस शङ्काके समाधानमे कहते हैं कि इस कारिकामें जो कथन किया गया है वह पर्याय-अपेक्षासे नहीं कहा गया, अर्थात् सामान्यरूपसे कहा गया है कि स्याद्वाद समस्त तत्त्वोंका प्रकाश करने वाला है और भगवान समंतभद्र स्वामीका यहाँ यह अभिप्राय है कि जीवादिक ७ पदार्थ तत्त्व कहलाते हैं। सूत्र जीमें कहा भी गया है—जीवाजीवास्रवबंधसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम्। इसमें तत्त्व ७ बताये हैं और सातों ही तत्त्वोंका स्याद्वाद प्रकाश करता है, तो सात तत्त्वोंके प्रतिपादनमे जैसे स्याद्वाद समर्थ है, केवलज्ञान समर्थ है, इस समानताको

देखकर इस कारिकामें यह वर्णन किया गया कि स्याद्वाद समस्त तत्त्वोंका प्रकाश करने वाला है। और, इस प्रकार इस कारिकाके कथनका सूत्रके कथनके साथ विरोध नहीं होता। जैसे कि आगम दूसरेके लिए समस्त जीवादिक तत्त्वोंका प्रतिपादन करता है उसी प्रकार केवली भगवान भी अथवा केवलज्ञान भी समस्त तत्त्वोंका प्रकाश करता है। केवल इन दोनोंमें भेद है तो साक्षात् तत्त्वोंका ज्ञान करना और असाक्षात् तत्त्वका ज्ञान करना इस ही दृष्टिसे इन दोनोंमें भेद है। सो इस बातका वर्णन भी इस कारिकामे कर दिया गया है कि साक्षात् और असाक्षात् प्रकाश करनेका इन दोनोंमें भेद है। भगवान केवली अथवा केवलज्ञान तो साक्षात् रूपसे ही सर्वद्रव्य पर्यायोंको जानता है, यह अन्य प्रकारसे नहीं, परम्परासे परोक्षसे अथवा असाक्षात् परिज्ञान नहीं करता, किन्तु केवलज्ञान साक्षात् तीन लोक तीन काल विषयक समस्त तत्त्वोंका परिज्ञान करता है। भगवानके यद्यपि केवलज्ञान उत्पन्न हो गया है तो भी वे वचनोंसे उन समस्त तत्त्वोंको प्रकट नहीं करते, क्योंकि वे समस्त तत्त्व वचनके अगोचर हैं। सूक्ष्म परमाणु आदिक व्यवहित मेरु आदिक या अतीत कालमें हुए महापुरुष आदिक सभी विषय केवलज्ञानके हैं लेकिन उनका यथावत स्वरूप वचनके द्वारा नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार तत्त्वज्ञान स्याद्वादनयसे संस्कृत है और वह तत्त्वज्ञान स्याद्वाद द्वारा सर्वतत्त्वोंका प्रकाश करने वाला है और केवलज्ञान द्वारा सर्वतत्त्वोंका प्रकाश करने वाला है।

स्याद्वादनय संस्कृतके अर्थ—स्याद्वादका अर्थ है प्रमाण और नयका अर्थ है नय यों अर्थ करनेपर इसका अर्थ यों भी किया जा सकता है कि तत्त्वज्ञान प्रमाण और नयसे संस्कृत है। स्याद्वादका नाम है प्रमाण और सप्तभङ्गोंके वचनोंका जो विशेष है वह है नैगम आदिक नाना प्रकारका नय। इसका वर्णन सिद्धान्त ग्रन्थोंमे दार्शनिक ग्रन्थोंमे बहुत विस्तारसे किया गया है। संक्षेपमे यहाँ यह जानना कि जिस तत्त्वज्ञानको प्रमाण कहा गया है वह तत्त्वज्ञान स्याद्वाद और केवलज्ञानरूप है तथा मतिज्ञानादिकरूप भी है। उन सबमें स्याद्वाद और केवलज्ञान समस्त तत्त्वोंका प्रकाश करने वाला है अब स्याद्वाद और नयका जब इस प्रकार अर्थ करेंगे कि स्याद्वादका तो नाम है आगम और नयका नाम है हेतुवाद। तब स्याद्वादका अर्थ, बना आगम और नयका अर्थ हुआ हेतु। तब अर्थ यह हुआ कि तत्त्वज्ञान आगम और हेतुसे संस्कृत होता हुआ प्रमाण होता है। इस अर्थमे यह भाव भी बनता है कि जो इस ग्रन्थमें प्रारम्भमें प्रतिज्ञाकी थी कि भगवान तुम ही निर्दोष हो क्योंकि तुम्हारा वचन युक्ति और शास्त्र से अविरुद्ध है और इस कारण आपकी प्रमाणतामे कोई बाधक प्रमाण नहीं हो सकता है। उस पूर्व कथनसे मेल खाते हुए इस अर्थका अभिप्राय रखते हुए समन्तभद्राचार्य अब यहाँ हेतुके लक्षणपर प्रकाश डाल रहे हैं। स्याद्वादनय इस शब्दमें स्याद्वादका अर्थ यो आगम हुआ और नयका अर्थ है हेतु तो स्याद्वादके सम्बन्धमें तो इसी समय

प्रकाश डाल दिया गया है। अब हेतुके लक्षणका वर्णन करते हैं।

सधर्मणैव साध्यस्य साधर्म्यादविरोधतः।
स्याद्वादप्रविभक्तार्थविशेषव्यञ्जको नयः॥ १०६॥

नयका हेतु वादपरक अर्थ—दृष्टान्तके साथ साध्यका साधर्म्य होनेसे अविरोधपूर्वक स्याद्वाद आगम अथवा प्रमाणके द्वारा ग्रहण किए गए अर्थमें विशेषको प्रकट जो करे उसे नय कहते हैं। इस कारिकामे नयका नय अर्थ करके भी लक्षण आता है और नयका हेतु कहकर भी लक्षण आता है। नयका लक्षण है प्रमाणसे ग्रहण किए गए पदार्थमे उसके किसी विशेष धर्मको प्रकट करने वाले अभिप्रायको नय कहते हैं। सो हेतुपक्षमे यह लक्षण बनता है कि चूँकि हेतु दृष्टान्तमें भी पाया जाता है तो दृष्टान्तमे हेतुका साध्यके साथ अविनाभाव देखकर प्रकट पक्षमें भी साध्यका साधक हेतुको बनाया जाता है और ये हेतु आगमके विरुद्ध नही होते। आगमसे सामान्यतया समझ लिया जाता है उस ही बातको युक्तियो और हेतुवोके द्वारा जब कथन किया जाता तो उसका विशेष व्यञ्जन हो तो हुआ है। इस प्रकार नयका और हेतुका लक्षण इस कारिकामें आ जाता है। नयका अर्थ हेतु है इस सम्बन्धमे व्युत्पत्तिसे भी यह जाना जाता है नीयते, साध्यते गम्यार्थः अनेन इति नय जिसके द्वारा गम्य अर्थ अर्थात् साधित किया जाता उसे नय कहते हैं।

हेतुलक्षणनयकी अबाधस्वरूपता और साध्यसाधकता—उक्त व्युत्पत्तिसे यहाँ यह निर्णय किया गया कि नयका नाम हेतु है और वह हेतु दृष्टान्तमे बताये गए धर्मीके साथ साधर्म्य रखता है यानी जिस पक्षमे यहाँ साध्यको सिद्ध कर रहे हैं वैसा ही साध्य दृष्टान्तके पक्षमें भी पाया जाता है और वहाँ हेतुका अविनाभाव देखा जाता है। तब यह हेतु साध्यका व्यञ्जक बन गया। साध्य है परमागमके द्वारा गृहीत अर्थविशेष। जिस तत्त्वको आगमसे जाना है उस तत्त्वका हेतु युक्तिके ढङ्गसे ज्ञान होनेके प्रसङ्गमे साध्य वही पदार्थ तो है जिसको आगमसे जान लिया गया है। वह पदार्थ शक्य है, इष्ट है और असिद्ध है। साध्यकी तीन विशेषतायें होती है—जो सिद्ध किया जा सके ऐसा हो, जो साधनेके लिए इष्ट हो और जो प्रमाणोसे सिद्ध न हुआ हो, सो ये तीनो ही विशेषतायें इस साध्यमें हैं। जो आगमसे जाना है उसे सिद्ध किया जाना शक्य है, इष्ट है और उसे प्रतिवादी मान नहीं रहा है, इस कारण असिद्ध है तो ऐसे साध्यको सिद्ध करने वाला हेतु होता है। यदि कोई साध्य अशक्य है, किसी प्रकार सिद्ध नही किया जा सकता तो वह साध्य नहीं बन सकता। इसी प्रकार जो अनिष्ट हो उसे कौन साध्य बनायेगा? जो कोई भी किसी तत्त्वको सिद्ध करना चाहता हो वही तो साध्य बनायेगा। यदि वह साध्य सिद्ध है, प्रतिवादी भी मान रहा है तो व्यर्थ

में उसका प्रलाप कौन करेगा ? तो यो साध्यके विशेषण इस अर्थ विशेषम पाये जाते हैं उसका यह हेतु गमक होता है। हेतुका दृष्टान्तमे साध्यके साथ साधर्म्य है पर विपक्षमे दोनोंका अभाव पाया जाता है, इस कारण विपक्षमे दोनोंकी विकलता बता कर भी हेतुको साध्यका साधक सिद्ध किया जाता है। इस प्रकरणमे जो यह वाक्य कहा गया है कि सपक्षके ही साथ साध्यमे साधर्म्य होता है, इस वाक्यमे यह भी सिद्ध हो जाता है कि हेतुका त्रिलक्षणत्व स्वरूप है। जब दृष्टान्तके ही साथ हेतुका साध्यसे साधर्म्य है तो इसमे सपक्षसत्त्व सिद्ध हुआ और इस एकके अवधारणसे सिद्ध हुआ कि विपक्षसे वैधर्म्य है तो विपक्षव्यावृत्ति सिद्ध हुई। पक्षमें हेतु द्वारा साध्य सिद्ध किया जा रहा है, यो पक्षधर्मत्व स्पष्ट ही है। तो हेतुमे त्रिलक्षणत्व होता है यह बात सिद्ध होती है, पर साथ ही साथ जो अविरोधत शब्द दिया है उससे अन्यथानुपपत्ति सिद्ध होती है। जहाँ अन्यथानुपपत्ति होगी वहाँ हेतु और साध्यका विरोध न होगा।

त्रैलक्षण्य होनेपर भी अन्यथानुपपन्नत्वका अभाव होनेपर हेतुकी साध्यागमकता—उक्त कथनसे यह सिद्ध होता है कि केवल त्रिलक्षणत्व हेतुमें हाना साध्यका साधक नही हो सकता, किन्तु अन्यथानुपपत्ति हो तब हेतु साध्यका साधक है, अन्यथानुपपत्ति न हो तो त्रैलक्षण्य होनेपर भी साध्यकी सिद्धि नही होती इसके लिए अनेक उदाहरण पाये जाते हैं। जैसे एक अनुमान है कि श्यामका यह पुत्र काला होना चाहिए, क्योंकि श्यामका पुत्र होनेसे, जैसे कि श्यामके अन्य पुत्र। इस अनुमान मे पक्षधर्मत्व है कि यह श्यामका पुत्र है और सपक्षसत्त्व है जो अन्य श्यामके पुत्र हैं उनमे कालापन पाया जाता है और विपक्ष व्यावृत्ति है, अन्य अनेकोंके पुत्रोंमे कालापन नहीं है, इस तरह त्रिलक्षणता किसी प्रकार बन जाती है तब भी क्या अनुमान यह सही नहीं है कि जितने श्यामके पुत्र हैं उन सबको काला ही होना चाहिए। यह नियम नही बनता। तो अन्यथानुपपत्ति नहीं है इस कारणसे यह हेतु सही नहीं माना जा सकता।

अन्यथानुपपन्नत्वके होनेसे ही हेतुकी साध्यगमकता—जिन हेतुओंमे एक अन्यथानुपपत्ति लक्षण पाया जाय वह हेतु साध्यका गमक होता है। जैसे-बताया गया है कि नित्यत्वका एकान्त पक्ष कर लेनेपर विक्रिया उत्पन्न नहीं होती अर्थात् यदि पदार्थ सर्वथा नित्य है तो उसमे विकार और परिणमन नही होता। तो इसमे अन्यथानुपपत्तिका ही तो आश्रय लिया गया है। नित्यत्व ही माना जाय, अनित्यत्व-पना न माना जाय तो वहाँ कुछ भी परिणमन विकार तरग नहीं हो सकता। तो अन्यथानुपपत्ति-लक्षण वाले-हेतुके ही बलपर यह अनुमान सिद्ध किया गया है। तब इससे यह निर्णय हुआ कि हेतुमे अन्यथानुपपन्नता अवश्य होना चाहिए। यदि अन्यथा-नुपपन्नता नही है तो अवयव लक्षण कितने ही उसमे मान लिए जायें देख लिए जाये

भी वह हेतु साध्यका सिद्ध नहीं कर सकता।

सिद्ध—अब यहां शङ्काकार कहता है कि [illegible] ही लक्षणसे हेतुकी निर्दोषताकी सिद्धि है, हेतुका लक्षण यह कर लिया जाय कि जिसमे अन्यथानुपपन्नता हो वह हेतु है तो यह लक्षण सामान्यरूपसे ही कहा गया है। उसको विशेषरूपसे बता सकते है कि जिसमें त्रिलक्षणता हो वह हेतु कहलाता है। जैसे सामान्यतया थोड़े संकेतमें भी किसी अनुमानका साध्य समझ लिया जाय तो समझ हो जाती है फिर भी अनुमानके ५ अवयवोंका वर्णन किया हो गया है और जो नहीं मानते ५ अवयव अनुमानके उन्होंने भी यह स्वीकार किया है कि जहां बाल-प्रयोग हो साधारण शिष्योंको समझानेकी घटना हो तो वहां ५ अवयवोंका प्रयोग किया जाता है। तो जैसे संक्षेपसे कुछ समझ लेनेपर भी समस्त अवयवोंका प्रयोग करना विशेषरूपसे बताया गया है इसी प्रकार अन्यथानुपपत्तिसे हेतुका लक्षण समझ लेनेपर भी विशेषरूपमें त्रिलक्षणपना हेतुका लक्षण कहना ही चाहिए। अब उक्त शङ्काके समाधानमें कहते हैं कि यह बात यद्यपि कुछ सत्य दिखायी है, लेकिन अन्यथानुपपन्नत्व तो वहां निश्चित ही है जो कि जहां अर्थक्रिया नहीं है वह वस्तुतत्त्व नहीं है, जैसे क्षणिक एकान्त। क्षणिक एकान्त माननेपर पदार्थकी सत्ता सिद्ध नहीं होगी, क्योंकि वहां अर्थक्रिया ही नहीं है। तो इसी प्रकार नित्यएकान्तमें भी अर्थक्रिया नहीं है इसलिए वह वस्तुतत्त्व नहीं है। तो इस अनुमानमें एक अन्यथानुपपत्ति ही तो बतायी गई। वह यदि नहीं है तो हेतु साध्यका साधक नहीं हो सकता और इसमें त्रिलक्षणता भी घटाई जा सकती है क्या? क्या कुछ यहां सपक्ष मिलेगा, क्या कुछ विपक्ष बताया जायगा? तो यही निर्णय रखना चाहिए कि त्रिलक्षणता मिले तो, न मिले तो, अथवा उसमें दो बातें ही मिलें तब भी यदि हेतुकी अन्यथानुपपत्ति प्रमाण सिद्ध होती है, तर्क द्वारा सिद्ध हो जाती है तो वह हेतु साध्यका साधक होता है। इसी प्रकार समझिये कि नित्यपना होनेपर भी क्रमसे अथवा एक साथ अर्थक्रिया तो सम्भव है नहीं तब अर्थक्रिया जब नहीं सम्भव है तो वहां वस्तुतत्त्व सिद्ध नहीं होता। जहां अर्थक्रिया नहीं वह वस्तुतत्त्व ही नहीं, जहां परिणमन नहीं, व्यापार नहीं जहां कोई काम सिद्ध नहीं होता कोई प्रयोजन भी नहीं बनता। वह पदार्थ भी क्या है? तो क्रमसे और युगपद् अर्थक्रिया सम्भव करायी जाती है। और दूसरा तो प्रकार सम्भव है ही नहीं। कोई कहीं अर्थक्रिया बतायेगा तो क्रमसे बतावेगा या एक साथ? इसके सिवाय दूसरा कोई उपाय ही नहीं है। तो वहांपर यह बात सिद्ध हुई कि अन्यथानुपपन्नता है अतएव वह हेतु साध्यका साधक है। तीन लक्षण हेतुमें मिल जानेपर भी प्रधानतया तो लक्षण एक अन्यथानुपपन्नता ही सिद्ध है तब ही लक्षणमें साध्यको सिद्ध करनेका साधनमें सामर्थ्य बताया जाता है और वही अविनाभाव कहलाता है। अन्यथानुपपत्तिका अर्थ यह है कि साध्यके न होनेपर साधनका न होना। जिस कार्यको

सिद्ध कर रहे हैं यदि वह कार्य नहीं पाया जाता तो उसका कारण भी नहीं जाना जाता। तो यो अन्यथानुपपत्तिमे अविनाभाव ही तो सिद्ध होता है और यह अविनाभाव सर्व प्रकारके हेतुओंकी प्रतिष्ठा बनाता है, जितने भी हेतुके भेद बताये गए हैं सबमे अविनाभाव सम्बन्ध मिलेगा।

अन्यथानुपपन्नत्वका अभाव होनेसे तादात्म्य व तदुत्पत्ति सम्बन्धमें भी साध्य साधनके सम्बन्धका अनियम—अविनाभाव सम्बन्ध ही वास्तविक सम्बन्ध है जिससे कि हेतु साध्यको सिद्ध कर सकता है, किंतु तादात्म्यका या तदुत्पत्तिका सम्बन्ध अविनाभाव वाला सम्बन्ध नहीं है। कारण कि तादात्म्य व तदुत्पत्ति भी न हो तब भी हेतु साध्यको सिद्ध कर देता है। साध्य न अभाव न रहे ऐसा नियम अविनाभावी हेतुमे बन जाया करता है। तब यह बात सिद्ध हुई कि अविनाभावी हेतु अर्थात् अन्यथानुपपन्न हेतु ही साध्यको सिद्ध करनेमे समर्थ है। जैसे एक अनुमान किया कि हिमालयमे बिजली गिरी है क्योंकि किनारेपर उसका कल-कल शब्द हुआ है। तो अब देखिये ! यह अनुमान सही है ना ! कहीं बिजली कडकी हो दूरसे बता सकते हैं कि वहाँ बिजली कडकी है। अब देखिये ! यहाँ तादात्म्य सम्बन्ध तो है नहीं हिमालयपर बिजली गिरी है और तीथपर किनारेपर कल कल शब्द हुआ है तो यहाँके शब्दका और वहाँके बिजली गिरनेका कोई तादात्म्य नहीं पाया जाता लेकिन अन्यथानुपपत्ति वहाँ सिद्ध होती है। यदि उस ओर बिजली न कडकी होती तो किनारेपर यह आवाज न सुनाई देती। तो अनुमान सही बन गया मगर न तादात्म्य है न तदुत्पत्ति है अथवा इस अनुमानमे तदुत्पत्ति मान ली जाय तो तदुत्पत्तिका सम्बन्ध मान लेनेपर भी आखिर हेतु जो साध्यका साधक बना वह अन्यथानुपपत्तिके बलपर ही बना। यदि अन्यथानुपपत्ति हेतुमे न हो तो वह साध्यका साधक नहीं हो सकता। जैसे यह अनुमान किया कि वह काला होना चाहिए क्योंकि श्यामका पुत्र होनेसे, श्यामके अन्य पुत्रोंकी तरह। तो यहाँ तदुत्पत्ति सम्बन्ध तो मिल गया कि यह यह पुत्र भी श्यामसे उत्पन्न हुआ है लेकिन अन्यथानुपपत्ति यहाँ नहीं है, इस कारणसे यह अनुमान सही नहीं होता और न यह हेतु साध्यका साधक है अथवा अनुमान किया कि यहाँ धुवाँ होना चाहिए, अग्नि होनेसे, रसोई घरकी तरह। इस अनुमानमें तदुत्पत्तिका सम्बन्ध तो बता दिया कि अग्निसे धुवाँ होता है। तो तदुत्पत्तिकी बात सिद्ध होनेपर भी यह अनुमान सही तो नहीं है कि यहाँ धुवाँ होना ही चाहिये अग्नि होनेसे। अग्नि होती है और धुवाँ नहीं होता ऐसे अनेक स्थल होते हैं। जहाँ शुद्ध धातुमें अग्नि लगी हो अथवा खूब पक्के कोयलेमे पूर्णतया आग लगी हो तो वहाँ धुवाँ तो नहीं होता त तदुत्पत्तिका प्रतिबन्ध यहाँ होनेपर भी अन्यथानुपपत्ति न होनेके कारण यहाँ हेतु साध्यका साधक न होगा।

सकल विपक्ष व्यावृत्तिके विवरणमे अन्यथानुपपन्नत्वका समर्थन—यदि

यहाँ शङ्काकार यह कहे कि तत्पुत्रत्वात् यह हेतु साध्यका साधक इस कारण नहीं होता कि समस्त विपक्षोसे व्यावृत्तिका निश्चय नहीं है यानें जहाँ साध्य नहीं पाये जाते हैं ऐसे साधनोंमे हेतु नहीं रहता, इसका निश्चय नहीं हो पाया, इस कारण यह हेतु साध्यका गमक नहीं है। जैसे कि श्यामपुत्र होनेसे काला होना चाहिए, इस अनुमानमे दोष दिया है वह दोष यो सम्भव नहीं है कि समस्त विपक्षोसे हेतु अलग नहीं है, विपक्ष हुए वे जो श्यामके पुत्र नहीं हैं। अन्य जो पुत्र हैं लो उनमे भी कहीं कालापन होता है कहीं नहीं भी होता है। तो समस्त विपक्षोसे व्यावृत्ति न होनेके कारण यह हेतु साध्यका गमक नहीं है। तो इसके समाधानमे सुनो। इस कथनका भाव यही तो हुआ कि हेतुमे अन्यथानुपपत्ति नहीं है, इस कारणसे वह साध्यका गमक नहीं है, विपक्षसे व्यावृत्ति नहीं है, इसका अर्थ है अन्यथानुपपत्ति नहीं है। इस कारण हेतु सही वह कहलाया जिससे अन्यथानुपपत्ति पायी जाती हो। इस कारण हेतुका लक्षण एक यह मानो कि जहाँ अन्यथानुपपन्नपना हो वह हेतुका लक्षण है।

सर्व सद्धेतुओंमे अन्यथानुपपन्नत्व लक्षणका सद्भाव—हेतुका अन्यथानुपपन्नत्व लक्षण समस्त हेतुवोंमे पाया जाता है। जितने भी समीचीन साधन हैं, चाहे वे कार्यहेतु हो या स्वभावहेतु हो या अनुपलब्धि हेतु हो उन सबमें पाया जाता है अन्यथानुपपन्नत्व। इस प्रकार जितने भी अनुमान हो चाहे वे पूर्ववत् अनुमान हो, अथवा शेषवत् अनुमान हो या सामान्यतोदृष्ट अनुमान हो जैसे कि साङ्ख्यसिद्धान्तमे तीन प्रकारके अनुमान माने हैं इन सब अनुमानोमे और उनमे पाये जाने वाले तीन प्रकारके हेतुओंमे जिन हेतुओंको साङ्ख्य सिद्धान्तमें बताया है—वीत अवीत और उभय, जिनका यदि सीधा अर्थ किया जाय तो हेतुवोंके ये तीन नाम होंगे—केवलान्वयी, केवलव्यतिरेकी और अन्वयव्यतिरेकी, सो इन तीन प्रकारके हेतुओंमे यह अन्यथानुपपत्ति पाई जाती है, इस कारण वे सब साध्यके साधक होते हैं। केवलान्वयी हेतु उसे कहते हैं जहाँ केवल अन्वयव्याप्तिके द्वारा हेतु साध्यको सिद्ध करे। अन्वयव्याप्ति कहते हैं साधनके होनेपर साध्यका होना बताना। जैसे यहाँ जहाँ-जहाँ धूम होता है वहाँ वहाँ अग्नि होती है, यह अन्वयव्याप्तिका उदाहरण है। केवलव्यतिरेकी हेतु उसे कहते हैं जहाँ सिर्फ व्यतिरेकी व्याप्ति पाई जाय। जैसे जो अनेकान्त नहीं होता वह सत् नहीं होता य. व्यतिरेक व्याप्ति प्रसिद्ध अनुमानमे यह है कि जहाँ अग्नि नहीं होती वहाँ धुवाँ नहीं होता, किन्तु जहाँ इस तरहकी केवल व्यतिरेक व्याप्ति पाई जाय उसे केवल व्यतिरेकी हेतु कहते हैं, किन्तु जहाँ अन्वय व्याप्ति और व्यतिरेकी व्याप्ति दोनों पाई जायें उसे अन्वय व्यतिरेकी हेतु कहते हैं। इस पर्वतमे अग्नि है धूम होनेसे, इस अनुमानमे दोनो ही व्याप्ति पाई जाती हैं, इस कारण धूम होनेसे यह हेतु अन्वय व्यतिरेकी हेतु कहलाता है। तात्पर्य यह है कि सभी प्रकारके हेतुओंमे अन्यथानुपपन्नत्व लक्षण होता है तभी वे समीचीन हेतु हैं, इस कारण हेतका एक ही प्रधान लक्षण है

साध्यके अभावमे जो न हो उसे कहते है हेतु और साध्यके अभावमे जो न रहा करे, वह यदि पाया जाय तो उससे नियमसे साध्यकी सिद्धि होती है, इसी विधिको अन्यथानुपपत्ति कहते हैं। यदि अन्यथानुपपत्तिको हेतुका लक्षण न माना जाय तब फिर कोई किसीका लक्षण हो जाय, यह बात ही नहीं बन सकती और उसमे लक्षणभावका उच्छेद हो जायगा और जब अन्यथानुपपत्तिपना पाया जाता हो तो भले ही शिष्यके अनुरोधके वशमे ५ अवयवोका प्रयोग किया जाय, तीन लक्षणोको प्रकट बताया जाय उसका हम खडन नहीं करते लेकिन सार बात यह है कि हेतुमे यदि अन्यथानुपपन्नपना नही पाया जाता तो वह हेतु समीचीन नही है।

हेतु, नय कुनय व प्रमाणके स्वरूपका दिग्दर्शन— उक्त विवरणसे सिद्ध हुआ कि हेतुका लक्षण नयका लक्षण जो बताया गया वह सही है कि जो स्याद्वादके द्वारा गृहीत अर्थकी विशेषताको प्रकट करे उसे हेतु कहते हैं अथवा नय कहते हैं क्यो कि स्याद्वादके द्वारा अनुमिता किये जानेवाले अनेकान्तात्मक अर्थ तत्त्वको यह नय अथवा स्याद्वाद प्रकट दिखाता है इस कारणसे स्याद्वादके द्वारा गृहीत अर्थ अनेकान्तात्मक अर्थ ही है, क्योकि वही अनेकान्तात्मकपना वस्तुके सर्वांशमे व्यापक है तो स्याद्वादके द्वारा जो जाने वह प्रमाणका विषयभूत है। अब प्रमाणके विषयभूत उस पदार्थमे विशेष धर्म अनेक हैं। जैसे नित्यत्व एकत्व आदिक, उनका प्रतिपादन करने वाला जो आशय है, उसे नय कहते हैं अथवा हेतु कहते हैं। तो हेतुका भी यह लक्षण बन जाता है और नयका भी यह लक्षण बनता है। इसी सम्बन्धमें ऋषि सतोंने बताया है कि पदार्थ तो अनेक स्वरूप हुए सो अनेक स्वरूप पदार्थकी समझ होना यह तो है प्रमाण और जो अनेक स्वरूप पदार्थमे अंशमात्रका ग्रहण करना वह कहलाता है नय, ऐसा नय अन्य धर्मकी अपेक्षा रखता है। यदि अन्य धर्मका निराकरण करे तो वह नय नहीं, किन्तु कुनय है। प्रमाण नय और कुनयके लक्षण सक्षेपमे इस प्रकार जानना चाहिए कि सामान्यविशेषात्मक वस्तुका ज्ञान करना प्रमाण है और उसमे एक धर्मका ज्ञान करना नय है तथा उसके प्रतिपक्ष धर्मका निराकरण करना सो कुनय है। यह कुनय क्यो कहलाता ? यहाँ केवल स्वपक्षका आग्रह है और वहाँ विपक्षका विरोध करनेका ही अभिप्राय है। तब तीनोका सक्षिप्त अर्थ यह हुआ कि अनेकान्तका परिज्ञान प्रमाण, एक धर्मका परिज्ञान नय और प्रतिपक्षी धर्मका निराकरण सो कुनय है। अब सबका वर्णन करनेके बाद जिसके आधारसे प्रमाण नय और कुनयकी बात कही जाती है उस वस्तुका स्वरूप क्या है ? वह स्वरूप इस कारिकामें बताते हैं

नयोपनयैकान्तानां त्रिकालानां समुच्चयः ।
अविभ्राड्भावसम्बन्धो द्रव्यमेकमनेकधा ॥ १०७ ॥

दार्शनिक दृष्टिसे द्रव्यका स्वरूप—तीन कालवर्ती नय और उपनयके विषयोका समुच्चय होना जो कि अपृथग्भावका सम्बन्ध है, जिसका इस तरहसे एक द्रव्य होता है भेदकी अपेक्षा करके निरखा जाय तो वह अनेक भेदों वाला होता है। नयका लक्षण पहिले कहा ही गया है। जो द्रव्य पर्यायको विषय करता हो और स्याद्वादके द्वारा गृहीत अर्थ हो ऐसा जो संग्रह आदिक अभिप्राय है वह नय है और नयकी शाखा प्रशाखायें उपनय कहलाती हैं। तो इन सब नयोका जिनका लक्षण विपक्षकी अपेक्षा करना है ऐसा त्रिकाल विषयक उन नयोके समुदायका नाम द्रव्य है और वही वस्तु कहलाती है। लक्षण और नयको यहां विपक्षोपेक्ष दिखाया है। उसका अभिप्राय यह है कि नय विपक्षकी अपेक्षा करता है, निराकरण नहीं करता। उपेक्षा और निराकरणमे अन्तर है। यदि विपक्षका निराकरण करे तो उसका नाम कुनय क्योंकि विपक्षका विरोध दिखानेमात्रका ही इसका अभिप्राय रहा और अपने ही पक्षके पोषणका आग्रह रहा, किन्तु नयका आशय इस प्रकार नहीं बनता। जिस धर्मका परिज्ञान किया जा रहा है प्रधानतासे उस धर्मका ज्ञान नयमे होता है, किन्तु उस धर्मका जो प्रतिपक्ष है उसका यह निराकरण नहीं करता, किन्तु उपेक्षा रखता है, क्योंकि नयकी दृष्टि एक धर्मकी ओर है। तो यो विपक्षकी उपेक्षा करना जिसका लक्षण है ऐसे त्रिकाल विषयक एकान्तोके समुदायको अर्थात् नयोके विषयभूत अशके समुदायको द्रव्य कहते हैं। कहा भी है गुण पर्ययवत् द्रव्य। द्रव्य गुण पर्यायवान होता है। तो कोई भी अंश हो, पर्याय भी अंश हो इन सबका एकात्मकरूपसे जो समुदाय बताया है वह द्रव्य कहलाता है, उसका भी भाव यह होता है जो कारिकामे कहा गया है कि त्रिकालवर्ती नयोका एक जगह अवस्थान होना, तो नयोने जिस जिस गुण पर्यायका विषय किया है उन सब विषयोका एक जगह अवस्थान होना इसका नाम है द्रव्य।

नयोके समुच्चयका भाव—अब यह जिज्ञासा होती है कि उन नयोंका समुच्चय क्या कहलाता है? उत्तर इस प्रकार है कि वह समुच्चय कथंचित् अपृथक भाव सम्बन्ध है याने पृथक पृथक नही है। एक वस्तुमे जितने धर्मोका बोध किया जाता या अनेक नयोसे जिन विषयोका परिज्ञान किया जाता है वे सब इस विषयभूत अर्थमे है, उनसे पृथक नही है तो अपृथक भावरूप सम्बन्ध होना ही उनका समुच्चय कहलाता है। उससे भिन्न प्रकारका समुच्चय चाहे संयोगरूप बनायें या अन्य प्रकार कहा वह सब असम्भव है। द्रव्य और पर्यायका जो विशेष है, वह द्रव्य दृष्टिने जब एक है तो पर्याय अपेक्षासे वह ही चीज अनेक सिद्ध होती है। तो यो द्रव्य पर्यायोमे सामान्य और विशेषकी दृष्टिसे इन नयोका प्रसार होता है ऐसा समझनेपर यह न जानना कि फिर तो एक ही द्रव्य रह गया, क्योंकि नय और उपनयके विषयभूत पर्यायोका तो यहां तादात्म्य बता दिया गया है। अपृथक भाव सम्बन्ध कहा गया है। जहाँ अपृथकता है वहां एकता कहलायगी, यों द्रव्य एक ही रहा, वह कथंचित् अनेक सिद्ध नहीं हुा

सकता ऐसी यहाँ शङ्का न करना, कारण कि उन सब नयोके विषयभूत धर्मोंका कथ-चित् भेद है, कथचित् भेद होनेसे उसमे अनेकपना आता है।

कथंचित् तादात्म्य व भेदकल्पनासे अनेकान्तात्मकताकी सद्धि—अब कोई शङ्काकार कहता है कि फिर द्रव्यको अनेकान्त ही मत मान लो क्योंकि तादात्म्य का विरोध किया गया है। तो अनेक जगह जो हो या जो अनेक हो उनमे तादात्म्य नही हो सकता। तादात्म्य है तो वहाँ अनेकान्तता कैसे जान जा सकती है ? समाधानमें कहते है कि यह भी शङ्का न कीजिए क्योंकि यहाँ कथचित् तादात्म्य माना गया है। इस कथंचित् तादात्म्यका अर्थ है अशक्य विवेचनत्व तो ऐसे कथचित् तादात्म्यका यह अविरोध है क्योंकि पदार्थमे भेद और अभेद दृष्टिसे भेद और अभेदकी प्रतीति होती है। केवल उनकी भेद कल्पना करके भेद माना जाता है, गुण गुणी आदिक भेदकी तरह। जैसे आत्मा गुणी है और आत्मामे ज्ञान दर्शन आनन्द आदिक गुण हैं। तो यह गुण गुणीसे पृथक नहीं है, अपृथकभाव है, किन्तु भेद कल्पना की गई, आधार आधेयभाव देखा गया कि आत्मामे ज्ञान है, दर्शन है, चारित्र है। जब हम कोई अश ग्रहण करते हैं तो वस्तु तो वह एक ही थी जिसमेसे अशको ग्रहण किया गया है। अब अश होनेसे वह बन जाता है आधेय और वह अशी जो पहिले समझा गया है ऐसा वह अखण्ड पदार्थ आधार हो जाता है। तो यो गुण गुणीका जैसे भेद किया गया इसी प्रकार उन समस्त धर्मोंका उस अखण्ड द्रव्यमे भेद किया जाता है और उस भेद कल्पनासे वह एक द्रव्य अनेक प्रकारका होता है। इसी कारण यह बात भली भाँति बतायी गई है कि त्रिकालवर्ती नय और उपनयके विषयभूत जो पर्याय विशेष हैं उनके समूहको द्रव्य कहते हैं। वह द्रव्य एकानेकात्मक होता है। उस हीको वस्तु कहते हैं। अब वस्तुका स्वरूप बताकर शङ्काकारकी ओरसे एक आशङ्का आती है, जिसका परिहार करते हुए आचार्यदेव समाधान देते है।

मिथ्यासमूहो मिथ्या चेन्न मिथ्यैकान्ततास्ति न ।
निरपेक्षा नयद मिथ्या सापेक्षा वस्तुतोऽर्थकृत् ॥ १०८ ॥

कुनय और सुनयके स्वरूपका विवरण—शङ्काकार कहता है कि अगर मिथ्याका समूह यहाँ बताया जा रहा है तो वह मिथ्या ही तो कहलायेगा। मिथ्याका अर्थ है एकान्तभाव। तो जब एकान्तका नाम नय है, एक धर्मका प्रतिपादन करनेवाला नय माना गया है तब विचार कीजिये ! वस्तुमे एक ही धर्म तो नहीं है, फिर भी एक धर्मको कहा, तो वह मिथ्या ही तो कहलाना चाहिए। तो ऐसा मिथ्याका समूह मिथ्या हो जायगा। उत्तरमे कहते हैं कि इस तरह स्याद्वाद शासनमे मिथ्यापनका एकान्त नही है। नय मिथ्या ही हो सो बात नही, किन्तु जो नय निरपेक्ष है वह मिथ्या

होता है और जो नय सापेक्ष है वह वास्तवमे सुनय है और अर्थक्रियाका करने वाला है। तब जो सापेक्षनय है उन नयोका जो समूह है वह मिथ्या कैसे हो सकता है? वह प्रमाणभूत है। अभी पूर्व गाथामे जो सुनय और कुनयका लक्षण बताया गया है उसपर दृष्टिपात किया जाय तब न तो यह प्रश्न हो सकता था और न उसका परिहार करनेकी आवश्यकता रहती। जो निरपेक्ष नय हैं उनको ही मिथ्या कहा गया है, और निरपेक्ष नयोका विषयसमूह मान भी लिया जाय तो भी वह मिथ्या है। पर जो सापेक्षनय है अपने विषयका प्रतिपादन करता हुआ अपने प्रतिपक्षी धर्मका निराकरण नही करता है, ऐसा सापेक्षनय तो सुनय कहलाता है और उस सुनयका जो विषय है वह अर्थक्रियाकारी होता है, ऐसे सुनयोके समूहमें वस्तुपना बराबर है। इसी बातको प्रमाणविधिसे सिद्ध कीजिये। निरपेक्षपना कहते किसे हैं? प्रतिपक्षभूत धर्मका निराकरण करे, प्रतिपक्षी धर्मको माने ही नही, उसका विरोध करे तो उसे कहते हैं निरपेक्षता और सापेक्षता कहते हैं उपेक्षाको। उसको माना तो लिया है पर उसकी उपेक्षा है। यदि अपेक्षा है तो वह प्रधानता बन गई। यदि उसको ही प्रधान बना दिया जाता है तो अपेक्षा फिर न रही। सापेक्षता कहते ही उसे हैं जहाँ कि उपेक्षा हुआ करती है, जो धर्म नयमे बताया जा रहा है उस धर्मके विरोधी धर्मका जब उपचार करते हैं तो उस समय अपेक्षा न रही, इस कारण उपेक्षा है। विचार तो एक धर्मका चल रहा है ना, तो उसके विपक्षी धर्मकी उपेक्षा है और उससे कही उस विरोधी धर्मका निराकरण नही हो जाता। तब जहाँ प्रतिपक्षी धर्मका निराकरण तो हो नहीं और विचार के समयमें अपेक्षा रखी जाय ना उसको उपेक्षा कहते हैं। और, ऐसे विपक्षकी अपेक्षा सापेक्षपना कहते हैं। यदि उपेक्षामे ये दो बातें न आयें, क्या? कि विरोधी धर्मका निराकरण न करना और विरोधी धर्मका विचार न करना, इस प्रकारकी उपेक्षा यदि न मानी जाय तो फिर प्रमाण और नयमे कोई भेद ही नही रहता। यदि सापेक्षपना विरोधी धर्मकी उपेक्षारूप न हो किन्तु या विरोधी धर्मको ग्रहण करता हुआ हो या विरोधी धर्मका निराकरण करता हुआ हो तो प्रमाण और नयमे यह भेद नहीं बन सकता। जैसे कि सिद्धान्तमें बताया है कि जो सकलादेशी हो वह प्रमाण है और जो विकलादेशी हो वह नय कहलाता है तो अब यह सकलादेश और विकलादेश रहा कैसे? क्योंकि उपेक्षाका लक्षण सापेक्षता नहीं माना गया है। तब दोनोंमें कोई भेद न रह जायगा।

प्रमाण, नय व कुनयके पूर्वोक्त लक्षणकी सम्पुष्टि—उक्त विवरणसे यह सिद्ध हुआ कि दूसरे धर्मका ग्रहण होना, उपेक्षा होना, हानि होना, जो प्रमाण नय और कुनयका लक्षण कहा है वह युक्तिसङ्गत है, अन्य प्रकारसे इसका लक्षण नहीं बन सकता। प्रमाणमें होता क्या है कि सभी धर्मोंका ग्रहण किया जाता है। जैसे जीव नित्य है अनित्य है, एक है अनेक है, इन सभी धर्मोंका परिज्ञान प्रमाणमें है। नयमें

उपेक्षा होती है अन्य धर्मोंकी। जैसे स्याद अस्ति जीव जीव स्वरूपसे है। जब भी यह कहा गया तो इसमे विचार स्वरूपसे अस्तित्वका किया है, इसकी दृष्टिमे स्वरूपसे अस्तित्व है, पर इसके मायने यह नही कि पररूपसे अस्तित्वका यह विरोध करना हो, इसी कारण यह सुनय कहलायेगा। जिन नयोंने विरोधी धर्मका निराकरण किया है वे नय न रह सकेंगे, वे कुनय हो गए। जैसे जगतके सभी पदार्थोंका सर्वथा सद्भाव कहना और किसीका भी अभाव किसीमे न मानना यह तो अपने पक्षका आग्रह कहलाया। प्रतिपक्ष धर्मका निराकरण कहलाया तो वहाँ वह स्वरूप ही नहीं बन सकता। पदार्थ अपना स्वरूप इस ही प्रकार रखे हुए है कि अपने स्वरूपमे तो हो, पररूपसे न हो। प्रत्येक पदार्थ सत् है, स्वयं सत् है, किसी पर पदार्थके कारण सत् नहीं है। तो अन्य धर्मकी उपेक्षा जहाँ होती है वहाँ नयकी उत्पत्ति है, किन्तु जहाँ अन्य धर्मका निराकरण ही किया जाता है वह दुर्नय कहलाता है। प्रमाणसे तो पदार्थके तत् अतत् स्वभावका ज्ञान होता है, अर्थात् जो विवक्षित धर्म हो उसका ज्ञान है, उसका ज्ञान अस्तित्वके नाते है। और, जो अविवक्षित धर्म हो उसका भी ज्ञान है। तो प्रमाणमे तो तत् अतत् स्वभावका ज्ञान है, नयमे विवक्षितका विचार है अविवक्षितका अनिराकरण है और कुनयसे अन्य पदार्थका निराकरण होता है। इस तरह प्रमाण, नय और कुनय सबका लक्षण समझना चाहिये। इससे भिन्न प्रकारसे परिज्ञान हो नही सकता। कोई जानेगा तो सर्व धर्मोंका सग्रह करता हुआ जानेगा अथवा सर्व धर्मात्मक पदार्थमे से किसी एक धर्मको प्रधानतासे जानेगा और अन्य प्रतिपक्ष धर्मका विचार न करेगा और साथ ही प्रतिपक्ष धर्मका निराकरण न करेगा, ऐसा ही अभिप्राय जहाँ होता है, वह नय कहलाता है और कोई ऐसा अभिप्राय होता है कि जिस धर्मको कहा, जिसकी सिद्धि करना है उसकी सर्वथा सिद्धि करना उसके प्रतिपक्षका कोई धर्म है ऐसा मानना ही नही, उनका निराकरण करना यह पद्धति जहाँ है वह कुनय है।

प्रमाण नय व दुर्णय स्वरूपका उपसंहार—जहाँ तत् अतत् स्वभावके ज्ञानकी विधि है वह तो प्रमाण है और विवक्षित धर्मका परिज्ञान किया जा रहा है किन्तु अविवक्षितका निराकरण नहीं किया जाता उसे नय कहते हैं और जो प्रतिपक्ष धर्मका निराकरण किया जाता है उसको कुनय कहते हैं। तो जो सुनयको मानना है वह सम्यक है, प्रमाण है, वस्तुस्वरूप है और जो कुनयोंको मानता है सो वह मिथ्या है अप्रमाण है। कुनय स्वयं शुद्ध ज्ञान नही है अतएव सब सुनयोंका समूह सम्यक्ज्ञान कहलाता है। तब शङ्काकारकी यह शङ्का कि नय समूह है अनेकान्त इस कारण वह मिथ्या हो जायगा। सो भली प्रकार समझा दिया गया है कि मिथ्यासमूहमे अनेकांतपना नहीं है। यदि नय निरपेक्ष है तो वह मिथ्या है और यदि वह सापेक्ष है तो वह मिथ्या है और यदि वह सापेक्ष है तो वह वास्तविक है और अर्थक्रियाको करने वाला है। इस ही नयका यहाँ लक्षण प्रकट किया गया है कि प्रमाणसे ग्रहण किए गए

पदार्थमें किसी विवक्षित एक धर्मका ज्ञान करे उस अभिप्रायको नय कहते हैं। नयको धर्मको ग्रहण करने वाले पुरुषने प्रमाणसे उस पदार्थका ज्ञान रखा है, अब प्रयोजनवश शिष्यको समझानेके लिए या किसी धर्मका विचार करनेके लिए वह एक धर्मका परिज्ञान कर रहा है, तो उसकी दृष्टिमे सब धर्म हैं और अखण्ड पदार्थ है, तिसपर भी वह एक धर्मका वर्णन करता है अतः वह मिथ्या नही कहला सकता। अब यहाँ एक जिज्ञासा होती है कि वाक्यके द्वारा अनेकान्तात्मक पदार्थ ही कैसे नियत किया जाता है जिस कारणसे कि विषयमें लोगोकी प्रवृत्ति हो सके। शङ्काकारका यह अभिप्राय है कि वाक्यके द्वारा जो जाना जाता है वह अनेकान्तात्मक पदार्थ ही जाना जाता है, यह कैसे सिद्ध हुआ जिससे कि फिर लोगोकी ज्ञात विषयमे प्रवृत्ति बन सके, ऐसी जिज्ञासा होनेपर आचार्य समन्तभद्र कहते हैं

नियम्यतेऽर्थो वाक्येन विधिना वारणेन वा।
तथान्यथा च सोऽवश्यमविशेष्यत्वमन्यथा ॥१०९॥

विधि वाक्य व प्रतिषेधवाक्यसे अनेकान्तात्मक वस्तुका प्रतिनियम— वाक्यके द्वारा चाहे विधिरूप वाक्य हो अथवा प्रतिषेधरूप वाक्य हो, वाक्यके द्वारा अर्थ नियमित होता है अर्थात् अनेकान्तात्मक अर्थ ही नियत सिद्ध होता है। चूंकि पदार्थ विधिस्वरूप है और प्रतिषेधस्वरूप है अतएव विधिरूप वाक्यसे और प्रतिषेधरूप वाक्यसे ऐसा अनेकान्तात्मक अर्थ ही प्रतिनियत होता है अन्यथा अर्थात् यदि एकान्त रूपसे ही विचार किया जाय, केवल विधिरूप ही माना जाय अथवा प्रतिषेधरूप ही माना जाय, दोनो रूप पदार्थोंका न माना जाय तब सत्त्व और असत्त्वमें कोई विशेषता ही नही रह सकती। एक अनुमान प्रयोग है कि जो सत् है वह सब अनेकान्तात्मक है अर्थक्रियाकारी होनेसे। जैसे अपने और विषयभूत पदार्थके आकारका सम्वेदन करने वाला ज्ञान। जैसे कि स्वविषयाकारको ग्रहण करने वाला सम्वेदन प्रमाण और नयके भेदसे अनेक प्रकारका है इसी प्रकार अनेक विषयभूत पदार्थ भी अनेक प्रकारका है।

अनेकान्तात्मक वस्तुको सिद्ध करने वाले अनुमान प्रयोगमे धर्मी साध्य व हेतुकी युक्तता— प्रकृत अनुमान प्रयोगमें वस्तुको धर्मी बनाया गया है क्योकि वस्तुमें किस प्रकार है? इस ही सम्बन्धमें दार्शनिकोका विवाद है और जो विवादयुक्त बात हो वह धर्मी होता है, धर्मीके मायने प्रतिज्ञा। प्रतिज्ञा विवादापन्न ही होती है जैसे साध्य को प्रतिवादी नहीं मानता, जिसमें प्रतिवादी विवाद करता है वह भी तो साध्य होता है और वह वस्तु अनेकान्तात्मक होनेसे विवादापन्न है, अर्थात् कोई दार्शनिक अनेकान्तात्मक नही मानता है। तो जब वस्तुके अनेकान्त स्वरूपमे विवाद मानता है तब उनको समझानेके लिए यह अनुमान प्रयोग है और वस्तु अनेकान्तात्मक है ऐसा साध्य

युक्त बनता है। इस अनुमान प्रयोगमे हेतु है अर्थक्रियाकारी होनेसे, तो अर्थक्रिया कारिता हेतुमे असिद्धत्व आदिक कोई दोष नही आता। और इसमे हेतुका जो एक प्रधान लक्षण है अन्यथानुपपत्ति, साध्यके विना साधनका न होना यह लक्षण भी घटित होता है, इस कारण हेतु भी निर्बाध है।

उदाहरणमे प्रयुक्त स्वविषयाकार सवेदनकी साध्य साधन सम्पन्नता—इस अनुमान प्रयोगने उदाहरण दिया गया है स्वविषयाकार सवेदनकी तरह। तो उदाहरण जो कुछ भी दिया जाता है वह वादी प्रतिवादी दोनोंसे सम्मत होना चाहिए अन्यथा उदाहरण देना व्यर्थ है। प्रतिवादीको समझानेके लिए ही उदाहरण दिया जाता है और उस उदाहरणमें ही यदि विवाद है तो वह उदाहरणका काम न कर सकेगा। तो स्वविषयाकार सम्वेदन अर्थक्रियाकारी है और वह अनेकान्त स्वरूप है। इन दो बातोंको प्रतिवादी भी मानता और वादी भी मानता। कैसे मानता है कोई प्रतिवादी स्वविषयाकार सम्वेदनको अनेकान्त स्वरूप सो सुनो। जैसे सौगत सिद्धान्तमे द्वैत सम्बन्ध माना है अर्थात् जो ज्ञान होता है उसमे अनेक पदार्थ ज्ञेय होते हैं। तो चित्राकार हो गया क्योंकि ज्ञेय अनेक ज्ञानमे आया। तो चित्राकार होकर भी वह एक सम्वेदन माना गया है। तो अब देखिये! वहाँ वह ज्ञान एक अनेकात्मक हो गया ना, एक सम्वेदन स्वरूप है और उसमे आकार चित्र है। तो अनेकान्त स्वरूप वह स्व विषयाकार सम्वेदन हो गया। नैयायिक जनोंके यहाँ ऐसे ज्ञानको स्व और पदार्थका सम्वेदन करने वाला माना है। तो अब देखिये कि स्व तो है वह एक और अर्थ है अनेक, क्योंकि जगतमे पदार्थ अनन्त हैं तो उन अनन्त पदार्थोंका और स्वका सम्वेदन करने वाला जो ईश्वर ज्ञान है सो वह मेचक ज्ञान बन गया। अब वह ज्ञान एक अनेकात्मक हो गया। स्वसम्वेदनकी दृष्टिसे एक रूप है, अर्थ सम्वेदनकी दृष्टिसे नाना रूप है यो स्वविषयाकार सम्मेलन अनेकान्तमय हो गया। अब साख्य सिद्धान्तकी बात सुनो! वहाँ ऐसा स्वसम्वेदन माना है कि स्वरूप और बुद्धिमे आये हुए पदार्थ इन दोनोका सम्वेदने वाला ज्ञान होता है अर्थात् साख्य सिद्धान्तसम्मत ज्ञान अपने स्वरूप को बुद्धिमें आये हुए इन सब बाह्य अर्थोंको जानता है तो इसका अर्थ यही तो हुआ कि वह एक अनेकात्मक है, अनेकान्तमय है। तो यहाँ भी स्वविषयाकार सम्वेदन अनेकान्तरूप माना गया है। मीमासक जनोंके यहा भी जो फलज्ञान माना है वह स्व-सम्वेदी है और पदार्थोंके जाननरूप है, ऐसा प्रसिद्ध है। तो स्वसम्वेदी होनेके नातेसे वह ज्ञान एकस्वरूप है और अर्थज्ञान होनेके नातेसे वह ज्ञान अनेक स्वरूप है। और भी देखिये! जैसे इन सब दार्शनिकोंके यहाँ स्वविषयाकार सम्वेदन अनेकान्त स्वरूप सिद्ध हुआ, इसी प्रकार चार्वाक जनोंके यहाँ जो लोक परलोक आदि कुछ भी नही मानते, लेकिन उनका प्रत्यक्ष ज्ञान स्व और अर्थका जाननहार माना ही गया है। जो बात एकदम सामने आ रही हो उसे कैसे मना किया जा सकता? ज्ञान यदि स्वका

संवेदन न कर तो वहाँ अर्थका ही परिच्छेद नहीं कर सकता। जैसे दर्पण स्वयमे यदि स्वच्छताको लिए हुए न हो तो उसमें छायारूप प्रतिबिम्ब हो नहीं सकता। वहाँ जो अर्थ प्रतिबिम्ब हो रहा है वह यह सिद्ध करता है कि उस दर्पणमें स्वयंको झल-कानेकी स्वच्छता है और दूसरे पदार्थको भी झलका सकता है। ऐसे ही जो ज्ञान इन बाह्य पदार्थोंको जानता है वह स्वको भी जानता है तभी बाह्य पदार्थोंका ज्ञान सम्भव हो सकता है। तो चार्वाक सिद्धान्तमें भी प्रत्यक्ष ज्ञानको स्व और पदार्थका परिच्छेद करने वाला माना है। तब सिद्ध हुआ कि इस अनुमान प्रयोगमें जो उदा-हरण दिया वह भी वादी प्रतिवादी दोनोंके द्वारा सम्मत है। और इस तरह यह साधन वाक्य समीचीन ही है।

प्रतिषेध वाक्य द्वारा भी अनेकान्तात्मक अर्थकी सिद्धि—अब और भी सुनो! विधिवाक्य अनेकान्त साधनके लिये अभी बताया ही गया है। उक्त जो अनु-मान प्रयोग है वह विधिरूपसे प्रयुक्त है। इसी प्रकार निषेध वाक्यके द्वारा एकान्तमे भी दूषण दिया जाता है सो उस दूषणसे भी अनेकान्तात्मक वस्तुकी सिद्धि होती है। जैसे अनुमान प्रयोग है कि कुछ भी वस्तु तत्त्व एकान्त नहीं हो सकता, क्योंकि एकान्त वस्तुत्वमें सभी प्रकारसे अर्थक्रिया असम्भव है। जैसे आकाशपुष्प, वह नहीं है तो उसमें अर्थक्रिया नहीं होती। इस अनुमान प्रयोगमें जो धर्मी बताया गया है, वस्तु तत्त्व एकान्तरूप नहीं है, सो जो नहीं है उसको कैसे कह दिया गया? असत्का कथन इस तरह हुआ है कोई यों आशंका करे तो उसे यों समझना चाहिए कि विवादापन्न यह एकान्त वस्तुतत्त्व धर्मी है सो दूसरेके द्वारा माने गए रूपसे है, और यहाँ दूसरेके द्वारा माने गए रूप एकान्त स्वरूपका ही प्रतिषेध किया गया है अन्यथा प्रतिषेध सम्बन्धी कोई बात बन ही न सकेगी। कोई पुरुष अप्रसिद्ध बातको कहे जा रहा है और बात है ही नहीं वैसी उस बातको माने जा रहा है तो असत्का नाम लेकर तो मना करना ही पड़ेगा। तो जो असत् है उसका मना कैसे किया गया? ऐसा कोई प्रश्न कर सकता है। जो है उसका निवारण किया जाय, उसकी स्थापना की जाय और जो है ही नहीं, उसकी स्थापना भी क्या? और निवारण भी क्या? वहाँ भी यह शङ्का रखी जा सकती है। उत्तर यह मिलेगा कि है तो नहीं उस रूप बात, असत्य है—सत् भी नहीं है, लेकिन दूसरा अपनी कल्पनामें उसे मान रहा है तो उस दूसरेके द्वारा माने गए रूपका ही निषेध किया जा रहा है। तो कहीं सत्की ही तरह आरोपित किए गए पदार्थमें ही प्रतिषेधपना सिद्ध किया जाता है अर्थात् है तो नहीं, पर दूसरेने माना है तो दूसरेकी मान्यतामें है उसका निषेध किया जाता है। यदि इस प्रकार असत् बातको निषिद्ध करनेका तरीका ही न हो तब फिर किसी भी पर मतका निषेध नहीं किया जा सकता। इस आरोपित एकान्तका निषेध किया गया इससे इस आगमका भी विरोध नहीं आता। जैसे कहा है कि जो सत् है ऐसे सत्को ही द्रव्यान्तर रूप

से निषेध किया जाता है। सो यहाँ भी इसी तरह आरोपित होकर निषेधकी बात की गई है। अब सम्यक एकान्तमे, स्याद्वाद सम्मत सुनयमे प्रसिद्धरूप सापेक्ष है सो उसकी जब निरपेक्ष रूपसे कल्पना की जाती है तो उसका प्रतिषेध बनता है। प्रयोजन यह है कि सम्यक एकान्तमे तो सापेक्षता है। अब कोई निरपेक्षको नय माने तो उस निरपेक्ष रूपसे आपेक्षित हुआ वह निषेध तो बन गया अतएव उसका निषेध किया जाता है।

अनेकान्तात्मक अर्थको सिद्ध करने वाले साधनवाक्य निर्दिष्ट अनुमान प्रयोगमे हेतु और उदाहरणकी निर्दोषता—इन अनुमान प्रयोगमें जो हेतु दिया गया है कि सर्वथा उसकी अर्थक्रिया न होनेसे, यह हेतु व्यापकानुपलब्धिरूप है अर्थात् समीचीन है। हेतुके जो समीचीन भेद कहे गए हैं उनमे ही भेद है और इस अनुमान प्रयोगमें जो उदाहरण दिया गया है कि आकाश फूलकी तरह तो यह उदाहरण भी सही है और दोनोको मान्य है, क्योकि आकाश पुष्पमे न साध्य है न साधन अर्थात् न उसकी अपनी अर्थक्रिया है न उसका अस्तित्व है, तो अत्यन्ताभाव है वह आकाश फूल। उसको दूसरे लोगोंने भी एकान्त वस्तुरूप नही माना वस्तु ही नहीं है। उसे अर्थक्रिया-कारी भी नहीं माना अतएव यह उदाहरण वादी प्रतिवादी दोनोंको सम्मत है। इस तरह यह भी साधन वाक्य समीचीन है। यो विधिरूप वाक्यमे भी अनेकान्तात्मकरूप सिद्ध हुआ और प्रतिषेधरूप वाक्यसे भी अनेकान्तात्मकरूपकी सिद्धि होती है। अब विशेषरूपसे इसपर विचार कीजिये। सत् एकान्त नहीं है, क्योकि समस्त कारकोंके व्यापारका विरोध होनेसे अर्थात् यदि वस्तु सर्वप्रकारसे सत् ही सत् हो तो वहाँ व्यापार नही हो सकता। कोई पदार्थ कुछ रहा ही नहीं, तो वहाँ व्यापार ही न हो सकेगा। जैसे कि असत् एकान्त। असत् एकान्त है ही नही, तो वहाँ कर्ता जन्य जनक मनरूप व्यापार कैसे सम्भव होगा? तो विशेषरूपसे प्रतिषेध वाक्य द्वारा यह सिद्ध होता है कि सत् एकान्त नही है इसी तरह विशेषरूपसे विधि वाक्य द्वारा यह सिद्ध होता है, वस्तु अनेकान्तात्मक परिणत है क्योकि अर्थ क्रियाकारी होनेसे। जैसे कि प्रधानको माना है। प्रकृति अनेक भेद वाली है और उसके अनेक प्रकारके परिणमन होते हैं, इसी प्रकार प्रत्येक पदार्थ अनेकान्तात्मक स्वरूप है और परिणामी है।

विधिवाक्य और प्रतिषेध वाक्य द्वारा वस्तुके प्रतिनियमन की सिद्धि का निर्णय—उक्त विवरणमे यह सिद्ध किया गया कि विधि वाक्य और प्रतिषेध वाक्य द्वारा वस्तुतत्त्वका प्रतिनियम बनता है अर्थात् पदार्थ है इसकी सिद्धि विधिवाक्य और प्रतिषेध वाक्यसे होती है, क्योकि पदार्थ ही स्वय विधिरूप और प्रतिषेधरूप है। कोई पदार्थ यदि है तो वह अपने स्वरूपसे तो है पर स्वरूपसे नही है। तब स्वरूप दृष्टिमें विधिरूप है और पररूपकी दृष्टिमें प्रतिषेधरूप है। तो जब पदार्थ ही स्वय विधि प्रति-षेधात्मक है तो उसका वर्णन करने वाले वाक्य भी विधि और प्रतिषेध वाक्य दो

प्रकारके होंगे ही, अन्यथा अर्थात् यदि विधिरूपसे और प्रतिषेधरूपसे पदार्थ न हो तो केवल विधिसे या केवल प्रतिषेधसे अर्थ सिद्ध नहीं हो सकेगा। क्योंकि विधि ऐसी कोई है नहीं जो प्रतिषेधसे रहित हो और प्रतिषेध कोई ऐसा है नहीं जो विधिसे रहित हो। तथा प्रतिषेधरहित विधि किसीका विशेषण नहीं बन सकती, किसीका वर्णन नहीं कर सकती और विधिरहित प्रतिषेध किसीका विशेषण नहीं बन सकता और जहां विधि प्रतिषेध दोनों ही न हो वह विशेष्य ही न कहलायेगा। पदार्थ ही नहीं, सत् ही नहीं। जैसे कि आकाशका पुष्प उसकी न विधि है और न प्रतिषेध है। तब यह निश्चय करना कि बुद्धि और प्रतिषेधको गौण और प्रधान रखकर सत् और असत् आदिक वाक्योंमें प्रवृत्ति होती है। यह बात युक्तिपूर्वक सिद्ध हुई, इसी कारणसे सप्तभङ्गीमें जो अन्य भङ्ग हैं उनको पुनरुक्त नहीं कह सकते। प्रथम भङ्गमें स्यात् अस्ति कहा। इसीको ही शङ्काकार कहता है कि इससे ही स्याद् नास्ति सिद्ध हो जाता है, फिर द्वितीय भङ्गको अलगसे वर्णन करनेकी क्या आवश्यकता? सो पुनरुक्तपना नहीं होता, क्योंकि वस्तुतत्त्वका नियम विधिवाक्य और प्रतिषेध वाक्यसे होता है। तो कोई भी भङ्ग यहां पुनरुक्त नहीं है, इन ७ भङ्गोंमें अपनी अपनी पृथक पृथक दृष्टि है। इस तरह सप्तभङ्गी निर्दोष सिद्ध होती है, और जहां सप्तभङ्गी है उसका नाम स्याद्वाद है। स्याद्वादसे वस्तु स्वरूप जाना जाता है। अब यहां कोई ऐसा एकान्त करे कि विधि के द्वारा ही वाक्य वस्तुतत्त्वका वर्णन करता है और यह बात सर्वप्रकारसे एकान्तरूप है। इस एकान्त मतव्यमें अब दूषण देते हैं।

तदतद्वस्तुवागेषा तदेवेत्यनुशासती।
न सत्या स्यान्मृषावाक्यैः कथं तत्त्वार्थदेशना ॥ ११० ॥

वाक्य विधिके द्वारा ही वस्तुतत्त्वको निश्चित करता है, इस एकान्त में दूषणका उपदर्शन— तत् अतत् वस्तुमें वर्तने वाली जो कोई वाणी है उसको यदि तत् ही है ऐसा वर्णन करने वाली ही बताई जावे तो वह सत्य वाणी नहीं है और असत्य वचनोंसे यथार्थ तत्त्वका उपदेश कैसे किया जा सकता है? प्रत्यक्ष आदिक प्रमाणोंका विषयभूत और विरुद्धधर्मका जहां परिज्ञान किया जा रहा हो, वस्तु इस प्रकार अविरुद्ध है। विरुद्ध धर्म होनेपर भी वस्तु अविरुद्ध है यह बात प्रत्यक्षादिक प्रमाणोंसे सिद्ध है तब विधिप्रतिषेधात्मक वस्तुके विरुद्ध कोई कितना ही परिश्रम करके वर्णन करे तो भी वह सिद्ध नहीं होता। वस्तु तत् अतत् रूप ही प्रतीत होता है। जैसे गाय कहा तो वहां गाय पदार्थ गायरूप है और गायको छोड़कर अन्य रूप नहीं है। इस तरह वहां प्रतीति हुआ करती है। विरुद्ध धर्मसे युक्त होकर भी वस्तु अपने स्वरूपसे सिद्ध होता है और उसमें तत् अतत् रूपका ज्ञान होता है तो ऐसा ज्ञान होता यदि स्वयं पदार्थोंके लिए रुचिकर है अर्थात् स्वयं इस ही प्रकारसे जब जाना

जाता है तो उसके विरुद्ध फिर कौन क्या कह सकता है ? तो वस्तुका वर्णन विधि वाक्य और प्रतिषेध वाक्य दोनोंमें होता है। उनमेंसे सदैव ऐसा एकान्तसे वर्णन किया जाय तो ऐसे एकान्तको कहने वाली वाणी मिथ्या ही है क्योंकि जहाँ विधिका एकान्त बताया गया कि पदार्थ सत् स्वरूप ही है तो प्रतिषेधके एकान्तका अभाव नहीं कहा गया जो कि इष्ट है। विधि एकान्त रूप ही माननेपर यही तो ध्वनित होता है कि प्रतिषेध एकान्तरूप नहीं है। तो जब विधिका एकान्त ही किया जा रहा हो, केवल है है का ही वर्णन किया जा रहा हो तो नहीं है ऐसा बताये बिना विधि एकान्त भी तो नहीं बन सकता। यदि प्रतिषेधका एकान्त कहा जाय तो विधि एकान्त नहीं बनता। तो यों विधिके एकान्तमें प्रयुक्त वाणी मिथ्या होती है और मिथ्या वाणीसे पदार्थ स्वरूपकी यथार्थ देशना नहीं बन सकती। तो मिथ्या वाणीके द्वारा पदार्थका उपदेश जब अशक्य है तो विधि या प्रतिषेध कुछ भी एकान्त करनेपर वाक्यका अर्थ नहीं बनता, यह बात भी स्पष्ट सिद्ध हो जाती है। किसी भी वाक्यका अर्थ विधिरूप और प्रतिषेधरूप होता है, यों वाक्यका अर्थ अनेकान्तात्मक अर्थ है। उसे बुद्धिसे और प्रतिषेधसे बोलनेमें ही यथार्थ पद्धति बनती है। अब यहाँ कोई यह एकान्त करे कि प्रतिषेध द्वारा ही वाक्य अर्थको सिद्ध करता है तो यह एकान्त भी ठीक नहीं है। यह अगली कारिकामें बताते हैं :

> वाक्स्वभावोऽन्यवागर्थप्रतिषेधनिरंकुशः ।
> आह च स्वार्थसामान्यं तादृग्वाच्यं खपुष्पवत् ॥ १११ ॥

वचनस्वभावमें अन्यवचनार्थ प्रतिषेधक्षमता—वचनका यह स्वभाव है कि वह अन्यवचनार्थका प्रतिषेध करनेमें समर्थ होता है। जिस वस्तुका प्रतिपादन जिस शब्द द्वारा किया जाता है उस शब्दमें ऐसा ही स्वभाव पड़ा है कि वह वचनोंके अर्थका तो समर्थन करे और अन्य शब्दके अर्थका निराकरण करे तभी वह अपने अर्थका प्रतिपादन कर सकता है। यदि परके अर्थ सामान्यके प्रतिषेधकी अपेक्षा न रखकर केवल एकान्तसे अपने अर्थको कोई शब्द कहना चाहे तो उसे यों कहना चाहिए कि वह आकाश पुष्पकी तरह तत्त्व है। वचनोंमें यह स्वभाव पड़ा है कि वे अपने अर्थ सामान्यका प्रतिपादन करते हुए अन्य वचनार्थका निराकरण करते हैं। जैसे गौ शब्द बोला तो यह शब्द गाय अर्थका प्रतिपादन करता हुआ गायके सिवाय अन्य शब्द जितने हैं उन सब अर्थोंका निराकरण करता है कि यह अन्य शब्दका वाच्य नहीं है। तो यह शब्द अविवक्षित समस्त अर्थोंका निराकरण अपने अर्थका प्रतिपादन करता हुआ ही करता है। वाणी अपने अर्थको नहीं कहती हुई दूसरे अर्थका निराकरण नहीं कर सकती। यहाँ बातें दो हैं—अपने अर्थ सामान्यका प्रतिपादन करना और उससे भिन्न अर्थका निराकरण करना, ये दोनों बातें एक साथ गुंथी हुई हैं, इनमेंसे यदि किसी एक

को न माना जाय तो वह कहना न कहनेकी तरह हो जायगा। वचनोका उच्चारण करना वहाँ व्यर्थ हो जायगा, क्योंकि वचनोका कोई प्रयोजन ही नही रहा। वस्तु है अपने स्वरूपसे है, पर स्वरूपसे नहीं है। अब इसमे एक चीज न मानी जाय तो दूसरी बात भी नहीं ठहरती। फिर कुछ भी विधिका बोलना व्यर्थ हो जायगा। इसी प्रकार शब्द अपने अर्थको बताते हैं और अन्य अर्थका निराकरण करते हैं, इन दो बातोंमेसे कोई एक बात न मानी जाय — मान लो अपने अर्थका प्रतिपादन करता है शब्द यह न माना जाय तो फिर शब्द बोलना किस लिए? अन्य अर्थका निराकरण करता है शब्द यह न माना जाय तब बोलना किस लिए? उस शब्दमे अन्य अर्थ भी भरे पड़े हैं तो वस्तुका परिज्ञान तो नहीं हो सका। तो अपने अर्थ सामान्यको कहना और उससे अन्य भिन्न अर्थका निराकरण करना इन दोनोमेसे यदि किसी भी एकको न माना जाय तो वह वचन वाच्य अर्थ इस रूपसे है या इस रूपसे नहीं है इस तरह विश्वासमें ही न हो सकेगा। यदि शब्दोंका यह स्वभाव न माना जाय कि वे अपने अर्थ सामान्यको कहते हैं और अन्य अर्थका निराकरण करते हैं तो यह प्रतीत न हो सकेगा कि यह पदार्थ इस रूपसे है और इस रूपसे नहीं है; जैसे आकाशफूल, कछुवेके रोम, क्या इनका कोई वर्णन कर सकता है कि ये इस रूपसे हैं, और इस रूपसे नहीं हैं।

सामान्यरहित विशेष और विशेषरहित सामान्यकी असिद्धि होनेसे विधिवाद व प्रतिषेधवादके एकान्तका अनवकाश — सामान्य विशेषका परिहार करके नहीं रहता और विशेष सामान्यका परिहार करके नहीं रहता। किसी भी पदार्थमें, चाहे वह ज्ञानमय पदार्थ हो अथवा ज्ञेयरूप पदार्थ हो, किसी भी पदार्थमें विशेष रहित सामान्य नहीं पाया जाता और सामान्य रहित विशेष नहीं पाया जाता। तो जब पदार्थमें ही विशेषरहित सामान्य नहीं है, सामान्यरहित विशेष नहीं है तब उस प्रकार अभिप्राय बनाकर क्यों अपनेको और दूसरोंको ठगा जा रहा है? वास्तविकता यह है कि वस्तु न केवल विधिरूप है न केवल प्रतिषेधरूप है। इसी प्रकार शब्द न केवल विधिका ही कथन करता है न केवल प्रतिषेधका। इनमेंसे कुछ भी एकान्त माना जाय तो वह टिक नही सकता। प्रतिषेधरहित विधि एकान्तका जैसे पहिले निराकरण किया है उसी प्रकार विधिरहित प्रतिषेध एकान्त भी निराकृत होता है। प्रतिषेध एकान्तमे अन्यापोहवाद आता है। अन्यापोहवादियोंका यह सिद्धान्त है कि शब्द अपने अर्थका प्रतिपादन नहीं करता किन्तु अन्य अर्थका निराकरण बताता है। जैसे गायका अर्थ है अगोव्यावृत्ति अर्थात् जो गाय नहीं है ऐसे समस्त अर्थोंका निराकरण करता है गो शब्द। तो अन्यापोहवाद कहो या प्रतिषेधवाद कहो, विधि नही माना गया किन्तु अन्यका प्रतिषेध ही माना गया। तो ऐसे अन्यापोहैकान्तसे भी वस्तुतत्त्वका प्रतिनियम नहीं बनता। अब अन्यापोहवादियोंके प्रति पुनः कहते हैं —

सामान्यवाग्विशेषे चेन्न शब्दार्थो मृषा हि सा ।
अभिप्रेतविशेषाप्तेः स्यात्कारः सत्यलाञ्छनः ॥ ११२ ॥

अन्यापोहको ही कहने वाले शब्दकी असम्भवता—सामान्य वचन यदि विशेषमें ही प्रयुक्त होवें अर्थात् अन्यपोहको ही कहें तो शब्दार्थ नहीं बन सकता। केवल अन्यापोह बताने वाला वचन मिथ्या है। जैसे कि केवल विधिको ही कहे विशेष को न कहे ऐसे वचन मिथ्या हैं, तो जब केवल विधि मिथ्या है, केवल प्रतिषेध मिथ्या है तब यह निर्णय हुआ कि जो स्याद्वाद है वही सत्य स्वरूपका प्रतिपादन करने वाला है, क्योंकि स्याद्वादके अभिप्राय द्वारा ही इष्ट वस्तुकी प्राप्ति की जा सकती है। कोई एकान्तवादी अस्ति इस प्रकारके सत् सामान्यको केवल अभावके निराकरणमें प्रयुक्त करता है और इस तरह यह विशेषका ही अपोहका ही वर्णन करता है। उनसे यह पूछा जाना आवश्यक है कि अपोहका अर्थ क्या है ? क्या अन्य व्यावृत्तिका नाम अपोह है या अन्यापोहसे जो विकल्प किया जाता है उसका नाम अपोह है ? यदि कहें कि परसे व्यावृत्त होनेका नाम अभाव है अथवा अन्यका अपोह है तो जो शब्द केवल परसे व्यावृत्त ही निरूपित करते हों तो वे अभावका भी प्रतिपादन कैसे कर सकते हैं ? अन्यका अभाव है, यहाँ है का वर्णन कैसे कर देगा ? जब अन्यापोहमें यह आग्रह किया गया कि वह अन्यका निराकरण ही करता है, किसी भी बातको विधिरूपसे नहीं कहता तो अभाव है, ऐसे अभावकी विधि कैसे बतायेगा ? और, जब अन्यापोह किसी भी प्रकार भावका वर्णन नहीं कर पाता तो वह कथन तो नहीं कहनेके समान ही हो गया। जब किसी शब्द द्वारा हम किसीका सद्भाव न जान सके तो उस शब्दके बोलनेसे फायदा क्या हुआ ?

अन्यापोहरूपसे विकल्पके होनेको ही शब्दका वाच्य माननेपर बनने वाली विडम्बनाका दिग्दर्शन—अब शङ्काकार कहता है कि यदि अन्य व्यावृत्ति अपोह है यह लक्षण नहीं बनता तो दूसरा पक्ष मान लीजिये। अर्थात् अन्यापोहरूपसे विकल्प होनेका नाम अन्यापोह है अपोह है, क्योंकि वह विकल्प ही है, मिथ्या अभिप्राय है। इस कारणसे अपोहका यह दूसरा अर्थ मान लीजिए कि अन्यापोहरूपने विकल्प होनेका नाम अपोह है। तो समाधानमें कहते हैं कि यदि विकल्पका ही नाम अपोह है जो कि मिथ्या अभिप्रायरूप है तो ऐसे वचन अन्यापोहके विकल्पको ही उत्पन्न करें, किन्तु किसीका वर्णन न करें। जो शब्द मिथ्या विकल्पका कारणभूत हो वह वस्तुतत्त्वका प्रतिपादन नहीं कर सकता। जैसे कि मृषा वचन। जो मृषा वचन हैं असत्य वचन हैं वे वस्तुतत्त्वका प्रतिपादन नहीं कर सकते। तो जब अपोह केवल अन्यापोहके विकल्पको ही करता, तब मिथ्या विकल्पको ही तो किया, वस्तुतत्त्वका प्रतिपादन तो नहीं किया, इस कारण शब्दका अर्थ अन्यापोह सिद्ध नहीं होता। और

इसी कारण अन्यके निराकरणमे ही प्रवृत्ति हो ऐसा शब्द मृषा ही होगा, सत्य नहीं हो सकता है।

स्याद्वादकी सत्यलाञ्छनता—शब्दमें यह स्वभाव है कि वह अपने अर्थ सामान्यका प्रतिपादन करता हुआ अन्य अर्थका निराकरण करता है। तो वचन ही स्वयं अनेकान्त अर्थका प्रतिपादन करने वाला है। तब यह निर्णय रखना चाहिए कि स्याद्वाद ही सत्य है और उस स्याद्वाद शैलीसे ही अपने माने गए अभिप्रायमे आये हुए अर्थ विशेषकी प्राप्ति की जा सकती है। जितने भी लोग हैं, जो किसी पदार्थकी प्राप्तिके लिए प्रवृत्ति करते हैं वे किसी भी वचनसे अपने अभिप्रायमे आये अर्थको प्राप्त करते हैं। तब यह निर्णय बनाते हैं कि पदार्थ अपने स्वरूपसे सत हो, ऐसे ही इष्ट प्रकार सद्भूत अर्थको अभिप्रायमे रखकर वे प्राप्त करते हैं, किन्तु पररूपादिकसे असत् है इतना ही मात्र प्रतिपत्ताका अभिप्रेत नहीं होता। पर रूप रूप नहीं है, इस तरह समझकर प्रवृत्ति नहीं किया करते लोग। वस्तुको ग्रहण करना है, किन्तु अन्यकी व्यावृत्तिको ग्रहण नहीं करना है। यद्यपि अन्यकी व्यावृत्तिरूप वस्तु है मगर ग्रहण करने वालेका अभिप्राय तो विधिरूप पदार्थके विषयमे होता है। पदार्थ अपने स्वरूपसे है पर रूपसे नहीं है। यदि पदार्थ स्वरूपकी तरह पररूपसे भी सत् बन जाय तो सारे ही पदार्थ अभिप्रेत हो जायेंगे। एक शब्दके द्वारा फिर सारा विश्व कह दिया गया यो मानना पड़ेगा तो फिर किसी एक अर्थकी प्राप्ति करनेका कोई साधन न रहेगा। यदि पदार्थ जैसा कि पररूपसे नहीं है, यदि स्वरूपसे भी न हो, स्वरूपसे असत् हो जाय तब तो सभी पदार्थोंका परिज्ञान नहीं हो सकता। फिर जिस किसी भी पदार्थको जानेका अभिप्राय ही समाप्त हो जायगा। तब जानना चाहिए कि स्याद्वाद ही सत्य है, अन्यवाद वस्तु स्वरूपका वर्णन नहीं कर पाता है।

विधेयमीप्सितार्थाङ्गं प्रतिषेध्याविरोधि यत् ।
तथैवादेयहेयत्वमिति स्याद्वादसंस्थितिः ॥ ११३ ॥

प्रतिषेध्याविनाभावी विधेयकी अभीष्टार्थक्रियाकारणता—जो विधेय अर्थात् अस्ति आदिक शब्दका वाच्यभूत अर्थ प्रतिषेध्यका अविरोधी हो अर्थात् नास्तित्वका अविनाभावी हो, वही इष्ट अर्थ क्रियाका कारण होती है और इसही प्रकार अर्थात् प्रतिपक्षका अविरोध होकर आदेयपना और हेयपना बनता है। इस तरह स्याद्वादकी स्थिति है। जैसे अस्ति आदिक शब्द द्वारा जो भी विधेय हो, जिसका कि सद्भाव मूलमें रखा गया हो वह ही तो, किया करता है। कुछ भी काम करना हो, समझना हो, पाना हो या जो भी अर्थक्रिया हो जिस पदार्थमें उस पदार्थका सद्भावात्मक परिज्ञान किया जाय तब ही जो किया जायगा, क्योंकि विधेयमें [illegible] इतना ही

लक्षण है सभी जगह। कुछ भी क्रिया करना हो तो अस्तिसे क्रिया चलती है। कुछ हो सद्भावात्मक, जिसके अविभाग प्रतिच्छेद बनें, डिग्रियाँ बनें जिसकी न्यूनता अधिकतामे प्रतीति हो ऐसे विधेयसे ही अर्थक्रिया बनती है। यदि कोई पुरुष मालिकके भयसे मन न होनेपर भी किसी कार्यको करे तो उस कार्यको विधेय नही कहते। बिना अभिप्राय किए यदि कार्य किया जाता है तो वह विधेय नहीं कहलाता, अन्यथा अर्थात् अभिप्रायका न होनेपर भी कार्यको मान लिया जाय कि विधेय है यह इसने योग्यको किया है, तो वीतराग पुरुषकी भी जो क्रिया हो जाती है वह भी विधेय कहलायगी। और विधेय होनेपर फिर उनके कर्मबन्धका प्रसग होगा। सशरीर परमात्माका जो विहार होता है, दिव्यध्वनि खिरती है वह मनके विना अभिप्रायके बिना होती है तो बिना अभिप्रायके कार्यके हो जानेको विधेय मान लिया जाय तो वहाँ भी कर्मबन्ध हो जाना चाहिए अथवा लोकापवाद हो जायगा कि लो कहाँ वीतरागता रही? जान जान कर अभिप्राय करके तो ये कार्य किए जा रहे हैं। तो विना अभिप्रायके किसी कार्यके किए जानेको विधेय मान लेनेपर आपत्तियाँ हैं अत अभिप्राय पूर्वक जो किया जाता है उसे ही विधेय कहते हैं।

अनभिप्रेतके विधेयत्वका अभाव—जैसे अनभिप्रेत विधान विधेय नही बन जाता इसी प्रकार अभिप्राय तो किया पर उस कार्यको न कर सके तो इतने मात्रसे वह कार्य अविधेय न बन जायगा कि वह विधेय नहीं होता। अरे उस कार्यके किए जानेकी योग्यता तो है। विधेयका अर्थ ही यह है कि जो विधान किया जाने योग्य हो सो विधेय है। तो योग्यता मात्रसे विधेयता सिद्ध होती है अन्यथा अगर किए जाने योग्यकी वात न हो तो उसका किया जाना अनर्थक हो जायगा। अयोग्यका किया जाना सार्थक नहीं है, विवेक नही है। इसी प्रकार यह भी समझना चाहिए कि जो अभिप्राय शून्य पुरुष हो और कुछ भी न कर सकता हो तो ऐसे निष्क्रिय प्रभुका न कुछ विधेय है न कुछ हेय है, क्योंकि अभिप्राय करके कुछ विधान और त्याग नही है अतएव वह वर्तता उपेक्षामात्र ही सिद्ध होती है। किन्तु जो अभिप्राय सहित पुरुष हैं उनको कुछ विधेय कहा जाता है, करनेका मनमे भाव हो, राग हो तो ऐसे पुरुषके ही विधेयपनेकी बात कही जाती है।

स्वार्थज्ञानवत् विधिप्रतिषेधकी अन्योन्य अविनाभाविता—अस्ति आदि का वाच्यभूत कुछ भी विधेय नास्तित्व आदिकसे अविरुद्ध होता है। कुछ भी परिणति होती है करनेकी। तो जिस पदार्थका जो कुछ कर्तव्य है वह पदार्थ विधिप्रतिषेधात्मक है। तो प्रतिषेध्योंके प्रतिबन्धके साथ ही वह इष्ट अर्थ क्रियाका कारण होता है अन्यथा वह इष्ट अर्थ क्रियाका कारण न बनेगा, क्योंकि विधि और प्रतिषेध इन दोनोमे अन्योन्य अविनाभाव है। विधि न हो तो प्रतिषेध न बन सकेगा, प्रतिषेध न

हैं तो विधि न बन सकेगी। जैसे कि स्वार्थज्ञान। स्व और अर्थका ज्ञान इन दोनोमे परस्पर अविनाभाव है। यदि स्वका ज्ञान नहीं हो पाता तो वहाँ पदार्थका ज्ञान नहीं है और पदार्थका ज्ञान नहीं है तो वहाँ स्वका भी ज्ञान नहीं है, स्वके ज्ञानसे मतलब ज्ञानी अन्तरात्मा न लेना किन्तु साधारणतया ज्ञानमे यह प्रकृति ही है कि वह अपनेका और परका निश्चय करने वाला होता ही है। कुछ भी बाह्य वस्तुका विषय निर्णय किया तो बाह्य वस्तु यह इस प्रकार है, उसमें जो ठीकपनेका निश्चय किया जाता उसके साथमें निश्चय करने वाले जीवके यह भी चित्तमे बैठा हुआ है, कि यह ज्ञान हमारा ठीक है। पदार्थ यो है और तद्विषयक ज्ञान सही है। तो ज्ञानका भी निश्चय है और बाह्य पदार्थोंका भी निश्चय है। यो समझिये कि बाह्य पदार्थोंका जो प्रतिभास होता है वह वहाँ ही तो होगा जहाँ चेतना है। तो वस्तुत. तो अपना ही ज्ञान हुआ है वहाँ पर पदार्थका आकार झलका है। वहीं भेद करके कहा जाता है कि स्वका ज्ञान किया और पदार्थोंका ज्ञान किया। तो इन दोनोके बीच अन्योन्य अविनाभाव है। स्वज्ञानके बिना अर्थज्ञान नहीं बन सकता, जैसे घट पट आदिक पदार्थ। इनमे स्वका स्वयं ज्ञान नहीं है, तो यह अर्थका ज्ञान भी नहीं कर सकता। स्वका ज्ञान होने पर ही अर्थका ज्ञान होता है।

सर्वज्ञके स्वार्थज्ञानवत् विधिप्रतिषेधको अन्योन्य अविनाभाविता— सर्वज्ञका ज्ञान भी देखिये। सर्वज्ञ ईश्वरके भी स्वके ज्ञानका अभाव नहीं है और सर्वका ज्ञान हो रहा है। यदि स्वके ज्ञानका अभाव हो प्रभुके तो उसमें सर्वज्ञता भी नहीं रह सकती। इसीलिये नय विभाग पूर्वक यह वर्णन चलता है कि प्रभु निश्चयसे तो आत्मज्ञ है और व्यवहारसे सर्वज्ञ है। सब पदार्थोंका जो प्रभुके ज्ञान हुआ है सो प्रभु तो ज्ञानस्वरूप है, अपने आत्मप्रदेशोमें ज्ञानमय है, वहाँ ही ज्ञानक्रिया हुई है, उसमें समस्त लोक विषयभूत हुआ है, ऐसा ज्ञान होनेसे निश्चयसे तो स्वका ही ज्ञान हुआ और चूँकि विशेष हुए समस्त पदार्थ तो उन समस्त पदार्थोंका नाम लेकर जो ज्ञानकी बात कही जाती है वह व्यवहारसे कही जाती है। इस व्यवहारका मतलब असत्य नहीं जाने तो सभी पदार्थ गए लेकिन सब पदार्थोंमें यह ज्ञान जा जाकर आत्मप्रदेश छोड कर उन पदार्थोंमें प्रवेश करके नहीं जानता, इस कारणसे उसको व्यवहार संज्ञा है। वस्तुत. तो स्वका भी ज्ञान हुआ और सर्वपदार्थ विषयक भी ज्ञान हुआ, तो जैसे वहाँ स्वके ज्ञान बिना सबका ज्ञान नहीं हो सकता, ऐसे ही सबका ज्ञान बिना स्वका ज्ञान नहीं होता। जैसे दर्पण है, उसमें स्वच्छता है तो उसकी निजकी स्वच्छताकी व्यक्ति बाह्य पदार्थके झलकावपर ही चलती रहती है। उस दर्पणको कहीं रख दिया जाय, जो सामने हो उसका ही प्रतिभास करने लगा। कपड़ेमें बाँधकर रखें तो कपड़ेकी छाया उसमें आ जायगी अथवा किसी सन्दूकके अंदर रखें तो सन्दूकके पल्लेकी छाया आ जायगी। कुछ भी चीज सामने न हो तो जैसा जो कुछ भी सामने होगा, सूक्ष्म

चीज, सरल स्वच्छ, उसी स्वच्छका प्रतिभास हो जायगा। ऐसे ही ज्ञानस्वरूपका क्या है कि कुछ भी तो ज्ञेयाकार बन ही रहा है। ज्ञेयाकार प्रतिभास बिना स्वयका ज्ञान क्या होगा ? तो पदार्थोंके ज्ञान बिना स्वका भी ज्ञान नही बनता। तो जिस तरह स्वके ज्ञान और पदार्थोंके ज्ञानमें परस्पर अविनाभाव है इसी प्रकार विधि और प्रतिषेधमे परस्पर अविनाभाव है।

विधेय और प्रतिषेध्यमें अविनाभाविता—अथवा विधेय और प्रतिषेध्य का परस्पर अविनाभाव है, यह कार्य विधेय है, करने योग्य है, इसमे ही यह बात आयी कि इसके विरुद्ध अन्य कार्य विधेय नही है वे प्रतिषेध्य हैं यह पदार्थ अमुक स्वरूप रूप है, इसका अर्थ यह है कि इसके विरुद्ध स्वरूप इसमें नहीं है। तो विधि और प्रतिषेध जैसे ये परस्पर अविनाभावी हैं इसी प्रकार विधेय भी प्रतिषेध्यका अविनाभावी है और जैसे विधेय प्रतिषेध्यको अविरोधी सिद्ध किया गया है और बताया गया है कि वह अर्थक्रियाका कारणभूत हैं तो ऐसे ही समझना चाहिए कि प्रतिषेध्यका अविरोधी विधेय होनेपर ही तो वस्तुकी आदेयता और हेयता बनती है। यदि विधेय एकान्त ही माना जाय सब कुछ करने योग्य ही है, सब कुछ अस्तित्वका वाच्य ही है, तब फिर किसी भी पदार्थमें हेयपना न रहा, फिर कुछ हटाने योग्य भी नहीं है कोई व्यावृत्तिके योग्य न रहा। इसी प्रकार यदि प्रतिषेध्यका एकान्त कर लिया जाय कि सब कुछ निराकरणके योग्य है, केवल अन्यापोह ही मान लिया जाय तो फिर कुछ भी चीज आदेय न रहेगी, ग्रहण करने योग्य फिर कुछ न रहा विधेयका अभाव हो जायगा ऐसा भी नही है कि कोई सर्वथा विधेय ही हो और कोई सर्वथा प्रतिषेध्य ही हो, जैसे कि कोई निरपेक्ष उभयात्मक मानले, ऐसा होनेपर भी आदेयपना और हेयपना नहीं बन सकता। जो पदार्थ सर्वथा विधेय है उसमे प्रतिषेध्यका तो निराकरण कर दिया, प्रतिपक्ष वहाँ नही माना गया। तो जैसे विधेय एकान्तमे दोष आता था वही दोष यहाँ आया। यदि किसी वस्तुको सर्वथा प्रतिषेध्य माना जाय, केवल अन्यापोह ही माना जाय तो वहाँ भी विधेयका विरोध तो हो गया वहा कुछ हेयपना न रहा।

सप्तभङ्गीके आश्रयसे स्याद्वाद पद्धतिसे विधि प्रतिषेधात्मक अर्थकी सिद्धि होनेसे जिनवाणीकी युक्तशास्त्राविरोधिता प्रसिद्ध होनेके कारण जिनेन्द्र प्रभुकी निर्दोषता—विधि और प्रतिषेधमें कथंचित् तादात्म्य माना गया है। इस कारण जब कि प्रतिषेध्यको अविरोधी विधेय माननेपर आदेयपना और हेयपना सिद्ध होता है, तब सिद्ध होता है कि वस्तु विधि प्रतिषेधात्मक है और स्याद्वादके द्वारा ऐसी ही वस्तु सिद्ध होती है और वहाँ सप्तभङ्गीके आधारसे ऐसा ही स्याद्वाद प्रसिद्ध किया जाता है। जैसे कि विधेय नाम है अस्तित्व आदिक विशेषका जिसका अर्थ यह हुआ कि यह अपने स्वरूपसे विधेय है, प्रतिषेध्य स्वरूपसे विधेय नही है। तो यों

विधेय सिद्ध हो गया, विधेय और प्रतिषेध्यके बीच भी स्याद्वाद और सप्तभङ्गीका प्रयोग बनता है, इसी प्रकार प्रतिषेध्यको भी सिद्ध करिये। यह विधेय स्वरूपसे विधेय है पररूपसे प्रतिषेध्य है, पर प्रतिषेध्य स्वरूपसे प्रतिषेध्य नहीं है, तब यहाँ भङ्ग बना, वस्तु स्यात् विधेय है, स्यात् प्रतिषेध्य है। तब समझना चाहिए कि जीवादिक पदार्थ भी स्यात् विधेय है स्यात् प्रतिषेध्य है। अस्तित्वादिकका वाच्य जो पदार्थ है वह ही अन्य स्वरूपसे प्रतिषेध्य है। वस्तु सद्सदात्मक है। इस प्रकार सप्तभङ्गोंके आश्रयसे जो स्याद्वाद प्रकरणमें चल रहा है उसको भली प्रकार सिद्धि होती है। यों सब पदार्थोंमें विधेय और प्रतिषेध्य अथवा विधि प्रतिषेधात्मककी सिद्धिमें न तो युक्तिसे विरोध है और न शास्त्रोंसे विरोध है। जैसे भावैकान्तमें विरोध आता था युक्तिसे भी और आगमसे भी वह विरोध अनेकान्तके आश्रयमें नहीं होता। इसीसे यह बात कही गई कि हे प्रभो! तुम ही निर्दोष हो, क्योंकि युक्ति और शास्त्रसे अविरुद्ध बात आपकी है।

आप्तमीमांसा मूल वक्तव्य प्रभुनिर्दोषताकी सिद्धिका निर्वाह करके ग्रन्थकारकी हार्द प्रकाशनके लिये अन्तिम वक्तव्यकी सूचना—इस आप्तमीमांसा ग्रन्थमें वक्तव्य मूल विषय यह था जो तत्त्वार्थ महासूत्रके मंगलाचरणमें कहा गया कि मोक्षमार्गके नेतावो, कर्म पहाड़के भेदने वालेको और विश्व तत्त्वके जानने वालेको उन गुणोंकी प्राप्तिके लिए मैं नमस्कार करता हूँ, तो यहाँ यह जिज्ञासा हुई कि ये ही प्रभु क्यों वंदनीय हैं? तो ऊहापोह पूर्वक यह निर्णयमें आया कि प्रभु ही वंदनीय हैं क्योंकि वे निर्दोष हैं, ज्ञानावरण आदिक द्वेष, रागद्वेषादिक दोष जहाँ नहीं रहे वहाँ ही वन्दनीयता होती है। रागादिक दोष नहीं रहे इस कारण वे वीतराग कहलाते हैं, ज्ञानावरण आदिक दोष नहीं रहे अतः वे प्रकट सर्वज्ञ हैं। जो सर्वज्ञ और वीतराग आत्मा है ऐसे परम आत्मा ही वन्दनीय हैं। फिर इस विषयमें भी यह जिज्ञासा उठाई गई कि वीतराग सर्वज्ञ आत्मा ही निर्दोष है, यह कैसे जाना कि यह ही निर्दोष है? उसके समाधानमें हेतु दिया था कि युक्ति और शास्त्रके अविरुद्ध वचन होनेसे। तब यह होना प्राकृतिक है कि कैसे समझा जाय कि प्रभुके वचन युक्ति और शास्त्रसे अविरुद्ध हैं, जिनके कि विस्तारमें इन ग्रन्थोंका फैलाव हुआ है। यहाँ प्रतिलोम प्रक्रियासे भी वर्णन करना पड़ा कि अन्य वचन युक्ति और शास्त्रसे विरुद्ध होते हैं और अनुलोम प्रक्रियासे भी वर्णन किया गया कि प्रभुके वचन यह स्याद्वाद वाणी युक्ति और शास्त्रसे अविरुद्ध हैं। तो यों युक्ति और शास्त्रसे विरोध रखने वाले वचनोंका वर्णन और युक्ति और शास्त्रसे विरोध न रखने वाले सिद्धान्तका भी वर्णन किया गया। यहाँ तक जो समन्तभद्र स्वामीको कहनेकी बात थी उसका निर्वाह किया है। तब उसके फलकी बात कहते हुए अब ग्रन्थकार अन्तिम कारिका कहते हैं।

इतीयमाप्तमीमांसा विहिता हितमिच्छताम्।
सम्यग्मिथ्योपदेशार्थविशेषप्रतिपत्तये ॥ ११४ ॥

हिताभिलाषी भव्यजनोंके लिए सम्यक् मिथ्या उपदेशके विषयभूत अर्थविशेषकी जानकारीके लिए आप्तमीमांसाकी रचना—इस प्रकार हित चाहने वाले पुरुषोंके प्रति आप्तमीमांसा ग्रन्थकी रचना अथवा आप्तकी मीमांसा की गई किस प्रयोजनके लिए कि सम्यक उपदेश और मिथ्या उपदेशका अर्थविशेष जान लिया जाय। यह ज्ञान करनेके लिए कि यह उपदेश तो समीचीन है और यह उपदेश मिथ्या है, इस उपदेशके अनुसार चलनेपर आत्महित होगा और इस उपदेशके अनुसार चलने पर आत्माका अहित होगा। यह ज्ञान करानेके लिए आप्तमीमांसा नामक ग्रंथकी रचना की है। इस ग्रन्थका नाम आप्तमीमांसा है, किन्तु देवागम इस शब्दसे इस ग्रन्थ का आरम्भ हुआ है, इस कारण इसका द्वितीय नाम देवागम स्तोत्र है। इसमें १० परिच्छेद हैं। इस समग्र ग्रन्थका वर्णन स्वपर हितके लिए किया गया है। अथवा सम्यक मिथ्या उपदेशकी प्रतिपत्तिके लिए परमहित चाहने वाले पुरुषोंके लिये यह आप्तकी मीमांसा की गई है। अर्थात् आप्तकी मीमांसा अथवा सर्वज्ञकी विशेष परीक्षा हित चाहने वाले अर्थात् मोक्षके अभिलाषी पुरुषोंके लिए आचार्य समन्तभद्र स्वामीने इसकी रचना की है।

हितरूप मोक्ष व मोक्षमार्गके अभिलाषी जनोंके लिये हितेच्छु सतकी परमकरुणारूप प्रवृत्तिमे आप्तमीमांसाकी रचना—हित मुख्यतासे मोक्षमें ही है। संसारकी सर्व स्थितियोंमे दुःख अहित और पतन ही भरा हुआ है। सर्व कर्मोंसे मुक्ति और देहसे छुटकारा होनेपर आत्माका जो कैवल्य प्रकट होता है वही इनके लिए हित-रूप है। और मोक्षमार्गका कारण होनेसे रत्नत्रयका हित स्वरूप कहा जाता है। इस लोकमें करने योग्य कार्य एक रत्नत्रयका लाभ ही है, क्योंकि रत्नत्रय परम हितका उपाय है। उस रत्नत्रय अथवा मोक्षकी इच्छा रखने वाले भव्य जीवोंको ही यह आप्त की मीमांसाका प्रयोजनवान है। जो रत्नत्रयकी अथवा मोक्षकी इच्छा नहीं रखते ऐसे अभव्य पुरुषोंको इस मीमांसाका कोई उपयोग नहीं है, क्योंकि उनकी रुचि ही सांसा-रिक भावोंमें लगी हुई है। यह तत्त्व है, यह अतत्त्व है, यह हित है यह अहित है, इस परीक्षामें भव्योंका ही अधिकार है और भव्यपना होनेपर ही मोक्षके कारणोंका अनु-ष्ठान किया जा सकता है और इससे मोक्षकी प्राप्ति बनती है। तो यह कारिकामें ठीक ही कहा गया कि हित चाहने वाले पुरुषोंके लिए यह आप्तकी मीमांसाकी गई है, यह आप्तमीमांसा समन्तभद्राचार्यने किस प्रयोजनके लिए की है यह भी इस कारिका मे बताया गया है। सम्यक और मिथ्या उपदेश तथा अर्थ विशेषकी जानकारीके लिए यह आप्तमीमांसा रची गई है। सम्यक और मिथ्या उपदेशकी छांट जब जीवको हो

जायगी तो वह मिथ्याको त्यागकर, सम्यक उपदेशको ग्रहण करेगा। ऐसा समझकर चूं कि आचार्य अथवा सभी ऋषी संतजन दूसरोके हित करनेमे प्रवीण होते हैं। इस कारण इस उपदेश और अर्थ विशेषकी जानकारीके लिए आप्त मीमांसा ग्रन्थकी रचना हो गई। आचार्यदेव ऋषी संत जन मंदकषाय स्वपर हितके अभिलाषी हितके करनेकी प्रीति रखते हैं और सम्यग्दर्शनके होनेपर जो विशुद्ध वृत्ति होती है उसकी, उस पर्याय में परम कारुण्यकी प्रवृत्ति होती है। ऋषी संत जन परमागममे वात्सल्य भी रखते हैं और जिनके वचन प्रमाणीक हैं ऐसे संतजनोमे वात्सल्य रखते हैं ऋषीसंतजन शुद्ध मार्गकी प्रभावनाके लिए भी तत्पर रहते हैं, अतएव यह अर्थ विशेषकी जानकारीके लिए रचना हुई है, ऐसे विशुद्ध विचारमें रहकर ऋषीसंतजन विरोधी विषय कषायोंके विभावोंसे छुटकारा पाते हैं और अपने आत्माके ध्यानमे आकर कभी परम आर्हन्त्य लक्ष्मीकी प्राप्ति हुई वही वास्तविक आत्माके प्रयोजन सम्पत्तिकी सिद्धि हुई समझना चाहिए।

सत्य मोक्षमार्गके उपदेशकी सम्यग्र पता—यह आप्तमीमांसा सम्यक उपदेश और मिथ्या उपदेशकी जानकारीके लिए की है तो संक्षेपमे यहाँ यह जानना कि सम्यक उपदेश क्या है और मिथ्या उपदेश क्या है? सम्यक उपदेश वह है जिसके अनुसार चलनेपर जीवोंको कल्याण लाभ होता है और सदाके लिए संकटोसे छुटकारा होता है तो वह सम्यक उपदेश है सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान सम्यक चारित्र मोक्षका मार्ग है, क्योंकि इन तीनोमे से किसी एकके भी अभाव होनेपर मोक्षकी उपपत्ति नहीं बनती। सम्यग्दर्शन जीवादि तत्त्वोंके यथार्थ श्रद्धानको कहते हैं। आत्माके सहज स्वभावकी प्रतीतिको सम्यक्त्व कहते हैं। और समस्त पर भिन्न हैं अतएव उनसे उपेक्षा होना और स्व स्व है, अपरिहार्य है, हितरूप है, शाश्वत है अतएव वहीं विराम हो, इसको सम्यक चारित्र कहते हैं। इसमें सर्वप्रथम सम्यक्त्व लाभकी बात कही गई है, पर सम्यक्त्वकी उत्पत्तिके साथ ही सम्यग्ज्ञान और किसी न किसी अंशमें सम्यक चारित्र उत्पन्न होता है लेकिन सम्यक्त्वकी पूर्णता पहिले होती है, सम्यग्ज्ञानकी पूर्णता इसके पश्चात होती है, जिस पूर्णतामे सम्यक चारित्रका महा सहयोग है फिर सम्यक्चारित्रकी परिपूर्णता अंतमें होती है। जहाँ तीनों परिपूर्ण हो गए वहाँ मुक्ति प्राप्त होती है, वही परम निश्रेयस है। तो सम्यक उपदेश है मोक्षमार्गका अर्थात् उपदेश और मिथ्या उपदेश है उसके विरुद्ध उपदेश। मिथ्यात्वका, मिथ्याज्ञानका, मिथ्या चारित्रका उपदेश है अथवा सिर्फ ज्ञानसे ही मोक्ष है आदिक उपदेश भी मिथ्या उपदेश है। जो आगम और प्रत्यक्षसे विरुद्ध निर्णीत हो वह सब मिथ्या उपदेश है। तो इस उपदेशका अर्थ विशेष भी सम्यक और मिथ्या दो प्रकारसे है, अथवा सम्यग्दर्शन आदिकका प्रयोजन सम्यक है, मिथ्यादर्शनका प्रयोजन सम्यक है —

प्रकार मोक्षमार्गकी भावना विशे। म्यक है मिथ्यात्वकी भावना

विशेष या वध मार्गकी भावना असम्यक है। इन सब बातोंका सही ज्ञान बने इसके लिए यह आप्तकी मीमांसा रची गई है।

सम्यक् अर्थप्रतिपत्तिका निर्देशन—इस कारिकामें प्रतिपत्ति शब्द दिया गया है जो शब्द ऐसा व्यापक है कि वह श्रद्धान, ज्ञान, आचरण इन तीनोंका निर्देशन करता है, अर्थविशेषके उपादेयरूपसे और हेयरूपसे श्रद्धान होना, सो प्रतिपत्ति है अथवा उस अर्थ विशेषका उपादेयरूपसे और हेयरूपसे परिज्ञान होना ज्ञान है, अध्यवसाय है और उस ही अर्थ विशेषका उपादेयरूपसे और हेयरूपसे आचरण होना सम्यक चारित्र है, तो ऐसे सम्यकमिथ्यात्व उपदेशके अर्थ विशेषकी प्रतिपत्तिके लिए यह आप्त मीमांसा रची गई है।

मोक्षमार्गनेतृत्वके अधिकारीका अभिनन्दन—जिस महाशास्त्रकी टीकाके लिए समतभद्राचार्यका यत्न हुआ था उस शास्त्रमें मंगलाचरणका अर्थ स्पष्ट करनेके लिए यह प्रयत्न हुआ है जिसमें आप्तमीमांसा बनी है। शास्त्रके प्रारम्भमें जिस आप्त का स्तवन किया है वह स्तवन तीन विशेषणोंमें किया गया है। मोक्ष मार्गके वे प्रणेता हैं, कर्मपहाड़के वे भेदने वाले हैं और समस्त तत्त्वोंके जानने वाले हैं। इस स्तवनको अन्य योग व्यवच्छेदसे वर्णित करनेपर विधेय दृढ़तासे जगती है। वीतराग सर्वज्ञ ही मोक्षमार्गके प्रणेता हैं अन्य कोई नहीं। जो वीतराग नहीं, सराग हैं वे मोक्षमार्गके प्रणेता अधिकाररूपमें नहीं हो सकते। भले ही रागसहित पुरुष भी मोक्षमार्गका उपदेश करते हैं किन्तु वे वीतराग सर्वज्ञकी परम्परामें ही उपदेश करते हैं। जो वीतराग है उसको मिथ्या उपदेश करनेका कोई प्रयोजन नहीं रहता। साथ ही वीतराग है और सर्वज्ञ है सो सर्व कुछ जान लेनेके कारण किसी भी विषयमें उनका व्यामोह नहीं है। तब मोक्षमार्गका शुद्ध प्रणयन वीतराग सर्वज्ञदेव द्वारा ही सम्भव है। जो मोक्षमार्गके प्रणेता हैं वे ही निर्दोष प्रभु हैं, जो कर्मभूभृतके भेदने वाले हैं वे ही प्रभु निर्दोष हैं अन्य कोई नहीं। जो कर्ममें व्यापार करते हैं, कर्मबन्धन किया करते हैं ऐसे आत्मा निर्दोष वीतराग सर्वज्ञ नहीं हो सकते। विश्वतत्त्वके ज्ञाता ही भगवान अरहंत सर्वज्ञ हो सकते हैं। जो विश्वतत्त्वका ज्ञाता नहीं उसका उपदेश सम्यक ही हो यह नियम नहीं लग सकता। यद्यपि भगवान वीतराग सर्वज्ञदेवका उपदेश भव्य जीवोंके भवितव्य से होता है, वे स्वयं अभिनय रहित हैं, क्योंकि कैवल्य उत्पन्न हुआ है फिर भी भव्य जीवोंके भाग्यसे और उनके वचन योगसे जो दिव्यध्वनि उपदेश होता है उसकी परम्परा से ही गणधर और आचार्यजन व्याख्यान करके अपना और पर जीवोंका हित किया करते हैं। इसी प्रकार आचार्यदेवका यह अन्तिम आशीर्वाद है अथवा अपने अभिप्रेत अर्थका निवेदन है जैसा विचार कर और उनकी इस करुणाका और परिश्रमसे लाभ उठाकर हित करना कर्तव्य है।

ऋषि संतोंके उपदेशोंसे ज्ञानप्रकाश पा लेनेमें उनके प्रति अपनी वास्तविकताकी कृतज्ञता—मोक्षशास्त्रके रचयिता विश्ववंद्य उमास्वामीने जो तत्त्वार्थ महाशास्त्रका प्रणयन किया है वह सत्यरूपमे मोक्षके मार्गको दिखाता है । इस ही महाशास्त्रके मङ्गलाचरणके विवरणमे सम्यक मिथ्या तत्त्वकी प्रतिपत्तिके लिए आप्त की परीक्षा करते हुए यथार्थ तत्त्वदर्शन कराया गया है । जब तक जीवादिक पदार्थों का यथार्थ श्रद्धान न हो—मैं जीव हूं, मेरेसे भिन्न ये कर्म, ये शरीर, ये जीव हैं अथवा न कर्मोंके उदयसे उत्पन्न हुए विकार भाव अजीव हैं । मैं अजीवरूप नहीं किंतु जीव स्वरूप हूं, ऐसा भाव जब तक ज्ञानमे नहीं आता, तब तक आस्रव और बंधसे छुटकारा नहीं होता । आस्रव और बंधसे छुटकारा होनेका ही नाम सम्वर और निर्जरा है । सम्वरपूर्वक होने वाली निर्जरा मोक्षकी प्राप्तिका अमोघ उपाय है । यह सब तत्त्वज्ञान के प्रसादसे होता है, अतएव इस आप्तमीमांसा ग्रन्थमे निर्दोष प्रभु वीतराग सर्वज्ञ ही हैं ऐसे स्तवनके रूपमें तत्त्व और आप्तका वर्णन करते हैं । प्रत्येक वस्तु अपने स्वरूपसे है, परस्वरूपसे नही है । इस तत्त्वके यथार्थ श्रद्धानमे कितने चमत्कार बसे हैं कि जो कुछ करने योग्य आचार विचार हैं वे सब इस श्रद्धानके माध्यमसे प्राप्त हो जाते हैं— मैं अपने स्वरूपसे ही हूं, अपने द्रव्यसे, अपने क्षेत्रसे, अपने कालसे और अपने भावसे ही हूं । तब मेरा परसे वास्ता क्या ? परसे मेरा कुछ होता क्या ? अपने आपकी दृष्टि हटाकर पर पदार्थमें दृष्टि लगाना यह तो पतन है, आपत्ति है । हम अपनेको अपने पतनसे बचावें इस वृत्तिसे ही हम करुणामूर्ति ऋषि संतोंके सच्चे उपासक व कृतज्ञ कहला सकेंगे ।

आप्तमीमांसाप्रवचन द्वादश भाग समाप्त


समाप्तश्चायं आप्तमीमांसा-प्रवचनः